MEDIEVAL HISTORY OF INDIA

मध्यकालीन भारत

BY

PARMATMA SARAN, M. A.,

PROFESSOR OF HISTORY,

Benares Hindu University.

BENARES:

NAND KISHORE & BROS.,

Publishers & Booksellers.

1935.

Publisher,
Nand Kishore Bhargava,
Nand Kishore & Bros.,
Benares City.

Printer,
M. R. Kale,
Sri Lakshmi Narayan Press,
Benares City.

भूमिका

—*—

गत वर्ष श्री काशी विश्व विद्यालय के इण्टरमीडियेट में हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा देने का शुभ निश्चय करने से हिन्दी में पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता हुई। प्रस्तुत पुस्तक मुख्यतया इसी आवश्यकता को पूरा करने के लिये लिखी गई है। परन्तु केवल हिन्दी ही में नहीं, अंग्रेज़ी में भी इण्टर के स्टैण्डर्ड की इतिहास की उत्तम पाठ्य पुस्तकों का सर्वथा अभाव है। खेद यह है कि कई आधुनिक भारतीय विद्वानों ने, जिन्होंने इस प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं, प्रारम्भिक पाश्चात्य लेखकों की ही लकीर पीटी है। आवश्यकता यह थी कि वे इतने दिनों की नई खोज और नये विचारों का पूरी तरह प्रयोग करके इतिहास को सच्चा रूप देते। मानव समाज की सतत उन्नति या अवनति, भिन्न भिन्न विचारों की प्रगति, संस्थाओं का उद्गम, विकास तथा नाश, इन सब का अध्ययन तथा अनुशीलन करना तथा यह समझने का यत्न करना कि किन कारणों से एवं किन परिस्थितियों में इस संस्कृति तथा सभ्यता का विकास हुआ है, अर्थात् मानव समाज की प्रगति के मौलिक नियमों का समझना ही इतिहास का अन्तिम ध्येय है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये विगत काल की घटनाओं और इतिहास के रंग-मञ्च के पात्रों के जीवनों इत्यादि का ठीक ठीक अनुशीलन करना आवश्यक है। इतिहास की घटनाएँ एक प्रकार का पाड़ (Scaffolding) हैं, जिनके सहारे उसका सारा भवन खड़ा है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि पाड़ को ही हम भवन न मान बैठें। अतएव सब से पहले घटनाओं का बड़े निष्पक्ष भाव तथा पूरी छान-बीन और परिश्रम से अध्ययन करना इतिहास के अध्ययन की सर्व प्रथम आवश्यकता है। परन्तु साथ ही संश्लेषात्मक रीति से इन घटनाओं के वास्तविक तत्त्व तक पहुँचना भी उतना ही आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना इतिहासाध्ययन निरर्थक सा हो जायगा। इतिहास को इस दृष्टि से देखने से एक और भी बात निकलती है; अर्थात् इतिहास का विषय केवल राजनीतिक घटनाओं अथवा राजनीतिज्ञों तथा विजेताओं का वर्णन ही नहीं है। उसमें सामाजिक जीवन के अन्य अंगों का भी समावेश होना आवश्यक है।

सामान्यतया इतिहास-लेखक किसी बड़े राजा या विजेता के जीवन काल से मरण काल तक अध्यायों का विभाजन करते हैं। लेखक के विचार में इतिहास की प्रगति में किसी बड़े से बड़े मनुष्य का महत्त्व उतनी ही मात्रा में है जितनी मात्रा में उसने अपने कार्यों तथा चरित्र से सभ्यता तथा संस्कृति अथवा समाजिक संस्थाओं पर प्रभाव डाला हो। अतएव हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि संस्थाओं को मुख्य मान कर हम विद्यार्थियों को यह बतलाने का यत्न करें कि अमुक संस्था अथवा साहित्य पर अमुक व्यक्ति का इतना प्रभाव पड़ा है, न कि संस्थाओं को गौण स्थान देकर विद्यार्थियों के मन पर यह प्रभाव डाला जाय कि इतिहास केवल दो चार या अधिक विजेताओं की जीवनियों का अध्ययन है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने इसी उद्देश्य को पूरा करने का प्रयास किया है। इस पुस्तक के विषय में एक दो बातें और उल्लेखनीय हैं। कई विषयों पर लेखक के विचार प्रायः पाठ्य-पुस्तक-कारों से बहुत भिन्न हैं। इन सज्जनों ने पहले पाश्चात्य लेखकों के सैकड़ों वर्ष पुराने सिद्धान्तों की जाँच करने का कष्ट नहीं किया है। दूसरी ओर कतिपय नये विद्वान ऐसे हैं जो अलाउद्दीन खिल्जी के काल में State Socialism और Enlightened Despotism (उन्नतिशील स्वच्छन्द शासन) का स्वप्न देखते हैं।

इस प्रकार के सिद्धान्त उन विद्वानों की आकांक्षा को प्रतिबिम्बित करते हैं, न कि किसी वास्तविक घटना को। तत्कालीन साहित्य तथा अन्य सामग्री का भली भाँति अध्ययन करनेवाला कभी इस प्रकार के परिणाम पर नहीं पहुँच सकता।

इसके अतिरिक्त राजपूतों के पतन, बलबन, नासिरुद्दीन महमूद (दास वंश), इमादुद्दीन रेहान, अलाउद्दीन खिलजी, खुसरू बरवारी इत्यादि के विषय में लेखक के विचार प्रचलित सिद्धान्तों से बहुत भिन्न हैं। इनकी ओर ध्यान आकृष्ट करने का अभिप्राय केवल यह है कि विद्यार्थी इनको ध्यान से पढ़ें और शिक्षक वर्ग इन पर विवेचना करें। पर लेखक का दावा यह नहीं है कि यह नवीन विचार अन्तिम सत्य अथवा अटल हैं।

यह पुस्तक कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण बहुत ही जल्दी में लिखी गई है, विशेष कर इसका उत्तरार्द्ध। अतएव इसमें अनेक त्रुटियाँ होंगी। यदि कोई विद्वान किसी प्रकार की भूल या त्रुटि की ओर ध्यान आकर्षित करेंगे तो लेखक उनका बड़ा कृतज्ञ होगा।

मैं श्री आ. बा. ध्रुव, तथा प्रो. श्रीकृष्ण व्यङ्कटेश पुणताम्बेकर व
अत्यन्त आभारी हूँ जो मुझे अध्ययन कार्य में सदैव प्रोत्साहन तथा अप
सत्परामर्श से सहायता देते रहे हैं। ग्रन्थ की रचना में मुझे श्री रामचन्द्र ज
वर्मा से भी बहुत बड़ी सहायता मिली है, जिसके लिए मैं आपका अत्यन
अनुगृहीत हूँ।

अन्य कई प्रकार से मुझे इस कार्य में श्री सुरेन्द्रदत्त सनवात एम० ए०, तथ
श्री भैरवलाल जावेरिया एम० ए० से भी सहायता मिली है जिसके लिये मैं इ
मित्रों का कृतज्ञ हूँ।

विजय दशमी १९९१.
२११, केम्डन रोड, लण्डन। } परमात्मा शरण

अध्याय-सूची

पहला खण्ड

हर्ष के बाद और इस्लाम की विजय से पूर्व का भारत।

पहला अध्याय

(१) राजनैतिक स्थिति। साम्राज्य के लिये संघर्ष। (६००–१०००)
(२) धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक अवस्था (६००–१२०७)
(३) शासन-प्रबन्ध और आर्थिक अवस्था (६००–१२००)
(४) साहित्य, कला और शिल्प (६००–१२००) १–३०

दूसरा अध्याय

(१) इस्लाम, भारत में प्रवेश करने से पहले
(२) इस्लाम का भारत में शान्तिपूर्वक प्रवेश ३१–३५

तीसरा अध्याय

राज्य-स्थापना का आरम्भ

(१) अरबवालों का प्रयास ३६–४९

चौथा अध्याय

(१) यामिनी वंश का प्रयास ५०–६५

पाँचवाँ अध्याय

१००० से १२०० तक की राजनीतिक स्थिति ६६–७०

छठा अध्याय

मुहम्मद गोरी का प्रयास और उसकी सफलता ७१–८०

दूसरा खण्ड

देहली की पठान सलतनत, उसका उत्थान व पतन

पहला अध्याय

सलतनत की स्थापना और उत्थान; दास वंश। ८१–१००

दूसरा अध्याय

(१) सलतनत का विस्तार; खिल्जी वंश।

(२) सलतनत की चरम सीमा व पतन का आरम्भ; तुग़लक़ वंश। १०१—१४०

तीसरा अध्याय

पठान सलतनत के अन्तिम दिन; पुनरुद्धार का निष्फल प्रयास।

(१) सैयद वंश।

(२) लोदी वंश।

(३) पठानकालीव शासन-प्रणाली १४१—१५२

समकालीन हिन्दू रजवाड़ों की दशा

चौथा अध्याय

सलतनत का विच्छेद; स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना।

(१) उत्तर भारत में—जौनपुर; बंगाल।

(२) मध्य भारत में—मालवा; गुजरात; खान्देश; सिंध।

(३) दक्षिण भारत में—बहमनी राज्य; विजयनगर राज्य १५३-१७२

पाँचवाँ अध्याय

सामाजिक अवस्था तथा संस्कृति १७३-१८२

तीसरा खण्ड

पहला अध्याय

मुगलकालीन भारत १८३-१८७

दूसरा अध्याय

मुगल साम्राज्य की स्थापना १८८-१९६

तीसरा अध्याय

हुमायूँ द्वारा साम्राज्य का पुनरुद्धार १९७-२०७

चौथा अध्याय

जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर

(१) साम्राज्य का संघटन २०८-२२४

पाँचवाँ अध्याय

(२) अकबर का साम्राज्य-संघटन ... २२५–२४३

छठा अध्याय

जहाँगीर (सन् १६०५–१६२७) ... २४४–२६२

सातवाँ अध्याय

शाहजहाँ (सन् १६२८–१६५६) ... २६३–२८८

आठवाँ अध्याय

औरंगजेब (सन् १६५८–१७०७) ... २८९–३१७

नवाँ अध्याय

मराठों का उदय ... ३१८–३३२

दसवाँ अध्याय

सिक्खों का उदय ... ३३३–३३७

ग्यारहवाँ अध्याय

युरोपियनों के साथ भारत का सम्बन्ध ... ३३८–३४९

बारहवाँ अध्याय

मुगल साम्राज्य का पतन ... ३५०–३५७

तेरहवाँ अध्याय

मराठे और अन्तिम मुगल सम्राट् ... ३५८–३७१

परिशिष्ट (क)

मध्यकालीन भारत के महान् पुरुष ... ३७२–३७७

परिशिष्ट (ख)

वंशावलियाँ ... ३७९–४०२

मध्य-कालीन भारत

पहला खण्ड

पहला अध्याय

हर्ष के पीछे और इस्लाम की विजय से पहले का भारत

१

राजनीतिक स्थिति (सन् ६००-१००० ई०)

साम्राज्य के लिये संघर्ष

राजपूत काल की राजनीतिक प्रगति—ईसा की १२ वीं शताब्दी के अन्त में पश्चिमोत्तर देशों से आकर मुसलमान विजेताओं ने उत्तरीय भारत को जीता और उस पर अपना राज्य स्थापित किया। इससे पहले भी भारत पर दो बार मुस्लिम आक्रमण हुए थे। इस देश को हस्तगत करने के प्रयास में तथा अपना प्रभुत्व जमाने के बाद अपनी नैतिक और धार्मिक संस्थाओं के निर्माण में उनका तत्कालीन भारतीय संस्थाओं एवं संस्कृति से संघर्ष होना अनिवार्य था। मुस्लिम साम्राज्य एवं संस्कृति की भारतीय रूप-रेखा को समझने के लिये तत्कालीन भारतीय संस्कृति तथा राजनीतिक अवस्था का दिग्दर्शन परमावश्यक है।

मुसल्मानी आक्रमणों के समय सारा देश कई छोटी बड़ी राजपूत रियासतों में बँटा हुआ था। महाराज हर्षवर्धन के साम्राज्य के बाद जो राजवंश देश में प्रादुर्भूत हुए, वे राजपूत कहलाये। इसी से सन् ६४० से १२०० ई० तक के काल को राजपूत काल कहते हैं। यद्यपि हर्ष के बाद इस युग में कई राज्य उससे भी बड़े एवं प्रतापी हुए, तथापि उस समय कतिपय ऐसी घटनाएँ हुईं जिनके कारण हर्ष के समय का महत्त्व इतना अधिक हो गया कि यह मानना ही पड़ेगा कि उसके बाद से एक ऐसा नया युग प्रारम्भ हुआ जिसके विशेष चिह्न

हम स्पष्ट देख सकते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में हर्ष के काल में हूणों तथा अन्य मध्य एशियाई जातियों के आक्रमण बन्द हो गये। जो हूण इत्यादि बाहर से आये थे, वे भारतीय संस्कृति के अनुयायी बन कर हिन्दू जाति में मिल जुल कर एक हो गये और अपने भेद-भाव भूल गये। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उस समय तक आर्य जाति बड़ी उदारता के साथ अन्य बाहरी जातियों को ग्रहण करके पचा लेती थी; उसमें तब तक वह संकीर्णता उत्पन्न नहीं हुई थी जो राजपूत काल अथवा धार्मिक दृष्टि से पौराणिक काल में उत्पन्न हो गई। राजपूत वंशों का प्रादुर्भाव तथा उत्कर्ष यहीं से प्रारम्भ हुआ। बौद्ध मत की अन्तिम रश्मि हर्ष महाराज के संरक्षण में अपना चमत्कार दिखा कर विलुप्त हो गई। उधर मुसलमानी धर्म्म का प्रसार बहुत प्रबलता से होना शुरू हुआ। पश्चिमी एशिया में मुसलमान धर्म और साम्राज्य का तथा भारतवर्ष में राजपूतों का प्रादुर्भाव, दोनों घटनाएँ लगभग साथ ही साथ हुईं। उसी समय से दोनों का संघर्ष प्रारम्भ हो गया। अरबों का आक्रमण तो राजपूतों ने रोक दिया था। फिर कई शताब्दियों तक उनको मुसलमानों से कुछ काम न पड़ा। बाहरी हमलों से छुट्टी मिली। प्राचीन आर्य सभ्यता एवं साम्राज्य पुनः स्थापित करने की उत्कण्ठा तथा आदर्श से इन राजपूतों के दिल भरे हुए थे। इन्होंने ब्राह्मण गुरुओं की नई बुद्धि के अनुसार धर्म और सभ्यता का खूब रक्षण-पोषण किया और राजनीतिक क्षेत्र में साम्राज्य स्थापित करने के लिये परस्पर संघर्ष प्रारम्भ किया। इस संघर्ष में एक बाहरी जाति भी अखाड़े में कूद पड़ी और राजपूतों को पीछे हटा कर उनसे बाज़ी ले गई—ये लोग मुसलमान थे।

साम्राज्य-स्थापना के इस प्रयास में कभी कभी किसी वंश का अत्यन्त उत्कर्ष हुआ। अन्य राजाओं ने उसका प्रभुत्व और नेतृत्व भी स्वीकार किया, परन्तु यह अवस्था बहुत दिनों तक न रही। शीघ्र ही उसका पतन हुआ और कुछ समय के लिये परस्पर के लड़ाई-झगड़ों की आग भड़की। ऐसे समय में देश की राजनीतिक परिस्थिति अत्यन्त निर्बल हो जाती थी। महमूद ग़ज़नवी के आक्रमणों के समय में ऐसी ही अवस्था थी जिसके कारण राजपूत उसकी लूट-मार से देश की तनिक भी रक्षा न कर सके।

सन् ६४७ से १००० ई० के मध्य में जितने राज्य भारतवर्ष में वर्त्तमान थे, उनको इन तीन समूहों में बाँटा जा सकता है—

(१) हिमालय प्रदेशस्थ राज्य।

(२) उत्तरी मैदान या आर्यावर्त्त के राज्य।

(३) दक्षिण भारत के राज्य।

(१) हिमालय प्रदेश के राज्य

चीन—प्राचीन काल से उत्तरी भारत के राज्यों से चीन का सम्बन्ध चला आता था। ८ वीं शताब्दी में ह्वेनत्सांग नामक एक बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसने अपना प्रभुत्व पश्चिम की तरफ काश्मीर तक स्थापित किया। परन्तु इसी समय अरबवालों ने दक्षिण-पश्चिम से उधर बढ़ना शुरू किया जिसके कारण चीनी राजा को पीछे हटना पड़ा।

तिब्बत—सातवीं और आठवीं शताब्दी में तिब्बत का राज्य बड़ा शक्तिशाली था और चीन तथा भारतवर्ष से उसका गहरा सम्बन्ध था। नैपाल और ल्हासा के मार्ग से भारत और तिब्बत के बीच आवागमन होता था। स्रोंगत्सन गम्पों यहाँ का बड़ा भारी राजा हुआ जिसने सम्भवतः सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में राज्य किया। उसने नैपाल और तिर्हुत तक का देश जीत लिया था। उसकी एक स्त्री बौद्ध थी जिसके प्रभाव से उसने तिब्बत में बौद्ध धर्म्म की स्थापना की। फिर ११ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मगध के कुछ बौद्ध भिक्षुओं ने तिब्बत में लामा मत की नींव डाली।

कामरूप (आसाम)—आसाम प्रदेश का प्राचीन नाम कामरूप था। यद्यपि आर्य सभ्यता और संस्कृति के नाते यह प्रदेश भी भारतवर्ष का ही भाग था, परन्तु उत्तर-पूर्वी पहाड़ियों के बीच में घिरे रहने से बहुत समय तक उसका इस देश से कोई राजनीतिक सम्बन्ध न रहा। प्राचीन काल से वहाँ आर्य धर्म प्रचलित था। पहले-पहल महाराज समुद्रगुप्त ने उसे जीता और वहाँ के राजा से कर वसूल किया। तब भी आन्तरिक स्वतन्त्रता क़ायम रही। छठी शताब्दी के अन्त में भास्कर वर्म्मा वहाँ राज्य करता था। बंगाल में शशांक और कन्नौज में महाराज हर्ष उसके समकालीन थे। शशांक के भय से उसने हर्ष से संधि कर ली। शशांक ने मालवे के राजा से मेल कर लिया। इस प्रकार बंगाल और मालवा एक तरफ़ और कन्नौज तथा कामरूप दूसरी तरफ़, दो प्रतिद्वन्द्वी संघ बन गये। शशांक की मृत्यु के उपरान्त हर्ष ने भास्कर वर्मा के साथ एक अधीनस्थ राजा के समान व्यवहार किया। कुछ काल पीछे भास्कर वर्मा को हटा शालास्तम्भ नामक एक म्लेच्छ राजा बना बैठ। उसके वंश ने लगभग ३०० वर्ष राज्य किया। १३ वीं शताब्दी के आरम्भ से सन् १८१६ तक वहाँ आहोम वंश का राज्य रहा (जिससे 'आसाम' नाम प्रचलित हुआ)। यह लोग उत्तरी बरमा से आये थे और शान फ़िरके के थे। आसाम आने पर उन्होंने अपना मत त्याग कर हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया। आहोम लोगों

का शासन बहुत दृढ़ तथा उत्तम था। १८१६ ई० में आसाम को बरमावालों ने जीत लिया और १८२५ ई० में अंग्रेज़ों ने उस पर अधिकार कर लिया। अब आसामी लोग हिन्दू जनता में मिलकर एक हो गये हैं। उनकी भाषा भी संस्कृत की ही पुत्रियों में से एक है। आसाम में प्रायः तान्त्रिक मत प्रचलित है जो बौद्ध और शैव मतों के सम्मिश्रण से विकसित हुआ है।

काश्मीर—काश्मीर का प्राचीन इतिहास अज्ञात है। ७ वीं शताब्दी में चीनी यात्री युवानच्वांग के पर्यटन के समय कर्कोट वंशीय दुर्लभवर्धन वहाँ राज्य करता था। उसका बेटा प्रतापवर्धन और पोता चन्द्रापीड़ दोनों बड़े प्रतापी और प्रजापालक हुए। चन्द्रापीड़ के भाई तारापीड़ ने उसे मरवा डाला और ४ वर्ष तक बहुत अन्यायपूर्ण शासन किया। उसके बाद उसका छोटा भाई ललितादित्य मुक्तापीड़ राजा हुआ, जो काश्मीर का सबसे महान् और शक्तिशाली राजा हो गया है। उसने लगभग सन् ७२४ से ७५२ ई० तक राज्य किया। उसने समस्त उत्तरी भारत पर आसाम तक चढ़ाई की और दक्षिण में चालुक्य वंश पर भी आक्रमण किया। शायद उसने गुजरात और मालवा भी जीत लिया था और सिंध में अरब लोगों को भी पराजित किया था।

ललितादित्य ने अनेक मन्दिर, धर्म्मशालाएँ और विहार इत्यादि बनवाये थे। काश्मीर का नामी मार्तण्ड मन्दिर उसी ने बनवाया था। उसके बाद कई पीढ़ियों तक कोई राजा इतना योग्य न हुआ जो उसका महत्व बनाये रख सकता। ८ वीं शताब्दी के अन्त में ललितापीड़ बड़ा दुष्ट और निर्दय राजा हुआ। उस समय राज्य में कई दल हो गये थे। अन्त में एक दल के नेता उत्पल का पोता अवन्ति वर्म्मन् सिंहासनारूढ़ हुआ।

उत्पल वंश के अवन्ति वर्म्मा ने सन् ८५५ से ८८३ ई० तक राज्य किया। उसने अपने चतुर मन्त्री सुरा की सहायता से राज्य में विद्या और धन-धान्य तथा कलाओं की बड़ी उन्नति की। सुरा शैव मतानुयायी था और राजा वैष्णव, तो भी दोनों बड़े प्रेम से रहते थे। अवन्ति वर्म्मा ने अवन्तिपुर नामक नगर बसाया और अनेक मन्दिर बनवाये जिनके भग्नावशेष आज तक उसके उत्तम कामों की याद दिलाते हैं। अपने वास्तु विभाग के मन्त्री की सहायता से उसने काश्मीर घाटी में जल-सिंचन की एक बड़ी भारी योजना की जिससे देश बाढ़ों के भय से मुक्त हो गया और अन्य प्रकार से उसे बड़ा लाभ हुआ।

अवन्ति वर्म्मा के बाद उसका बेटा शंकर वर्म्मा राजा हुआ जिसने राज्य की सीमा को विस्तृत किया और झेलम तथा चुनाब नदियों के दोआब के गुर्जर राजा तथा उसके सहायक ललीच शाह को पराजित किया। परन्तु वह ललीच शाह को

न जीत सका और न प्रतिहार (पड़िहार) राजा भोज को ही। उसने प्रजा से बहुत अधिक कर लेना शुरू किया जिसके कारण वह मारा गया। उसके बाद उसका पोता गोपाल वर्म्मा राजा हुआ। उसकी माता सुगन्धा दुराचारिणी थी। गोपाल वर्म्मा ने उसे दुराचरण से रोकना चाहा, पर उसने अपने मित्र प्रभाकर देव से मिल कर अपने पुत्र को मरवा डाला। इसके बाद काश्मीर में कोई सुयोग्य या शक्तिशाली राजा न हुआ। सन् १३३९ में एक मुस्लिम वंश ने काश्मीर पर अधिकार जमा लिया।

नैपाल—नैपाल का प्राचीन इतिहास भी परम्पराबद्ध ही है। दूसरी शताब्दी के आरम्भ में नैपाल को लिच्छवी वंश के राजा ने जीत लिया। इस वंश के लगभग २८ राजाओं ने कोई ४ या ५ सौ वर्ष तक नैपाल पर राज्य किया। गुप्त काल में नैपाल के राजा को समुद्रगुप्त का प्रभुत्व मानना पड़ा था और लिच्छवी वंश की एक स्त्री भी गुप्त सम्राट् को ब्याही थी।

७ वीं शताब्दी में अन्तिम लिच्छवी राजा के मन्त्री अंशु वर्म्मा ने, राजवंश के पारस्परिक झगड़ों के कारण, उसे हटा कर स्वयं सिंहासन पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार एक नये वंश की स्थापना हुई। इसके वंशजों ने ७ वीं शताब्दी तक राज्य किया और फिर नैपाल सन् ८७९ तक तिब्बत के अधीन रहा। जब तिब्बत साम्राज्य की शक्ति नष्ट हुई, तब नैपाल भी स्वतन्त्र हो गया। इस समय से नैपाल में एक नया युग आरम्भ हुआ। धन-धान्य की उन्नति हुई और नये नये नगर इत्यादि बनने लगे। ११ वीं शताब्दी में नैपाल तीन छोटे छोटे राज्यों में बँट गया। सन् १०९८ में तिरहुत के राजा नयनदेव ने नैपाल को जीत लिया, और नैपाल के राजा तिरहुत का प्रभुत्व मानते रहे। इसके थोड़े ही दिन बाद मल्ल वंशीय राजाओं ने उसपर अपना अधिकार जमा लिया। उधर तिरहुत में नयनदेव के वंशज राज्य कर रहे थे। जब सन् १३२४–२५ में गयास उद्दीन तुग़लक ने बंगाल से वापस आते समय तिरहुत पर हमला किया तो वहाँ का राजा हरिसिंह भाग कर नैपाल चला आया और वहाँ उसने अपना राज्य स्थापित किया। कोई सौ वर्ष बाद मल्ल वंशीय यक्ष ने फिर उसे जीत लिया। परन्तु उसके वंशजों के पारस्परिक कलह के कारण सन् १७६८ में राजपूत राजा पृथ्वीनारायण गुर्खा ने वहाँ एक छोटा सा राज्य स्थापित किया और उसका विस्तार किया। इसी के वंशज आज तक नैपाल पर राज्य कर रहे हैं।

(२) उत्तरी समतल देश या आर्यावर्त्त के राज्य

कन्नौज—कन्नौज भारत के अत्यन्त प्राचीन नगरों में से है। महाभारत तक में इसका ज़िक्र आया है। चीनी यात्री फ़ाह्यान अपनी भारत-यात्रा के समय कन्नौज

भी गया था, पर उस समय वह नगर अवनति पर था। परन्तु थोड़े ही समय पीछे मौखरी राजाओं ने और फिर हर्ष ने उसे अपनी राजधानी बना कर बहुत विशाल एवं समुन्नत नगर बना दिया। उस समय वहाँ सैकड़ों मन्दिर और बौद्ध मठ इत्यादि बनाये गये। विद्या, धन-धान्य, कला-कौशल इत्यादि समस्त बातों में वह उत्तरी भारत का सर्वोपरि नगर हो गया।

हर्ष के बाद ८ वीं शताब्दी के शुरू में राजा यशोवर्मन् ने कन्नौज पर राज्य स्थापित किया। यह बड़ा शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी था। इसने एक बार फिर सारे देश को एक शासन में लाने का प्रयत्न किया। सबसे पहले इसने पूर्वीय भारत के राजा जीवितगुप्त द्वितीय को हरा कर बंगाल की खाड़ी तक समस्त देश जीता। फिर वह मरुदेश (राजपूताना), थानेश्वर इत्यादि प्रदेशों को अधिकृत करके हिमालय तक पहुँचा। सन् ७३१ ई० में उसने अपना एक दूतमण्डल चीन के सम्राट् के पास भेजा। हिमालय को पार कर के उसने तिब्बत पर भी हमला किया था। परन्तु उसका समकालीन काश्मीर का राजा ललितादित्य उससे भी शक्तिशाली था। उसने सन् ७४० में यशोवर्मन् पर आक्रमण करके उसे परास्त किया। तथापि यशोवर्म्मन् की कीर्त्ति बहुत अधिक थी, क्योंकि वह केवल विजयी ही नहीं था, बल्कि बड़ा विद्याप्रेमी, साहित्यसेवी और विद्वानों का आश्रयदाता भी था। संस्कृत का प्रसिद्ध कवि भवभूति उसी के दरबार में रहता था। भवभूति का मध्यकालीन कवियों में बहुत ऊँचा स्थान है। कुछ लोग तो उसकी कविता को कालिदास की कविता से भी उत्कृष्ट मानते हैं। भवभूति का 'उत्तरराम चरित' नाटक संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में से है। उसके दरबार में दूसरा प्रसिद्ध कवि वाक्पतिराज था। वह प्राकृत भाषा का बड़ा विद्वान था और उसी भाषा में उसने अत्यन्त उत्कृष्ट कविता की है। उसने अपने 'गौड़वहो' नामक काव्य में यशोवर्म्मन् की बंगाल-विजय का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक विद्वान भी यशोवर्म्मन् के दरबार में आश्रय पाते थे।

यशोवर्मन् के उत्तराधिकारी वैसे योद्धा न हुए और काश्मीर तथा बंगाल के पाल राजाओं ने उनको कई बार परास्त किया।

गुर्जरों का उत्कर्ष—काश्मीर के प्रतापी सम्राट् ललितादित्य के बाद मारवाड़ (गुर्जरात्र) में गुर्जर प्रतिहार वंश ने बड़ी उन्नति की। इन्होंने ७४० ई० के लगभग अपना स्वतन्त्र राज्य क़ायम किया। कुछ विद्वानों का मत है कि गुर्जर लोग बाहर से आनेवाले हूणों की सन्तान हैं। इस मत में जो कुछ सचाई हो, परन्तु ८ वीं शताब्दी में ये लोग भारतीय सभ्यता के रंग में इतने रँग गये थे कि इन्हें विदेशी समझना सुगम नहीं

है। पहला गुर्जर राजा नागभट था। इसकी राजधानी भीनमाल अथवा उसके पास माण्डोर में थी। नागभट के वंशज वत्सराज ने (प्रायः ७७०–८०० ई०) कन्नौज के अन्तिम राजा को ७८३ ई० में हरा कर अपना राज्य वहाँ स्थापित किया और अपनी शक्ति बढ़ाई। उसका पोता, रामभद्र का बेटा मिहिरभोज इस वंश का सब से प्रतापी राजा हुआ। इसने सन् ८४३ से ८९० ई० तक राज्य किया। उस समय गौड़ (बंगाल) के पाल राजाओं की शक्ति कम हो रही थी। भोज ने अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिये इस परिस्थिति से लाभ उठाया और धीरे-धीरे पंजाब से लेकर मगध तक सारा प्रदेश अधिकृत कर लिया। राजपूताना, ग्वालियर और सम्भवतः मालवा (अवन्ति) और सौराष्ट्र भी उसके राज्य में शामिल थे। भोज के उत्तराधिकारियों ने साम्राज्य को और भी विस्तृत किया। साम्राज्य-स्थापना के इस संघर्ष में अपने प्रतिद्वन्द्वी पालों और राष्ट्रकूटों को हराकर उस समय गुर्जर प्रतिहार ही सफल हुए। इनका साम्राज्य हिमालय से नर्बदा तक और सिंध प्रान्त तथा सतलज नदी से यमुना के उत्तर-पूर्वी तट तक और उधर मगध तक फैला हुआ था। लगभग सौ वर्ष क़ायम रहने के बाद १०वीं सदी के आरम्भ में इसका पतन शुरू हुआ।

सन् ९१६ ई० के लगभग राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय ने प्रतिहार सम्राट् महिपाल को परास्त किया, परन्तु अपना राज्य उत्तर में स्थापित न किया। परिणाम यह हुआ कि प्रतिहारों की शक्ति तो नष्ट हो गई और उसके स्थान पर कोई शक्तिशाली राज्य क़ायम न हुआ। इसके बाद जैजक भुक्ति के राजा यशोवर्म्मन् चन्देल ने भी क़नौज पर हमला किया और उसकी शक्ति नष्ट की। फिर तो गुजरात में सोलंकी, अजमेर में चौहान और मालवे में परमार वंशों ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये और गवालियर चन्देलों की अधीनता में चला गया।

सन् १०१९ में जब कि उत्तरी भारत में कोई शक्तिशाली साम्राज्य नहीं रह गया था और प्रतिहार साम्राज्य कई टुकड़ों में बँट चुका था, महमूद ग़ज़नवी ने कन्नौज पर हमला किया। प्रतिहार राजा राज्यपाल ने बड़ी दीनता एवं तिरस्करणीय भीरुता से अपनी रक्षा की और महमूद से संधि कर ली जिस पर क्रुद्ध हो कर चन्देल तथा गवालियर के राजाओं ने उस पर चढ़ाई करके उसे मार डाला।

राज्यपाल के बेटे त्रिलोचनपाल के बाद प्रतिहारों की शक्ति घटती ही गई। अन्त में सन् १०७२ और १०९० ई० के बीच में गहड़वाल राजा चन्द्रदेव ने अन्तिम प्रतिहार को हटा कर गहड़वाल साम्राज्य की स्थापना की और बनारस तक का प्रदेश अधिकृत किया*।

* प्रारम्भ में गहड़वालों की राजधानी क़न्नौज थी अथवा वाराणसी, इस विषय पर देखो

मगध—गुप्त सम्राटों के पतन के उपरान्त मगध में एक वंश की स्थापना हुई थी जिसके प्रायः समस्त राजाओं के नाम भी गुप्तान्त थे; परन्तु यह कहना कठिन है कि ये गुप्त सम्राटों के ही वंशज थे। इस वंश का राज्य लगभग सन् ५००–७०० ई० तक रहा होगा। इन्होंने आसाम के राजाओं आदि को परास्त भी किया, परन्तु ये साधारण शक्तिशाली ही रहे। ई० ८वीं शताब्दी के मध्य में कन्नौज के सम्राट् यशोवर्मन् ने इस वंश के अन्तिम राजा जीवितगुप्त को हरा कर इस वंश का अन्त कर दिया।

बंगाल और पाल वंश—हर्ष के बाद ९वीं सदी के आरम्भ तक बंगाल और उड़ीसा (कलिङ्ग) की स्थिति बहुत अस्त-व्यस्त रही। उस पर कन्नौज तथा मगध के राजाओं का अधिकार चला आता था। परन्तु ८वीं शताब्दी के अन्त में, जब कि गुर्जर प्रतिहार उत्तरी भारत में अपना साम्राज्य जमा रहे थे, पूर्वी भारत में पाल वंश का प्रादुर्भाव हुआ। देश की अव्यवस्था तथा अराजकता से तंग आकर बंगाल के सरदारों तथा जनता ने सन् ७६५ ई० के लगभग एक योग्य पुरुष को अपना राजा चुना जिसका नाम गोपाल था। यह बौद्ध था। इसने बड़ी योग्यता के साथ बंगाल में सुशासन तथा सुव्यवस्था स्थापित की†।

गोपाल के उत्तराधिकारी धर्म्मपाल ने अपने पराक्रम तथा विस्तृत विजयों से साम्राज्य को इतना समुन्नत किया कि उत्तर भारत के साम्राज्य के संघर्ष में सम्मिलित होनेवाले बड़े राज्यों में उसे स्थान प्राप्त हुआ। उसने लगभग समस्त उत्तरी भारत को जीत लिया। उसका राज्य सतलज से बंगाल की खाड़ी तक और हिमालय से विन्ध्याचल तक फैला हुआ था। भागलपुर के पास गंगा के किनारे विक्रम-शिला में उसने एक विहार तथा १०७ मन्दिर और बौद्ध धर्म की शिक्षा के लिये ६ विद्यालय बनवाये। उसने कन्नौज को जीत कर वहाँ एक महासभा की जिसमें अवन्ति और गान्धार आदि दूरस्थ प्रदेशों तक के अनेक अधीनस्थ राजा उपहार लेकर आये थे। पाल राजाओं ने बौद्ध धर्म को पुनः स्थापित करने की बड़ी कोशिश की। भारत में ये बौद्ध-धर्म के अन्तिम पोषक थे।

इसी समय दक्षिण में राष्ट्रकूट वंशी सम्राट् एक बड़ा साम्राज्य क़ायम कर रहे थे। इधर प्रतिहार नागभट द्वितीय ने धर्मपाल द्वारा स्थापित *चक्रयुद्ध को हरा कर प्रतिहार वंश को फिर उठाया। उधर धर्मपाल और चक्रयुद्ध ने राष्ट्रकूट

---

* एच० सी० राय रचित 'डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नॉर्दर्न इण्डिया', पृ० ५०६–७.

† इसने कितने दिन राज्य किया तथा इसके वंशजों ने कितने समय तक राज्य किया, इस विषय में अभी कोई मत स्थिर नहीं हो सकता। देखो डा० हि० पृ० २७६.

राजा गोविन्द तृतीय को साथ मिला कर कन्नौज पर चढ़ाई की। गोविन्द ने समस्त उत्तरी भारत को जीत लिया। परन्तु शीघ्र ही अपने निजी राज्य में झगड़े शुरू हो जाने के कारण वह वापस लौट गया और पालों तथा प्रतिहारों में फिर से संघर्ष शुरू हो गया। धर्मपाल का लड़का देवपाल इस वंश का सब से प्रतापी और बलवान् राजा हुआ। इसने बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक और हिमालय से विंध्याचल तक समस्त उत्तरी भारत को जीत लिया और प्रतिहारों को एक बार फिर कन्नौज से मार भगाया।

ई० ११ वीं सदी के प्रारम्भ में पाल वंश की शक्ति का ह्रास शुरू हुआ। वे तुर्क आक्रमणकारियों से देश को न बचा सके। महिपाल प्रथम ने पाल राज्य की शक्ति फिर से बढ़ाई, परन्तु उसके बाद वे साम्राज्य-स्थापना के संग्राम में सफल न हो सके।

सेन वंश—११ वीं सदी के मध्य में पालों की शक्ति बहुत घट चुकी थी। लगभग १०५० ई० में बंगाल का अधिक भाग, जो पाल राजाओं के अधीन था, सेन वंश के संस्थापक सामन्तसेन ने जीत लिया था। जान पड़ता है कि यह सामन्तसेन ब्राह्मण था, और दक्षिण से चालुक्य राजकुमार विक्रमादित्य की सेना के साथ बंगाल पर हमला करने आया था और अपने राजा की ओर से गंगा नदी के निकटवर्त्ती प्रदेश में नियत हुआ था। सेनवंशी पहले ब्रह्म-क्षत्रिय कहलाते थे। फिर धीरे धीरे ब्रह्म शब्द लुप्त हो गया। वे अपना वंश महाभारत के कौरव योद्धा कर्ण से चला हुआ बतलाते हैं।

सेन वंश के तीसरे राजा विजयसेन ने पाल राजा को पीछे हटा कर बंगाल पर स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। उसका बेटा बल्लालसेन इस वंश का सब से प्रसिद्ध और प्रतापी राजा हुआ। इसने प्रायः ११५९–११८५ ई० तक राज्य किया। इसने मिथिला को जीता और बंगाल के पाल राजा को पीछे हटाया। यह स्वयं बड़ा विद्वान् एवं विद्वानों का पोषक था। इसने एक ग्रन्थ 'दान सागर' लिखा और दूसरा समाप्त न कर पाया जिसे उसके पुत्र लक्ष्मणसेन ने पूरा किया। यह वैष्णव धर्म का अनुयायी था। धर्म-प्रचार के लिये इसने दूर दूर तक प्रचारक भेजे। इसने बंगाल में कुलीन प्रथा जारी की जिसके कारण जातीय बन्धन और भी कड़े हो गये।

इसका पुत्र लक्ष्मणसेन भी अपने पिता के समान ही योग्य और प्रतापी था। उसने अपने पुराने राजनगर गौड़ के पास ही अपने नाम पर एक नया नगर लक्ष्मणावती बनवाया। लक्ष्मणसेन भी अपने पिता के समान बड़ा विद्वान् तथा विद्वानों का पोषक और आश्रयदाता था। उसके दरबार में अनेक विद्वान्

तथा कवि रहते थे जिनमें गीतगोविन्द का प्रसिद्ध रचयिता जयदेव भी था। लक्ष्मणसेन बड़ा योग्य, न्यायकर्त्ता तथा प्रजापालक था।

इस राज्य के विनाश के विषय में जो कथा मुस्लिम लेखकों ने दी है, वह मानने योग्य नहीं है। इस विषय की विवेचना पाँचवें अध्याय में की जायगी।

लक्ष्मणसेन के उत्तराधिकारी १३ वीं सदी के अन्त तक पूर्वी बंगाल में राज्य करते रहे।

पश्चिमोत्तर हिन्दुस्तान—कुशन वंश के ह्रास के बाद का इतिहास अभी अँधेरे में है। उस समय काबुल, ग़ज़नी इत्यादि प्रदेश भी हिन्दुस्तान में शामिल थे। दसवीं सदी के पिछले भाग में काबुल में हिन्दू शाही वंशीय राजा जयपाल राज्य करता था। उसकी पूर्वी राजधानी वमन्द या वैहिन्द (प्राचीन उद्भाण्डपुर, आधुनिक उन्द जो सिन्धु नीद के किनारे अटक के पास है) भी थी। ग़ज़नी में तुर्कों का राज्य क़ायम हो जाने के कारण हिन्दूशाहियों को पंजाब की तरफ हटना पड़ा। यहाँ पर उन्होंने लाहौर और फिर शायद भटिण्डा को अपना केन्द्र बनाया। परन्तु इस समय भी उनका राज्य सतलज से लमग़ान और काबुल तक फैला हुआ था और वे हिन्दुस्तान के सबसे बड़े राय (राजा) समझे जाते थे। कन्नौज के पड़िहारों के ह्रास के कारण उनको अपना वैभव तथा राज्य बढ़ाने का अवसर मिल गया था। इस समय ग़ज़नवी वंश से इनको लड़ना पड़ा जिसमें अन्त को इस वंश का नाश हुआ।

बुन्देलखण्ड का चन्देल वंश—इस युग में उत्तरी मैदान के अन्य भागों में भी छोटे बड़े कई राजपूत राज्य स्थापित हुए। लगभग ९ वीं शताब्दी के शुरू में प्रयाग के दक्षिण-पश्चिम में चन्देल राज्य की स्थापना हुई जिसकी राजधानी खजुराहो नगर में थी जो अब छतरपुर रियासत में है। चन्देलों का उद्गम अभी अँधेरे में है। इस वंश के सबसे प्रसिद्ध राजा धंग के बनारस से प्राप्त लेख में दी हुई वंशावली के अनुसार चन्देलों का प्रारम्भ ९ वीं सदी के आरम्भ तक जाता है *। जान पड़ता है कि उस समय क़न्नौज के वर्मा वंश के पतन के कारण उस प्रान्त का प्रान्ताधीश स्वतन्त्र हो बैठा था, क्योंकि इससे पहले वह सारा प्रदेश कन्नौज के अधीन था। इस राज्य का नाम जैजक भुक्ति या जिझोती था जिससे पता चलता है कि पूर्व काल में यह एक भुक्ति अथवा प्रान्त रहा होगा।

इस वंश का पहला प्रतापी राजा हर्ष का पुत्र यशोवर्मा था जिसने कालिंजर के प्रसिद्ध किले† को कलचुरि राजा से छीन लिया और उत्तर में यमुना नदी तक

---

* ए० ई० खं० १, पृ० १२३–५ † यह किला बाँदा जिले में है।

अपना अधिकार बढ़ाया। हर्ष के पिता राहिल्य ने महोबा को अपनी राजधानी बनाया था। यहाँ उसका बनाया हुआ तालाब राहिल्यसागर और मन्दिर अब तक मौजूद हैं। यशोवर्म्मन् के राज्य का समय अनुमानतः सन् ९३० से ९५० तक था।

यशोवर्मा के बेटे राजा धंग ने शायद सन् ९५०—१००० तक राज्य किया। यह इस वंश का सबसे बड़ा राजा था। इसने अपना राज्य कालिञ्जर से भिलसा (विदिशा) तक और जमना के किनारे से दक्षिण में चेदी तक फैलाया। इसने पंजाब के राजा जयपाल को सुबुक्तगीन के विरुद्ध सहायता दी थी।

धंग के बेटे राजा गंड ने अनंगपाल को अमीर महमूद गजनवी के विरुद्ध १००८ ई० में सहायता दी थी। फिर जब सन् १०१९ में कन्नौज के प्रतिहार राजा राज्यपाल ने महमूद के आक्रमण के समय बड़ी भीरुता दिखाई और उससे संधि कर ली, तब गंड ने राजपूतों का एक संघ बना कर राज्यपाल को दण्ड देने के लिये अपने पुत्र विद्याधर को भेजा। महमूद अपने मित्र को बचाने के लिये आया, पर परास्त होकर लौट गया। परन्तु फिर १०२३ ई० में उसने गंड राजा को हराकर उससे कालिंजर छीन लिया।

चन्देल वास्तु-कला—चन्देल वंश का शेष इतिहास पाँचवें अध्याय में दिया जायगा। परन्तु उनकी कला के बारे में दो शब्द यहीं पर कह देना उचित है। मध्यकालीन भारतीय हिन्दू कला में, विशेषकर वास्तु कला में, चन्देलों का स्थान बहुत ऊँचा है। अन्य राजपूतों की भाँति उन्होंने अनेक तालाब, झीलें और मन्दिर बनवाये थे। इनमें उनकी अनेक झीलें, जिन्हें पहाड़ियों के बीच में बड़े बड़े बाँध बनाकर और पानी को रोक कर तैयार किया गया है, विशेष उल्लेखनीय हैं। परन्तु सबसे अधिक विशाल एवं सुन्दर इनके मन्दिर हैं जो प्रायः इन झीलों के किनारे बने हैं। इन सब में सर्वांगसुन्दर, सुदृढ़ तथा भव्य खजुराहो के मन्दिर हैं जिनकी बराबरी के मन्दिर मिलना कठिन है। इन मन्दिरों को नृपति धंग ने बनवाया था।

चेदी का कलचुरी वंश—९वीं शताब्दी के मध्य में एक और वंश का प्राबल्य हुआ जिसको कलचुरी या हैहय वंश कहा जाता है। पुराणों से ज्ञात होता है कि इस वंश का इतिहास भी बहुत प्राचीन रहा होगा। परन्तु इतना निश्चय है कि ८५० ई० के लगभग इस वंश का राजा कुक्कलदेव नागपुर के पास चेदी में राज्य करता था। कुक्कल ने अपने वंश का वैभव तथा शक्ति बहुत बढ़ाई और राष्ट्रकूट राजा कृष्णराजा, चन्देलवंशीय हर्ष तथा कन्नौज के मिहिर भोज से, जो उसके समकालीन थे, वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। कलचुरी राजाओं ने अपना राज्य यमुना नदी तक फैलाया। इस वंश का सबसे प्रतापशाली

राजा अमर गांगेयदेव हुआ। उसने और उसके पुत्र कर्ण ने अपने वंश का गौरव और अधिकार बहुत विस्तृत किया। इस वंश का विशेष वर्णन पाँचवें अध्याय में होगा।

मालवे का परमार वंश—इस वंश का पहला राजा कृष्णराजा था, जिसने शायद ९ वीं सदी के अन्त में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की और अपने पराक्रम से अपने वंश का वैभव बहुत बढ़ाया। इसकी राजधानी धारा नगरी थी।

इस वंश के तीसरे राजा श्रीहर्ष ने हूण लोगों को हराया। (हूण शब्द यहाँ पर किसी बाहरी जाति के लिये प्रयुक्त हुआ है।) दूसरे उसने मालखेड़ (निजाम राज्य में) के राष्ट्रकूटों की राजधानी को लूटा। श्रीहर्ष का पुत्र सुप्रसिद्ध राजा वाक्पतिराज अथवा मुंज हुआ। यह बड़ा योद्धा और यशस्वी था और साथ ही बड़ा विद्वान और कवि भी था। इसके राज्य में बहुत से विद्वान, कवि इत्यादि आश्रय पाते थे, जिन्होंने संस्कृत में बहुत उत्तम ग्रन्थ लिखे हैं। धनञ्जय ने दशरूपक, हलायुध ने पिङ्गल-सूत्रों की टीका, अमितगति ने सुभाषित रत्नसन्दोह तथा पद्मगुप्त ने 'नवसाहसाङ्कचरित' जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थ उसी के समय में रचे थे। इसने राष्ट्रकूट, चोल, केरल इत्यादि समस्त राजाओं को और चेदी के हैहय राजा युवराजदेव को भी परास्त किया। कहा जाता है कि अन्त में उसने चालुक्य राजा तैलप पर चढ़ाई की और उस युद्ध में वह पकड़ा गया और मारा गया। मुंज ने मुंजसागर आदि अनेक झीलें और घाट इत्यादि बनवाये थे।

राजा भोज—सुप्रसिद्ध राजा भोज मुंज के भाई सिन्धुराज का पुत्र था। वह इतना ज्ञानी, विद्याप्रेमी एवं यशस्वी हुआ कि उसकी कीर्ति सारे देश में फैल गई और उसका नाम भारतवर्ष के घर घर में आज तक याद किया जाता है। यों तो इस वंश के सभी राजा विद्वान और विद्वानों का आदर करनेवाले थे, परन्तु भोज का स्थान उनमें सर्वोपरि है। वस्तुतः भोज संसार के सर्वोच्च महान् व्यक्तियों और सम्राटों में से था।

उसके समय में परमार वंश की कीर्ति, यश एवं प्रभुत्व दिग्दिगन्तर में फैल गया। उसने शायद १०१० से १०५५ ई० तक राज्य किया। उसको अपने चेदी, गुजरात इत्यादि के सीमास्थ राजाओं से युद्ध करने पड़े तथा उसने शायद तुरुष्कों (तुर्कों) को हराया। उस समय महमूद ग़ज़नवी के आक्रमण हो रहे थे और सोमनाथ को लूटने के बाद सम्राट् परमारदेव के भय से महमूद पश्चिम भारत में न गया। भोज का यश इतना विस्तृत था कि अपने समय में वह समस्त भारतवर्ष का सम्राट् माना जाता था। उसका इतना मान केवल उसके प्राबल्य के कारण ही नहीं था, प्रत्युत् उसके अनेक गुणों के कारण था।

भोज का इतना यश वस्तुतः उसकी साहित्य सेवा, विद्यानुराग एवं अत्यन्त सुन्दर तथा उदार शासन के कारण हुआ। उसके पूर्वज मुंज की मृत्यु पर विद्वानों को अत्यन्त दुःख और निराशा हुई थी, क्योंकि वे यह समझते थे कि अब कोई ऐसा विद्यानुरागी न होगा। वे 'गते मुंजे यशःपुंजे निरालम्बा सरस्वती' कहकर विलाप करते थे। परन्तु भोज ने उनकी निराशा को निर्मूल सिद्ध कर दिया। विद्वान लेखक श्री चिन्तामणि वैद्य के शब्दों में भोज का चरित्र एक वास्तविक प्राचीन क्षत्रिय राजा का उदाहरण था। उसने राम और युधिष्ठिर की भाँति शास्त्र और शस्त्र दोनों का ही सुचारु रूप से परिशीलन किया। वह केवल विद्वानों का आश्रय-दाता और आदरकर्ता ही नहीं किन्तु स्वयं भी अद्वितीय विद्वान था। उसने ज्योतिष, अलंकार, वास्तु शास्त्र, योग तथा व्याकरण का विशेष अध्ययन किया था और इन सब विषयों पर बहुत उच्च कोटि के ग्रन्थ रचे थे जो आज तक प्रामाणिक माने जाते हैं। वास्तु शास्त्र पर 'समराङ्गणसूत्रधार' अलंकार शास्त्र पर 'सरस्वती कण्ठाभरण', योग पर 'राजमार्तण्ड', ज्योतिष पर 'राजमृगाङ्ककरण' इत्यादि प्रसिद्ध ग्रन्थ उसने लिखे। मिताक्षरा और प्रायश्चित्त-विवेक आदि के लेखक भोज को हिन्दू लोग दंड-विधान का भी बड़ा विद्वान मानते हैं। इससे मालूम होता है कि शासन-विधान इत्यादि में भी भोज कितनी योग्यता रखता होगा।

संस्कृत साहित्य की वृद्धि एवं शिक्षा के प्रसार के लिये भोज ने जो प्रयत्न किया और जैसी सफलता उसे प्राप्त हुई, उसकी उपमा मध्यकालीन इतिहास में उपलब्ध नहीं है। उसकी अपनी बहुमुखी विद्वत्ता तथा विद्या-प्रचार के कार्यों से उसका नाम भारतवर्ष के इतिहास में सदैव अमर रहेगा।

भोज को यह गौरव प्राप्त था कि उसके राज्य में कोई व्यक्ति अशिक्षित नहीं था। उसने संस्कृत शिक्षा के लिये धारा नगरी में सरस्वती-सदन अथवा भारती-भवन नामक एक महाविद्यालय बनवाया था जिसको तोड़ फोड़ कर मुसलमानों ने 'कमाल मौला' नामक मस्जिद बना डाली। इस महाविद्यालय में भिन्न-भिन्न विषयों के सूत्र शिलाओं पर खुदे हुए थे। वे शिलाएँ मस्जिद के फर्श में लगा दी गई। अब उनके लेख इतने घिस गये हैं कि उनका पढ़ा जाना असम्भव है।

अपने समकालीन महमूद ग़ज़नवी के विपरीत भोज का विद्वानों के प्रति व्यवहार अत्यन्त उदारता का होता था। वह उनको बड़े बड़े पुरस्कार देता तथा अन्य प्रकार से उनको प्रोत्साहन देता था। प्रसिद्ध विद्वान् उव्वट ने वाजसनेय संहिता की टीका उज्जैन में उसी के समय में लिखी थी।

भोज बड़ा कलानुरागी भी था। उसने भोपाल के निकट पहाड़ियों के बीच में बाँध बनवा कर खेतों की सिंचाई करने के उद्देश्य से एक बड़ी भारी झील बनवाई

थी। इस झील का क्षेत्रफल २५० वर्ग मील था और इसका नाम भोजपल या भोजसर था। चित्तौड़ में उसने त्रिभुवननारायण का विशाल शिव-मन्दिर बनवाया और सम्भवतः सोमनाथ का मन्दिर भी उसी का बनवाया हुआ था।

भोज का शासन इतना उत्तम, सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित था कि उसके राज्य में कोई भूखा नहीं रह सकता था। उसके समकालीन लेखकों ने उसको उचित ही 'मालव चक्रवर्त्ती' और 'कविराज' की उपाधि से विभूषित किया है। उसके समस्त गुणों और कार्यों को देखते हुए उसका युग स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य है।

परमारवंशी अन्य राजाओं का वर्णन आगे किया जायगा।

चावड़ा वंश—सारस्वत मण्डल (उत्तरी गुजरात) में इसी समय चावड़ा वंश का राज्य था। इनके इतिहास की सामग्री अत्यन्त न्यून है। श्री चिन्तामणि वैद्य का अनुमान है कि ये भीनमाल के चाप (चापोत्कट) वंश की एक शाखा थी और इसका राज्य कन्नौज के साम्राज्य के अधीन था। इस वंश के संस्थापक बनराज ने ८वीं शताब्दी के मध्य में उत्तर गुजरात में अन्हिलपुर (अन्हिलवाड़ा) पाटन नगर बसाया। इसी समय बापा ने चित्तौड़ की, सामन्तदेव ने साँभर की और नागभट्ट ने मांडोर राज्य की नींव डाली थी। इस वंश में ६ राजा हुए जिन्होंने कोई २०० वर्ष के लगभग राज्य किया। अन्तिम राजा के भांजे मूलराज सोलंकी ने सन् ९६१ ई० में उससे राज्य छीन लिया और अपना राज्य स्थापित किया। इनके विषय में कोई विशेष बात मालूम नहीं है।

साँभर का चौहान वंश—८वीं शताब्दी के मध्य में लगभग उसी समय जब कि मेवाड़ का गुहिलोत वंश तथा चावड़ा वंश इत्यादि स्थापित हुए, साँभर (सायम्भर अथवा शाकम्भरी) प्रदेश में चाहमान या चौहान वंशीय राज्य की स्थापना हुई। उपलब्ध सामग्री के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि इस वंश का संस्थापक अहिच्छत्र * का सामन्तदेव नामक एक सरदार था। सामन्तदेव का समय सम्भवतः लगभग सन् ७५० से ७७८ ई० के बीच का है। उसके बाद इस वंश का ७वाँ राजा गुवक बड़ा प्रतापी हुआ। इसने अनुमानतः ८६८ ई० के लगभग राज्य किया। गुवक शैव था और इस वंश के राजा

* यह अहिच्छत्र प्राचीन उत्तर पांचाल देश की राजधानी थी। इस नगर के विशाल भग्नावशेष बरेली जिले (संयुक्त प्रान्त) में, रामनगर गाँव के निकट अब तक विद्यमान है। प्राचीन काल में शिवालिक पर्वत से उत्तर पांचाल तक का प्रदेश शाकम्भरी कहलाता था। इसी कारण चौहानों ने राजपूताना पहुँच कर अपनी नई राजधानी का नाम शाकम्भरी रखा था।

शैव देवता श्रीहर्ष के पुजारी थे। गुवक के वंश में पाँचवाँ राजा वाक्पतिराज और उसका पोता विग्रहराज बड़े बलशाली हुए। विग्रहराज ने लगभग ९७३ ई० (१०३० वि०) तक राज्य किया। उसका उत्तराधिकारी दुर्लभराज लगभग १००० ई० तक राज्य करता रहा।

जिस समय महमूद ग़ज़नवी ने भारत पर आक्रमण किये, उस समय दुर्लभ के वंशज साँभर में राज्य करते थे। मुसलमान लेखक फ़रिश्ता के मन-गढ़न्त लेख से ऐसा भ्रम फैल गया है कि महमूद ने अजमेर पर भी हमला किया; और उसके विरुद्ध पंजाब के राजा जयपाल की सहायता के लिये जो हिन्दू संघ लड़ा था, उसमें दिल्ली और अजमेर के राजा भी थे। परन्तु यह सर्वथा भ्रम है। उस समय अजमेर और दिल्ली विद्यमान ही नहीं थे और महमूद सोमनाथ की चढ़ाई के समय अजमेर या साँभर होता हुआ ही गया था।

मेवाड़ का गहलोत वंश—मेवाड़ का गहलोत वंश राजपूताने का शिरोमणि माना जाता है। परन्तु अन्यों की भाँति इस वंश का प्राचीन इतिहास भी अंधकार में है। शिलालेखों, जनश्रुतियों और भाटों की ख्यातों इत्यादि में जो कुछ इस वंश की सामग्री है, उसके आधार पर निश्चय रूप से कुछ भी कहना अशक्य है।

उदयपुर के राणा अपने आपको रामचंद्र के वंशधर मानते हैं। परन्तु इस वंश का ई० १०वीं शताब्दी से पहले का इतिहास बिलकुल अनिश्चित है। इस वंश का संस्थापक बापा रावल माना जाता है। बापा ई० ८वीं सदी के पूर्वार्द्ध में नागदा की पहाड़ियों में राज्य करता था। उस समय शायद वह चित्तौड़ के मौर्य राजा का सामन्त रहा हो। बापा एकलिङ्ग शिव का उपासक था, जिसका मन्दिर अब तक उदयपुर राज्य में वर्तमान है। बापा बड़ा योद्धा था। उस समय अरब के मुसलमान साम्राज्य का विस्तार दूर दूर तक फैल रहा था। भारत में उन्होंने सिंध को जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिया था। परन्तु जिस प्रकार स्पेन को जीतने के बाद मुसलमानों को यूरोप में आगे बढ़ने से चार्ल्स मार्टेल ने ७३२ ई० में टूर्स की लड़ाई में हरा कर पीछे हटा दिया था, उसी प्रकार बापा ने मुस्लिम आक्रमणकारियों को सिन्ध से आगे बढ़ने से रोक दिया

परन्तु बापा के वंशधरों का इतिहास १२ वीं शताब्दी के आरम्भ तक अनिश्चित सा ही है। महमूद ग़ज़नवी से चित्तौड़ वंशीय राजाओं की कभी मुठभेड़ नहीं हुई। मुहम्मद गोरी के समय में मेवाड़ में सामन्तसिंह राज्य करता था।

(३) दक्षिण भारत के राज्य

राष्ट्रकूट वंश—प्राचीन आंध्र वंश के विनाश के बाद दक्षिण का क्रमबद्ध इतिहास वातापी (बादामी) के चालुक्य राज्य की स्थापना से शुरू हुआ। कोई दो सौ वर्षों तक बहुत शान से राज्य करने के बाद इनका पतन हो गया और इनके स्थान पर राष्ट्रकूट वंश प्रतिष्ठापित हुआ। इस वंश का पहला प्रतापी राजा दन्तिदुर्ग था। इसने वातापी को जीत कर और भी कई स्थान हस्तगत किये थे। इसके उत्तराधिकारी कृष्ण प्रथम ने लगभग सारा दक्षिण अपने अधीन कर लिया। इलोरा की गुफाओं के कैलास मन्दिर का निर्माण कृष्ण के समय में हुआ था। इसके वंशधरों ने ९ वीं सदी के शुरू तक अपना साम्राज्य गुजरात (लाट), विन्ध्यापर्वत और मालवा से लेकर दक्षिण में काञ्ची तक बढ़ाया था।

अमोघवर्ष (८१४-८७५ ई० तक) और इन्द्र तृतीय (९१४) के समय में राष्ट्रकूट साम्राज्य का आतङ्क कन्या कुमारी से कन्नौज तक फैला। इस काल में कई अरबी मुसलमान लेखक भारतवर्ष में आये थे, उनके लेखों से पता चलता है कि राष्ट्र कूटों का साम्राज्य सर्वोपरि था। इन्द्र तृतीय के बाद राष्ट्रकूटों का ह्रास होना शुरु हो गया और सन् ९७४ ई० में अन्तिम राष्ट्रकूट कक्क से चालुक्य राजा तैलप ने अपने पूर्वजों का खोया हुआ राज्य फिर से छीन लिया और दूसरे (कल्याणी के) चालुक्य युग की स्थापना की।

राष्ट्रकूट राजा कला एवं विद्या की उन्नति करने में किसी से कम न थे। इनके आश्रय में जैन साहित्य की विशेष उन्नति हुई। इस समय में इलोरा के जो गुफामन्दिर बने, वे संसार भर में वास्तु कला का एक अनुपम नमूना हैं। उनमें चित्र कला भी उतनी ही उत्तम और आश्चर्यजनक है।

सुदूर दक्षिण के राज्य—मध्य काल में मद्रास के कोई १०० मील उत्तर से कन्या कुमारी तक तीन राज्य स्थापित थे—पाण्डय, चोल, और केरल (चेर)। इनमें सब से ऊपर 'चोल' था जो कारोमण्डल (चोलमण्डल) तट पर नैलोर पुडूकोटई तक, और वहाँ पांड्य राज की सीमा से मिलकर पश्चिम में कुर्ग तक पहुँचता था। चोल राज्य का मुख्य नगर तञ्जोर था। चोल राज्य के दक्षिण में पाँड्य राज्य पुडूकोटई से कन्या कुमारी तक फैला हुआ था और केरल राज्य पश्चिम की ओर मलाबार तट पर चन्द्रगिरि नदी के दक्षिण में था इसमें कुर्ग का मुख्य भाग सम्मिलित था।

पल्लवों के उत्थान के कारण चोल राज्य का महत्व ४ थी शताब्दी से ९ वीं तक कम रहा। फिर १० वीं शताब्दी के आरम्भ में चोल वंश ने उन्नति की।

चोल वंशीय राजा शैव थे, परन्तु वे अन्य धर्मों पर अत्याचार नहीं करते थे। चोल वंश का प्रभुत्व ई० १२वीं शताब्दी तक रहा और उन्होंने पांड्य राज्य को दबाये रखा। परन्तु १३ वीं शताब्दी में पांड्य वंश फिर प्रबल हो गया। मुस्लिम आक्रमणों के समय सुदूर दक्षिण में पांड्य वंश का ही राज्य था।

२

धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक अवस्था (सन् ६००-१२०० ई०)

धार्मिक अवस्था—७ वीं सदी में बौद्ध धर्म्म का अन्तिम दीपक टिमटिमा रहा था। शैव और वैष्णव धर्म्मों का प्राबल्य होता जा रहा था और बौद्ध धर्म्म का अस्तित्व भी इन्हीं धर्म्मों के अथाह समुद्र में लीन होता जा रहा था। भगवान् बुद्ध भी एक अवतार हो गये थे और अन्य हिन्दू देवताओं के समान पूजे जाते थे। इस प्रकार हिन्दू और बौद्ध मतों में कोई भेद न रह गया था। भारतवर्ष में धार्मिक सहिष्णुता सदैव से रही है और इस समय भी थी। बौद्ध मत ने केवल बुद्ध ही नहीं, बल्कि बोधिसत्त्व इत्यादि कई अन्य देवता भी पूजा के लिये हिन्दू मत को प्रदान किये थे। इस समय जनता में देवालय, मन्दिर, मठ, धर्मशाला इत्यादि बनवाने और उनको खूब दान देने की विशेष प्रवृत्ति थी। वे लोग विष्णु, शिव, देवी, गणेश और सूर्य आदि के मन्दिर बनवाते थे। इसी काल से सहस्रों मन्दिर और देवस्थान देश में बनने शुरू हुए। राजा, सरदार, धनी एवं दरिद्र सभी इनको दान देना परम धर्म समझते थे। परिणाम यह हुआ कि मध्य-कालीन यूरोप की भाँति ये मन्दिर और मठ भी अगणित सम्पत्ति के आगार बन गये और इनके पुजारी और मठाधीश बहुत विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे। इनके सहस्रों वंशज आजतक विद्यमान हैं जिनकी अवस्था किसी से छिपी नहीं है।

ब्राह्मण, जैन और बौद्ध, ये तीन धर्म सन् ६०० से १००० ई० तक के काल में प्रचलित थे। इनमें से बौद्ध धर्म तो मृतप्राय हो चुका था और जैन धर्म बहुत परिमित क्षेत्र में रह गया था। तो भी राजपूताने, दक्षिण और गुजरात में जैन धर्म्म का बहुत प्राबल्य था और कई राजा भी जैन थे। ब्राह्मण धर्म में भागवत या वैष्णव मत और शैव मत दोनों का यथेष्ट प्रचार था।

सन् १००० से १२०० ई० तक जैन धर्म ने राजपूताने में बहुत ज़ोर पकड़ा और वहाँ की अधिकतर जनता जैन धर्मानुयायी हो गई। यद्यपि राजा लोग प्रायः शैव थे, तथापि वे किसी अन्य मतवाले के साथ अन्याय नहीं करते थे।

उत्तर भारत में उस समय वैष्णव धर्म ने एक नया रूप धारण किया।

यहाँ राधा-कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर उनकी पूजा शुरू हुई। लक्ष्मण सेन के राजकवि जयदेव ने अपने गीत-गोविन्द (१२ वीं सदी) में राधा-कृष्ण के प्रेम की कहानी अत्यन्त मधुर शब्दों में गाई। इसके बाद वैष्णव धर्म बंगाल में श्री चैतन्यदेव के प्रयत्न से और पश्चिमोत्तर तथा मध्य भारत में रामानन्द इत्यादि अन्य महात्माओं के प्रयत्न से बहुत फैला। इस वैष्णव धर्म में अहिंसा के सिद्धान्त पर प्रायः उतना ही ज़ोर दिया गया था जितना जैन धर्म में। दक्षिण में भी इसका प्रचार हुआ, परन्तु राधाकृष्ण-वाले पन्थ के रूप में नहीं। इसका मुख्य श्रेय श्री रामानुजाचार्य को है। उन्होंने वेदों, ब्राह्मणों और वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार किया और शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन किया। वैष्णव धर्म तो तामिल और आन्ध्र देश में फैल रहा था और शैव मत इसी समय कर्नाटक और पश्चिमी तट की ओर एक नये और प्रबल रूप में उठ रहा था। शैव मत के इस नये रूप को लिंगायत या वीरशैव धर्म कहते हैं। इसका प्रवर्त्तक वासव नामक एक ब्राह्मण था। इस धर्म का मूल सिद्धान्त अहिंसा था, पर वह वर्णाश्रम धर्म, ब्राह्मणों की उच्चता और जात-पाँत का विरोधी था और कहता था कि प्रत्येक मनुष्य सत्कर्मों से परम गति प्राप्त कर सकता है। वासव ने तो तप और संन्यास का भी खण्डन किया था और केवल कर्मण्यता तथा प्रयत्न पर जोर दिया था। उसने ब्राह्मणों के आधिपत्य की जड़ पर हर प्रकार से कुठाराघात किया था।

इस्लाम धर्म—सुबुक्तगीन और महमूद ग़ज़नवी ने जिन जिन देशों को जीता, उन्हें बलात् मुसलमान बनाने का भी प्रयत्न किया। १० वीं सदी से पहले अफ़ग़ानिस्तान और बलोचिस्तान इत्यादि के निवासी हिन्दू थे। पश्चिमोत्तर पहाड़ी प्रदेश की जातियाँ भी बौद्ध और हिन्दू थीं। सुबुक्तगीन और महमूद के प्रयास से ये समस्त प्रदेश मुसलमान हो गये; और आज कल तो वे यह भी भूल गये हैं कि हम केवल ९०० वर्ष पूर्व हिन्दू थे। फिर पंजाब में भी बहुत से लोगों को मुसलमान बनाया गया।

सामाजिक अवस्था—७वीं शताब्दी तक भारत में प्राचीन काल की भाँति मुख्यतया चार वर्ण थे। अभी तक इन वर्णों में छोटी उप-जातियों के भेद उत्पन्न नहीं हुए थे। उनमें परस्पर विवाह तथा खान-पान के सम्बन्ध हुआ करते थे। ब्राह्मण मुख्यतया अध्ययन और अध्यापन का कार्य करते और समाज के नेता समझे जाते थे। वे राजाओं के मन्त्री होते थे। परन्तु सन् ७०० से १००० ई० के बीच में वे अन्य पेशे भी करने लगे और पाराशर स्मृति आदि में सब वर्णों को अन्य कार्य करने की आज्ञा भी दे दी गई। इसी प्रकार क्षत्रियों

में भी परिवर्त्तन हुआ। जो मनुष्य राजा बन जाता, फिर चाहे वह किसी वर्ण का रहा हो, उसे सब क्षत्रिय मानने लगते थे और ब्राह्मण तथा भाट लोग प्राचीन सूर्य अथवा चन्द्रवंश से उसका नाता जोड़ देते थे। बौद्ध और जैन मत के अनुसार खेती-बारी करना पाप समझा जाता था, क्योंकि इसमें अनेक जीवों की हिंसा होती थी। इससे प्रभावित होकर वैश्यों ने खेती-बारी छोड़ दी; और जो लोग खेती-बारी करते थे, वे शूद्रों के समान समझे जाने लगे। सेवा करनेवाले वर्ग का नाम शूद्र था। तब तक ये लोग अछूत नहीं थे और इनको भी पंच-यज्ञों का अधिकार था। धीरे-धीरे इनके काम भी बढ़ते गये, क्योंकि जैसा ऊपर बतला आये हैं, वैश्य आदि अन्य वर्णों ने अपने बहुत से काम छोड़ दिये थे और राजपूत काल में दस्तकारी के काम तिरस्कार की दृष्टि से देखे जाने लगे थे। इस प्रकार का भाव प्रत्येक समाज में, जहाँ जागीरदारी की प्रथा (Feudal Society) होती है, पाया जाता है। इस प्रकार इन चारों वर्णों के सिवा कई ऐसी जातियाँ भी बन गईं जो पीछे से अन्त्यज कहलाईं। ये लोग पेशेवर थे और निम्नलिखित आठ श्रेणियों में विभक्त थे—धोबी, चमार, मदारी, टोकरी और ढाल बनानेवाले, मल्लाह, धीवर, जुलाहे और चिड़ीमार। ये लोग पहले अन्त्यज नहीं समझे जाते थे। केवल चांडाल और मृतप (कफ़न लेनेवाले) अन्त्यज समझे जाते थे।

छूत-छात की कुरीति भी ११ वीं शताब्दी तक शुरू नहीं हुई थी, जैसा कि अलबेरूनी के कथन से सिद्ध होता है। इसके उपरान्त छूत-छात भी बढ़ती गई। सती की प्रथा तो, जान पड़ता है, बहुत पहले से शुरू हो गई थी। हर्ष की माता अपने पति के साथ सती हुई थी। परन्तु उस समय किसी को बलात् सती नहीं किया जाता था। परदे की प्रथा का आरम्भ कब से और क्यों हुआ, यह कहना कठिन है। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि राजपूत काल में जो पार्थक्य प्रथा आरम्भ हुई थी, उसका एक परिणाम परदा भी था। कुलीन वंश के लोग अपनी स्त्रियों को किसी के सामने नहीं आने देते थे और इसमें अपनी मानहानि समझते थे। फिर भी यह निश्चित है कि इस प्रथा का अत्यन्त विस्तार तथा वृद्धि मुस्लिम विजय के बाद हुई। बाल-विवाह तथा विधवाओं के पुनर्विवाह का वर्जन कोई १० वीं सदी से शुरू हुआ। बाल-विवाह का कारण श्री चि० वि० वैद्य के मतानुसार यह था कि बौद्ध मत में क्वाँरी स्त्रियाँ संन्यासिनी हो जाती थीं। उनको इससे रोकने के लिये उनका विवाह बचपन में ही करना आरम्भ कर दिया गया। इसी के साथ बहु-विवाह की प्रथा भी आरम्भ हुई।

स्त्रियों की अवस्था—उपर्युक्त अनेक कुप्रथाएँ होते हुए भी सन् ६००

से १२०० ई० तक के काल में स्त्रियों की अवस्था सामान्यतया अच्छी थी। उनका बहुत आदर होता था। उनको उच्चतम शिक्षा दी जाती थी जिसके अनेक उदाहरण उस समय के इतिहास में मिलते हैं। शंकराचार्य के साथ शास्त्रार्थ करनेवाली मण्डन मिश्र की पत्नी प्रकाण्ड विदुषी थी। कवि राजशेखर की पत्नी अवन्ति-सुन्दरी, भास्कराचार्य की पुत्री लीलावती, हर्ष की बहन राज्यश्री आदि बहुत विदुषी स्त्रियाँ थीं। हर्ष-रचित रत्नावली नाटिका से पता चलता है कि रानियाँ चित्र कला, गायन, वादन, नृत्य इत्यादि बहुत अच्छी तरह जानती थीं और इन कलाओं की शिक्षा दूसरों को देती थीं। स्त्रियों को देवी का स्वरूप माना जाता था। स्मृतियों में स्त्रियों को पिता, गुरु तथा ब्राह्मण से भी कहीं अधिक आदर और मान के योग्य बतलाया गया है। राजपूतों में अब तक स्त्री जाति की रक्षा करना सर्वोच्च धर्म माना जाता है। पर आगे चलकर यह अवस्था न रही और स्त्री-शिक्षा बन्द हो जाने और परदे तथा बाल और बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित हो जाने से स्त्रियों की दशा बहुत शोचनीय हो गई।

भारतीयों का भौतिक जीवन—इस काल में भौतिक जीवन में भारतीय जनता यथेष्ट उन्नत थी। कला-कौशल, गायन-वादन, खेल-तमाशे, मेले-त्यौहार इत्यादि को सुन्दर, मनोहर तथा आनन्दमय बनाने के अनेक उपाय किये जाते थे। हिन्दू त्यौहारों और मेलों का बहुत महत्त्व था। मेलों में यात्रा, देव-पूजा, प्रदर्शिनी इत्यादि का एक ही में समावेश होता था। इन्हीं में बड़े-बड़े महात्माओं द्वारा जनता को उपदेश भी मिलते थे, और साथ ही खेल-तमाशे, नाटक इत्यादि से उनका मनोरञ्जन भी होता था। इसी प्रकार त्यौहारों में कई बातों का समावेश होता था। इन अवसरों पर चित्र और नाटक इत्यादि दिखलाये जाते थे। बड़े-बड़े भोज होते थे। पशु-पक्षियों की लड़ाई, कुश्ती, जल-विहार, नावों की दौड़, तैराकी, वर्षा ऋतु में झूले, वसन्त में रंग, पिचकारी इत्यादि मनोविनोद के बहुत से कार्य होते थे जिनमें स्त्री-पुरुष सभी सम्मिलित होते थे। घरों में लोग शतरंज, चौपड़ इत्यादि खेल खेलते थे। जूए का भी काफ़ी प्रचार था; परन्तु उस पर राज्य का नियन्त्रण रहता था और कर लगाया जाता था।

वस्त्र ऋतुओं के अनुसार पहने जाते थे। प्राचीन ग्रन्थों से पता चलता है कि कपड़ा, रेशम, ऊन तथा चमड़ा सीने के साधन बहुत पहले से वर्त्तमान थे। अजन्ता के चित्रों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि स्त्रियाँ एक प्रकार की अँगिया पहनती थीं और उसके ऊपर से साड़ी पहनती थीं। इन कपड़ों के अतिरिक्त लहँगे आदि का भी रवाज था। उत्तरी भारत में पुरुष कुछ सिला हुआ कपड़ा भी पहनते थे, परन्तु दक्षिण में सामान्यतया केवल दो धोतियों से काम चलाते

थे। धनाढ्य लोग बड़े-बड़े कीमती कपड़े पहनते थे। विवाह इत्यादि के अवसरों पर स्त्रियों को अत्यन्त सुन्दर कपड़े तथा आभूषण पहनाये जाते थे। आभूषण अनेक प्रकार के तथा रत्न-जटित होते थे। शृंगार के लिये स्त्रियाँ केश-विन्यास करती थीं और कई प्रकार के तेल, इत्र इत्यादि का प्रयोग होता था। फूल-मालाओं और गजरों का भी बहुत रवाज था।

विद्वान् तथा उच्च शिक्षित लोग अपना मनोविनोद साहित्य-चर्चा द्वारा करते थे। राजा लोग अपने दरबार में विद्वानों को भी रखना और उनका हर प्रकार से आदर-सम्मान करना अपना कर्त्तव्य समझते थे और स्वयं भी बड़े ज्ञानवान तथा विद्याव्यसनी होते थे। मालवे के राजा भोज का नाम उसके विद्या-प्रेम के कारण ही आज तक प्रसिद्ध है। उस समय और भी ऐसे बहुत से राजा हुए थे।

भोजन इत्यादि में सफाई का बहुत खयाल रखा जाता था। उच्छिष्ट भोजन किसी को नहीं खिलाया जाता था। खाने के लिये सोने, चाँदी, ताँबे आदि के पात्रों का प्रयोग होता था। भोजन प्रायः गेहूँ, चावल इत्यादि अनाज, फल, सब्जी, घी, शक्कर, मक्खन इत्यादि का होता था और सामान्यतया लोग शाकाहारी होते थे। कुछ प्रान्तों में मछली आदि भी खाई जाती थी। मुसलिम-विजय के बाद से राजपूतों में मांस खाने का अधिक प्रचार हुआ; परन्तु अन्य उच्च जातियों में उतना प्रचार नहीं था। उत्तर में ब्राह्मण भी मांस खाने लगे थे। दक्षिण में मांस का प्रचार बहुत कम था। मद्य-पान आदि वर्जित था, परन्तु धीरे धीरे राजाओं तथा सरदारों में एवं राज-दरबार से सम्बन्ध रखनेवाले कर्म्मचारियों में मद्यपान का प्रचार अधिक बढ़ा।

व्यक्तिगत और सामाजिक चरित्र में भारतवासी सदैव से बहुत पवित्र तथा उज्ज्वल रहे हैं। मेगस्थनीज़ से लेकर सभी विदेशी यात्रियों ने भारतवासियों की सरलता, सचाई, ईमानदारी आदि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। राजपूत लोग तो सच्चाई और ईमानदारी के नाम पर जान देते थे। उनकी पराजय का एक कारण यह भी था। सामान्यतया भारतवासी बहुत न्याय-परायण, निष्कपट, स्वामि-भक्त तथा निर्भीक होते थे। वे अतिथि-सेवा और सत्कार के लिये प्रसिद्ध थे। धर्म का प्रभाव उन पर बहुत गहरा था। परन्तु इस काल में उनका धर्म प्रायः ब्राह्मणों के हाथ में था। रूढ़ि वाद की प्रधानता और स्वतन्त्र विचार का अभाव इसी समय से प्रारम्भ हुआ। परिणाम यह हुआ कि देवी-देवता, मन्दिर-मूर्ति इत्यादि की पूजा तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक अन्धविश्वासों को धर्म का मुख्य अंग मान लिया गया। सामाजिक और वैयक्तिक दोनों प्रकार के जीवन में निर्जीव विधि-विधानों तथा परिपाटियों को धर्म समझा

जाने लगा। आधुनिक हिन्दू समाज के जीवन में जो अन्ध विश्वास तथा कुरीतियाँ प्रचलित हैं, वे सब इसी समय से आरम्भ हुई हैं।

३

शासन-प्रबन्ध और आर्थिक अवस्था (सन् ६००–१२०० ई०)

सातवीं शताब्दी के बाद देश में किस प्रकार और कितने राजपूत राज्य स्थापित हुए, इसका संक्षिप्त विवरण हम इस अध्याय के आरम्भ में दे चुके हैं। इन राज्यों में प्राचीन राजनीतिक सिद्धान्तों एवं शासन पद्धति के अनुकरण का प्रयत्न किया जाता था। इस समय के सभी राज्य एक-तन्त्री थे। तथापि राजा सर्वेसर्वा नहीं होता था; उसकी शक्ति राजधर्म से परिमित रहती थी। राजा की मन्त्री-परिषद् होती थी जिसके हाथ में वस्तुतः राज्य की प्रायः सारी शक्ति रहती थी। इस मन्त्री-परिषद् के सदस्य राज्य के सर्वोत्तम विद्वान्, बुद्धिमान् और गुणज्ञ बनाये जाते थे। ये लोग धर्म के सिवा किसी सांसारिक शक्ति से नहीं डरते थे और राजा को निस्संकोच होकर ठीक-ठीक सलाह देते थे तथा उसे कोई ऐसा काम नहीं करने देते थे जिससे प्रजा का अहित होता। मन्त्री-परिषद् के अतिरिक्त प्राचीन काल की भाँति शायद इस समय भी ऐसे संन्यासी महात्मा-गण राज्य में रहते थे जो आवश्यकता पड़ने पर राजा को धर्म तथा न्याय से विचलित होने से बचाते और उसका पथ-प्रदर्शन करते थे। इस प्रकार राजा प्रजा-हितैषी होता था, प्रजाघातक नहीं। वह प्रजा के सब प्रकार के कृत्यों आदि का उत्तरदायित्व अपने ऊपर समझता था। वह केवल आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों की ओर ही नहीं, किन्तु प्रजा की सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी अवस्था पर भी लक्ष्य रखता था।

शासन के सिद्धान्त तथा राज्य के मूलभूत नियम स्मृतियों में वर्णित थे जिन पर देशकालानुसार टीका-टिप्पणी, संशोधन और परिवर्धन आदि विद्वान् लोग करते रहते थे। इन सिद्धान्तों के अनुसार ही राजा लोग शासन करते थे।

इस समय साम्राज्य का आदर्श केवल यही समझा जाता था कि भिन्न भिन्न शासक लोग किसी अत्यन्त शक्तिशाली राजा का प्रभुत्व स्वीकार कर लें। इतने ही से वह सन्तुष्ट हो जाता था। राजा तथा सामन्तगण उसके सार्वदेशिक यज्ञों में सम्मिलित होते और भेंट इत्यादि से उसका आदर-सत्कार करते थे। इसके अतिरिक्त वे हर प्रकार से अपने राज्य में स्वतन्त्र रहते थे। सम्राट् उनके शासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करता था। यदि कोई शक्तिशाली राजा न होता था तो कोई चक्रवर्ती भी न होता था।

राष्ट्रीय एकता का विचार भारत में अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। परन्तु उस समय जातीय एकता के लिये एक साम्राज्य का होना अनिवार्य नहीं समझा जाता था। एक जाति और एक राज्य का सिद्धान्त आधुनिक काल की उपज है। उस समय जातीय एकता के लिये समान धर्म, समान संस्कृति, समान सभ्यता एवं समान उद्देश्य बिना एक साम्राज्य के भी सम्भव थे; क्योंकि देश में चाहे जितने राजा होते, राजनीतिक धर्म के मूल सिद्धान्तों का पालन करना उन सब का कर्तव्य होता था और प्रजा के हित-अहित तथा उन्नति के सामान्य आदर्शों में सभी लोग एक प्रकार से सहायक होते थे। इस कारण जातीय ऐक्य के लिये राज्य की एकता की आवश्यकता न थी। ऐसी ही दशा राजपूत काल के पूर्वार्ध में थी। परन्तु जब आधुनिक काल में एक-जाति और एक-राज्य का सिद्धान्त सर्वमान्य होता गया, तब उसे राजपूत लोग न समझ सके और उन्होंने अन्य बातों की तरह उस सिद्धान्त में भी कोई परिवर्तन न किया और पुराने ही विचारों पर डटे रहे। इसी कारण वे उन्नति की दौड़ में पिछड़ गये और विदेशियों के हाथों अपमानित हुए तथा देश और जाति की स्वतन्त्रता खो बैठे।

शासन-प्रबन्ध—राज्य प्रायः भुक्ति (प्रान्त), विषय (जिला) और ग्रामों में विभक्त होता था। प्रान्ताधिकारी के बहुत से नाम शिलालेखों में मिलते हैं। वह विषयपति (जिले का स्वामी) को नियुक्त करता था। सब कर्मचारियों के अलग-अलग दफ़्तर होते थे। प्रान्तीय शासकों के पास राजा की लिखित आज्ञाएँ जातीं थीं जिन पर राजमुद्रा की छाप लगी होती थी। प्रान्तों में भिन्न-भिन्न विभाग भिन्न कर्मचारियों के अधिकार में होते थे जिनमें से कुछ के नाम यहाँ दिये जाते हैं—ग्रामिक (ग्राम का मुखिया), शौल्किक (शुल्क लेनेवाला), गौल्मिक (किले का अध्यक्ष), ध्रुवाधिकरण (भूमि कर लेनेवाला), भाण्डागाराधिकृत (कोषाध्यक्ष), इत्यादि। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से कर्मचारी होते थे।

ग्राम-संस्था—शासन का मुख्य विभाग ग्राम-संस्था थी जो प्राचीन काल से भारत में प्रचलित थी। ग्राम का प्रबन्ध वहीं की पंचायत द्वारा होता था। ग्राम-संस्था मानों एक छोटा सा प्रजातन्त्र था जिसमें प्रजा का अपने शासन में पूरा अधिकार होता था।

इन्हीं ग्राम-संस्थाओं के द्वारा केन्द्रीय सरकार से सम्बन्ध होता था। हम ऊपर दक्षिण के चोल राज्य तथा मालवे के परमार राज्य आदि के वर्णन में बतला आये हैं कि उनका प्रबन्ध कैसा अच्छा था। ग्राम-सभाओं के दो कार्य

होते थे—विचार करना और शासन करना। सम्पूर्ण सभा के सभ्य कई समितियों में विभक्त कर दिये जाते थे; जैसे कृषि और उद्यान, सिंचाई, व्यापार, मन्दिर आदि के लिये। ग्राम-सभाएँ सार्वजनिक वास्तु अर्थात् नहरों, तालाबों और कूओं की मरम्मत समय-समय पर कराती थीं तथा ग्राम की रक्षा इत्यादि का भी प्रबंध करती थीं। शहरों में नगर-सभाएँ नगरों का प्रबन्ध करने के लिये होती थीं।

न्याय और दण्ड—न्याय का सर्वोच्चाधिकारी राजा होता था। वह प्रायः अपनी मन्त्री-परिषद् की सलाह से न्याय करता था। राजा के अतिरिक्त न्याय विभाग के लिये एक विशेष अधिकारी रहता था जिसके नीचे प्रान्तों और विषयों में अन्य अधिकारी होते थे। दण्ड-विधान बहुत कठोर थे और इस सिद्धान्त पर बने थे कि दण्ड की कठोरता से भयभीत होकर लोग पाप न करें। चोरी, जारी इत्यादि के लिये अंगच्छेद, निर्वासन, जुर्माना, कारागार आदि दण्ड दिये जाते थे। अभियोगों में लिखित और मौखिक साक्षी ली जाती थी। कहीं-कहीं दिव्य साक्षी (Ordeal) की क्रूर प्रथा भी प्रचलित थी।

राजनियमों में स्त्रियों की स्थिति भी वर्णित थी। माता-पिता की दी हुई सम्पत्ति में उनका पूरा अधिकार रहता था और पुत्र के न होने पर पुत्री ही पिता के धन की अधिकारिणी होती थी।

आय-व्यय—सबसे अधिक आय भूमिकर से होती थी जो उपज का $\frac{1}{6}$ होता था। इसके अतिरिक्त देशी माल पर चुंगी तथा बाहर से आनेवाले माल पर बन्दरगाहों पर आयात-कर (Customs or Import Duties) लगाये जाते थे। इनके अतिरिक्त और भी कई छोटे-छोटे कर होते थे। राजकीय आय चार भागों में व्यय की जाती थी। एक भाग राष्ट्रीय कार्यों के लिये, दूसरा सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के लिये, तीसरा शिक्षा-विभाग के लिये और चौथा धार्मिक सम्प्रदायों को सहायता देने के लिये होता था। पहले भाग में शासन-प्रबन्ध तथा सेना इत्यादि का व्यय सम्मिलित था। राज्य की ओर से जनता के लिये सार्वजनिक वास्तु अर्थात् धर्मशालाएँ, कूएँ, औषधालय, सड़कें इत्यादि बनवाई जाती थीं और शिक्षणालयों को विशेष सहायता दी जाती थी। उस समय सेना का प्रबन्ध भी अच्छा था। राजा लोग मुख्यतया सारी सेना अपने अधिकार में रखते थे जिसकी संख्या बहुत अधिक होती थी। सेना के प्रायः चार अंग होते थे; यथा—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल। परन्तु इनमें घुड़सवार सेना मुख्य समझी जाती थी। जो राज्य समुद्र-तट पर होते थे अथवा जिनमें बड़ी-बड़ी नदियाँ होती थीं, वे नौ-सेना भी रखते थे। सैनिकों को वेतन नक़द मिलता था। जागीर की प्रथा उस समय बहुत कम थी। स्थायी सेना (Standing Army) की संख्या

बहुत काफ़ी होती थी, परन्तु अवसर पड़ने पर अस्थायी सेना (Temporary Army) भी तैयार कर ली जाती थी।

राजनीतिक स्थिति तथा शासन-पद्धति में परिवर्तन—उपर्युक्त शासन-व्यवस्था राजपूत काल के प्रारम्भ में ही थी। पीछे से उसमें धीरे धीरे परिवर्तन होते गये। इस परिवर्तन का मुख्य चिह्न जागीरदारी की प्रथा (Feudal System) का प्रादुर्भाव था। किन कारणों से इस प्रथा का जन्म और विकास हुआ, इसका विवेचन इस स्थान पर करना कठिन है। परन्तु इस प्रथा का परिणाम यह हुआ कि भारत के राजनीतिक संघटन में बहुत निर्बलता आ गई। राजाओं ने शासन का कार्य तथा सेना का प्रबन्ध जागीरदारों को सौंप दिया। समाज का ढाँचा बदल गया। सार्वजनिक तथा राष्ट्रीय आदर्शों एव आकांक्षाओं के स्थान पर संकुचित, अदूरदर्शी और वैयक्तिक आदर-मान के आदर्श सामने आ गये। इस परिवर्तन के बाद प्रत्येक राजपूत राजा अथवा सैनिक वैयक्तिक प्रतिष्ठा के आदर्श और उद्देश्य से सब कार्य करता था। इसी को वह परम धर्म मानता था। युद्ध भी इसी उद्देश्य से होता था, क्योंकि उसका ध्येय पारलौकिक था। ऐहिक सफलता तथा उन्नति और जन-सेवा उसके लिये गौण थी। हिन्दू समाज का सङ्गटन इसी सामाजिक दृढ़ता के अभाव के कारण तभी से जर्जर हो गया है और यही उसकी विचारशून्यता तथा पतन का मुख्य कारण है।

आर्थिक स्थिति—भारतवर्ष का मुख्य व्यवसाय कृषि था। राजा और सामन्तगण कृषकों के रक्षण–पोषण तथा सुभीते का विशेष ध्यान रखते थे। सिंचाई तालाबों, कूओं और नहरों से होती थी। तालाब बनवाने की प्रथा भारत में अति प्राचीन काल से चली आई है। प्रत्येक नगर अथवा ग्राम में तालाब या कुण्ड अवश्य होता था। उसी के किनारे मेले इत्यादि भी लगते थे। इनके अतिरिक्त राजा लोग बड़ी–बड़ी झीलें बनवाते थे। बड़े-बड़े बाँध बनाकर पहाड़ों के बीच की भूमि को एक झील के रूप में परिवर्तित कर देते थे। फिर उसमें वर्षा तथा आस-पास की नदियों का पानी भर कर इकट्ठा हो जाता था। इस प्रकार की बहुत सी झीलें अब भी राजपूताने में वर्तमान हैं। धारा नगरी के राजा भोज ने इसी विधि से ढाई सौ वर्ग मील परिमाण की एक झील बनवाई थी। नहरों के बनाने का भी बहुत रवाज था जैसा कि राज-तरंगिणी आदि ग्रन्थों से पता चलता है।

भारत का व्यापार भी उतना ही उन्नत था। बड़े बड़े नगर व्यापार के केन्द्र थे जिनमें अनेक धनाढ्य व्यापारी रहते थे और केवल भारतीय नगरों से

ही नहीं, प्रत्युत् अन्य देशों से भी व्यापार करते थे। पश्चिमी तट के बन्दरगाह भडौंच (भृगुकच्छ) इत्यादि के द्वारा फ़ारस, मिस्र आदि देशों को माल जाता था। जल और स्थल दोनों मार्गों से व्यापार होता था। भारत का व्यापारिक सम्बन्ध पश्चिम में समस्त योरप और पूर्व में जावा, सुमात्रा, चीन आदि देशों से था। विशेष कर यहाँ की छींट, मलमल, रेशम और दूसरे अनेक प्रकार के वस्त्र, मोती, हीरे, रत्न, हाथी-दाँत, मसाले आदि आदि वस्तुएँ बाहर जाती थीं।

भारत में धातुओं का व्यवसाय भी अत्यन्त उन्नत था। भारतीय लोग कच्चे लोहे को गलाकर बहुत बढ़िया फ़ौलाद बनाना जानते थे। कुतुब मीनार के पासवाला लोहे का विशाल स्तम्भ इतना भारी है कि उसे आजकल का कोई कारखाना नहीं बना सकता। यह कम से कम १५०० वर्ष पुराना है और इतने समय तक खुली हवा और वर्षा में रहने पर भी उस पर ज़ंग का नाम-निशान नहीं। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी धातुओं की बनी हुई अद्भुत वस्तुएँ मिलती हैं। बहुमूल्य धातुओं (जैसे सोने, चाँदी) के तरह तरह के पात्र और रत्न-जटित आभूषण बनते थे। भारतवासियों को आभूषण पहनने का बहुत शौक था। धातुओं की बड़ी बड़ी मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं। इसके अतिरिक्त हाथी-दाँत, काँच, सीप इत्यादि की चूड़ियाँ और अन्य वस्तुएँ भी अत्यन्त उत्तम बनती थीं।

साम्पत्तिक विभाजन—उस समय उद्योग-धन्धे पूँजीदारों की बड़ी-बड़ी कलों द्वारा नहीं चलते थे। प्रत्येक उद्योगी वर्ग की अलग अलग गण-संस्था (Guild) होती थी। भिन्न-भिन्न उद्योग प्रायः वंशानुक्रमिक हो जाते थे, इस कारण उनमें उन्नति भी बहुत होती थी।

उस समय की सामान्य आर्थिक परिस्थिति को देखने से पता चलता है कि देश धन-धान्य से भरपूर था। मुसलमान आक्रमणकारियों को आकृष्ट करनेवाली देश की सम्पत्ति ही थी। एक एक मन्दिर में करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति जमा थी जिसे सैकड़ों वर्षों तक बाहरी आक्रमणकारियों ने लूटा, जिसका ठीक ठीक अनुमान करना भी असम्भव है। इस प्रकार उस समय देश की आर्थिक स्थिति संसार की जातियों में समुन्नत थी।

४

साहित्य, कला और शिल्प (सन् ६००–१२०० ई०)

साहित्य—संस्कृत साहित्य का पुनरुद्धार गुप्त काल से शुरू हुआ था और उसका प्रवाह अविकल रूप से राजपूत युग में चलता रहा। इस युग में

मुख्यतया काव्य-ग्रन्थों तथा ललित कलाओं को बहुत उन्नति हुई, क्योंकि जनता का झुकाव भक्ति मार्ग की ओर था। परन्तु प्राचीन आर्य साहित्य के समान सर्वोच्च श्रेणी के आध्यात्मिक तथा दार्शनिक साहित्य की कोई वृद्धि न हुई। वेदों, ब्रह्मसूत्रों, उपनिषदों तथा दर्शनों पर अनेक धर्मगुरुओं और विद्वानों ने बड़ी बड़ी टीकाएँ कीं और उन्हीं के आधार पर जैन तथा बौद्ध विद्वानों ने भी अपने अपने दर्शन को अत्यन्त उच्च श्रेणी तक पहुँचाया। इस काल में संस्कृत भाषा में लालित्य लाने का विशेष प्रयत्न हुआ। उसका शब्द-भाण्डार बहुत बढ़ा और भिन्न भिन्न लेखन-शैलियाँ आविष्कृत हुईं। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, यह विकास बहुत पहले से प्रारम्भ हो चुका था और इसका पथ-प्रदर्शन कवि-कुल-चूड़ामणि कालिदास, भास और अश्वघोष आदि अपने काव्यों द्वारा कर चुके थे। यह उन्नति सातवीं सदी के बाद भी बराबर होती रही। इस समय भारवि-कृत किरातार्जुनीय (सातवीं सदी) भट्टिकाव्य, शिशुपाल-वध आदि अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थ लिखे गये। काव्य में भिन्न भिन्न रस-प्रधान ग्रन्थ लिखे गये। बारहवीं शताब्दी का जयदेव-कृत गीत-गोविन्द गेय काव्य (Lyric Poetry) का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। गीत-गोविन्द के अनुपम अनुप्रास और भाषा-लालित्य तथा माधुर्य कथनातीत हैं। पद्य-काव्य के अतिरिक्त गद्य में भी अनेक अत्यन्त सुन्दर ग्रन्थ लिखे गये; जैसे दण्डी कवि का दशकुमार चरित और बाण के हर्ष-चरित तथा कादम्बरी तथा धनपाल की तिलक-मञ्जरी। इस काल में मुद्राराक्षस, मृच्छकटिक, महाराज हर्षवर्द्धन रचित रत्नावली और प्रियदर्शिका, चौहान राजा बीसलदेव रचित हरिकेलि नाटक, सोमेश्वर रचित ललित-विग्रहराज-नाटक इत्यादि इत्यादि अनेक ग्रन्थ लिखे गये तथा ध्वनि, अलंकार, छन्द शास्त्र आदि साहित्य के अन्यान्य अंगों पर भी बहुत से ग्रन्थ बने।

दार्शनिक साहित्य के क्षेत्र में प्राचीन षट्-दर्शनों के आधार पर अनेक सम्प्रदाय उत्पन्न हुए और बहुत से धर्माचार्यों ने भिन्न भिन्न टीकाएँ लिखकर नये नये विचार उपस्थित किये। शंकर का द्वैतवाद, रामानुज का विशिष्टाद्वैत, जैनियों का स्याद्-वाद, चार्वाक का नास्तिकवाद तथा छोटे छोटे अनेक सम्प्रदाय इस समय में प्रचलित एवं प्रचारित हुए।

विज्ञान तत्त्व की शाखाओं में ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद और काम-शास्त्र की अत्यन्त उन्नति हुई। पाँचवीं शताब्दी के अन्त में ज्योतिष शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् वराहमिहिर ने प्राचीन ज्योतिष के सिद्धान्तों का अपने ग्रन्थों में समावेश किया। सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रह्मगुप्त ने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त और

खण्डखाद्य लिखे। दसवीं शताब्दी के अन्त में पृथुदक स्वामी ने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त की टीका लिखी। बारहवीं शताब्दी के अन्त में प्रसिद्ध ज्योतिषी महेश्वर के पुत्र भास्कराचार्य ने ज्योतिष शास्त्र पर सूर्य-सिद्धान्त, सिद्धान्त-शिरोमणि इत्यादि कई ग्रंथ लिखे। सिद्धान्त-शिरोमणि एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है और इसके लीलावती, बीजगणित, ग्रहगणिताध्याय और गोलाध्याय नाम के चार भाग हैं। पहले दो गणित सम्बन्धी और पिछले दो ज्योतिष सम्बन्धी हैं। पृथिवी के गोलाकार होने, भूभ्रमण (Revolution of the Earth) और आकर्षण (Theory of Gravitation)* के सिद्धान्त भास्कराचार्य ने बारहवीं शताब्दी में ही भली भाँति प्रतिपादित कर दिये थे। फलित ज्योतिष का भी इस समय में अत्यन्त विकास हुआ। वराहमिहिर की बृहत् संहिता फलित ज्योतिष का मुख्य ग्रन्थ है। इसके आधार पर बाद में बहुत से ग्रन्थ लिखे गये। ८ वीं सदी में अरब के ख़लीफ़ाओं ने ज्योतिष के ग्रन्थों के अरबी में अनुवाद कराये और अन्य विद्याओं के साथ यह विद्या भी भारत से सीखी।

गणित में अंक गणित और बीज गणित की भी इस काल में बहुत उन्नति हुई। १ से ९ तक और शून्य का अंक-क्रम भारत में ही आविष्कृत हुआ और यहीं से यह संख्या-प्रणाली समस्त पाश्चात्य देशों ने सीखी। बीज गणित के सिद्धान्त भी यहीं प्रतिपादित हुए थे। इस काल के ज्योतिष शास्त्रों के उपर्युक्त रचयिताओं ने ही गणित के सिद्धान्त लिखे। इनमें गणित के आठों मूल नियम—योग, ऋण, गुणा, भाग, वर्गीकरण, घनीकरण, वर्गमूल और घनमूल वर्णित हैं। बीज गणित, रेखागणित और त्रिकोणमिति की भी इस काल में अत्यन्त उन्नति हुई और प्राचीन काल के यूनानियों की तरह यूरोप के विद्वानों ने भी यहीं से ये सब विद्याएँ सीखीं।

प्राचीन काल में तो आयुर्वेद की अत्यन्त उन्नति हो ही चुकी थी। मध्य काल में भी वाग्भट का अष्टांग संग्रह (७ वीं सदी) और माधवकर का माधव निदान (९ वीं सदी) आदि प्रामाणिक ग्रन्थ रचे गये। सन् १०६० में बंगाल के चक्रपाणिदत्त ने सुश्रुत और चरक की टीका तथा चिकित्सासार संग्रह लिखे। सन् १२०० ई० के लगभग शार्गंधर ने शार्गंधर-संहिता लिखी। इन ग्रन्थों में चिकित्सा शास्त्र, शरीर विज्ञान, पदार्थ और औषध विज्ञान की भिन्न भिन्न शाखाओं की पूरी तरह से व्याख्या की गई है। शल्य शास्त्र की भी यथेष्ट उन्नति इस काल में हुई थी। सर्प-विद्या भारत में बहुत ही उन्नत थी। पशुचिकित्सा पर तो

---

* आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् स्वस्थं गुरु स्वामिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत् वियंखे॥

बहुत से ग्रन्थ लिख गये थे जिनमें घोड़ों और हाथियों आदि के रोगों की चिकित्सा ही नहीं, वरन् उनकी पहचान इत्यादि भी बड़े विस्तार से वर्णित है। जिस प्रकार मनुष्यों के लिये चिकित्सालय बनते थे, उसी प्रकार पशुओं के लिये भी बनते थे।

इन विद्याओं के अतिरिक्त काम शास्त्र, संगीत, नृत्य आदि पर भी बहुत विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ इस काल में लिखे गये। देवगिरि के यादव राजा सिंघण के संगीताचार्य शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर ग्रन्थ में संगीत कला का इतिहास भी लिखा था। उसी में शुद्ध सात और विकृत बारह स्वर, वाद्यादि के चार भेद, स्वरों की श्रुतियाँ और जातियाँ, ग्राम, मूर्च्छना, प्रस्तार, राग, गायन और उसके गुण-दोष, ताल, नर्तन और तब तक प्रचलित विद्याओं के नाम आदि का भी वर्णन है। वास्तु कला पर भी राजा भोज आदि ने बहुत से बड़े बड़े ग्रन्थ इस काल में लिखे जो अब तक प्राप्त हैं।

कला और शिल्प—भारतीय कला के अन्यान्य अंगों की भी इस काल में बहुत अधिक उन्नति हुई। इस देश में कला का मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक रहा है। अनन्त सत्य की प्राप्ति ही उसका हेतु है। अनन्त विश्वव्यापी नियमों को सान्त प्राकृतिक रचनाओं द्वारा व्यक्त करना उसका ध्येय है। इसी कारण भारतीय कला चाहे जिस रूपान्तर में प्रकट हो, सांकेतिक है, आनुकृतिक नहीं। भारत की प्रत्येक कला में ये संकेत विद्यमान हैं।

तक्षण कला का प्राचीन (बौद्ध कालीन) भारत में अत्यन्त विकास हुआ था। उस समय अनेक स्थानों पर चट्टानों को काट-काट कर ऐसे विहार, चैत्य एवं मन्दिर बनाये गये थे जो अब भी देखनेवालों को आश्चर्य-चकित कर देते हैं। सातवीं और आठवीं सदी में भी अजन्ता इत्यादि स्थानों में इस प्रकार की गुफाओं में चैत्य और विहार बने जो इस कला के सर्वोत्तम नमूने हैं। परन्तु इस काल में वास्तु कला का अनुपम विकास हुआ। जैनियों और वेदधर्मानुयायियों के सहस्रों मन्दिर इस अवकाश में बने जो देश के उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक फैले हुए हैं और जिनकी कला सुन्दरता एवं दृढ़ता के गुणों के समान रूप से मिश्रित होने के कारण अद्वितीय हो गई है। देश-भेद के अनुसार ये मन्दिर भी भिन्न-भिन्न शैलियों के हैं। जैन तथा ब्राह्मण मन्दिरों की रचना-शैली में कोई भेद नहीं है; परन्तु उनके चिह्न तथा विशेषताएँ पृथक्-पृथक् होने के कारण उनकी पहचान होती है। मन्दिरों में मुख्य दो भाग होते हैं। एक गर्भ-गृह या देवालय जिसमें मुख्य देवता की प्रतिमा रहती है। इसकी छत प्रायः शिखर-रूप में बनी होती है जिसकी चोटी पर कमल या आमलक रहता है।

इसी के ऊपर कलश होता है और वहीं ध्वज-दण्ड भी रहता है। देवालय के आगे मण्डप या जगमोहन होता है जिसकी छत प्रायः गोल और स्तूप के समान होती है। जैन मन्दिरों के चारों ओर छोटी-छोटी देव-कुलिकाएँ बनी होती हैं जिनमें तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ स्थापित रहती हैं। ब्राह्मण मन्दिरों के कोनों पर कभी-कभी चार छोटे मन्दिर भी होते हैं जिनमें शेष चार देवताओं * की प्रतिमाएँ स्थापित रहती हैं। ऐसे मन्दिरों को पंचायतन कहते हैं और यह पंच-रत्न का सिद्धान्त कहलाता है। द्रविड़ शैली के मन्दिरों में देवस्थान के ऊपर चतुरस्र आकार का कई मंजिलों का मण्डप होता है जो ऊपर की ओर छोटा होता जाता है। देवस्थान के आगे छोटे या बड़े कई स्तम्भोंवाले विस्तृत भवन होते हैं। मन्दिर के चारों ओर एक प्रकार के विहार से घिरा हुआ बड़ा मैदान होता है। इसके द्वारों पर ऊँचे-ऊँचे गोपुर होते हैं। आर्य शैली के मन्दिर प्रायः उत्तर में पाये जाते हैं और द्रविड़ शैली के दक्षिण तथा वृन्दाबन में। आर्य शैली के मन्दिर खजुराहो, भुवनेश्वर (उड़ीसा), चित्तौड़ गवालियर, चन्द्रावती, पालीताना, आबू इत्यादि स्थानों में हैं। आबू के मन्दिरों की तक्षण कला का जोड़ संसार भर की वास्तु और तक्षण कला में नहीं मिल सकता। द्रविड़ शैली के मन्दिर वृन्दाबन के अतिरिक्त इलोरा, तंजौर, श्रीरंगम् इत्यादि स्थानों में विद्यमान हैं।

इस काल में चित्रकला का विकास भी दूसरी कलाओं से कम नहीं हुआ। अजन्ता आदि की गुफाओं में चट्टानों पर बने हुए इस काल के जो चित्र अब तक विद्यमान हैं, वे उस समय की उन्नति के सूचक हैं। काग़ज़ या वस्त्र इत्यादि पर बने हुए चित्र इतने दिनों तक रह नहीं सकते थे। तक्षण कला के समान इन चित्रों से भी तत्कालीन इतिहास और सभ्यता के अनेक अंगों का पता लगता है। अन्य कलाओं की भाँति भारतीय चित्र कला का भी विशेष गुण यह है कि यह रूप-प्रधान होने के बदले भाव-प्रधान है। आजकल अजन्ता की भाव-प्रधान कला ही सर्वप्रिय हो रही है और अन्य सम्प्रदायोंवाले अपनी कलाओं को इसी अजन्ता की कला के रूप में ढाल रहे हैं।

---

* पाँच देवता ये हैं—विष्णु, शिव, रुद्र, देवी और सूर्य।

दूसरा अध्याय

१

इस्लाम, भारत में प्रवेश करने से पहले

इस्लाम धर्म के जन्म के थोड़े दिन बाद ही उसका भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा तक विस्तार हो गया। परन्तु उस समय केवल सिंध में कुछ दिनों तक मुस्लिम राज्य स्थापित होकर समाप्त हो गया। फिर कई शताब्दी बाद दूसरे मार्ग से इस्लाम भारत में आया। किन कारणों से इस्लाम का प्रवेश सिंध के मार्ग से होने से रुक गया और फिर उत्तर-पश्चिम से किन कारणों से उसका प्रवेश हुआ, तथा उस समय उसका स्वरूप कैसा था, उसकी क्या भावनाएँ थीं एवं क्या उद्देश्य थे और भारतीय सभ्यता के साथ उनका संघर्ष होने पर क्या परिणाम हुए, इन सब बातों को भली भाँति समझाने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले संक्षेप में तत्कालीन इस्लाम का कुछ वर्णन करें।

सन् ६२२ ई० में मुहम्मद को आत्म-रक्षा के लिये मक्के से भाग कर मदीने जाना पड़ा और अपने विरोधियों का दमन करने के लिये सेना तैयार करनी पड़ी। थोड़े ही दिनों में मुहम्मद ने प्रायः सारे अरब पर अपना अधिकार जमा लिया। फिरकों में बँटे हुए, परस्पर लड़नेवाले अरबों को उसने एकता के सूत्र में बाँध दिया और उनको एक धर्म के जोश से भर दिया। धर्म की रक्षा तथा प्रसार और उसके अनुयायियों के भरण-पोषण की आवश्यकता ने सैनिक बल को जन्म दिया। उसका नेता मुहम्मद हुआ। मुहम्मद और उसके चार उत्तराधिकारी (ख़लीफा) * अपने धर्म को फैलाने के सच्चे जोश से भरे हुए थे। कोई सांसारिक साम्राज्य स्थापित करने के विचार अथवा आकांक्षा से वे लोग प्रेरित नहीं हुए थे। उनका जीवन अत्यन्त सादा और फ़कीरों का सा था। एक सदी के अन्दर उन्हीं के उत्तराधिकारी पूरी तरह से राजाओं के समान रहने सहने और व्यय करने लगे। पहले ख़लीफ़ाओं ने अपने सारे जीवन में उतना धन व्यय न किया था जितना पिछले ख़लीफ़ा एक-एक दिन में व्यय कर डालते थे। सन् ६५६ में उस्मान के मरने पर उसके नियोजित दमिश्क़ के शासक मुआ-

---

* अबू बक्र सन् ६३२–३४; उमर सन् ६३४–४४; उस्मान सन् ६४४–५६; अली सन् ६५६–६१।

विया ने स्वतन्त्र रूप से राज्य करना आरम्भ कर दिया और अली को ख़लीफ़ा स्वीकार न किया। थोड़े दिन बाद अली और उसके पुत्रों का वध हो जाने पर अली का परिवार निर्बल हो गया और मुआविया के वंशज ही मुस्लिम साम्राज्य के ख़लीफ़ा मान लिये गये। अब ये लोग वास्तविक बादशाहों के समान काम करने लगे और हर प्रकार की दरबारी शान-शौकत रखने लगे। धर्म्म-प्रचार के स्थान पर उनका उद्देश्य अपने परिवारों की शक्ति और अपने राज्य को बढ़ाना ही रह गया। लगभग सौ वर्षों के बाद अली के पक्षवालों को अवसर मिला और उमैया वंश का नाश हुआ। इन्होंने अपनी राजधानी बग़दाद में रखी। इस समय तक फ़ारस के पूरब तक इस्लाम फैल चुका था। बग़दाद के ख़लीफ़ाओं पर ईरानी सभ्यता और संस्कृति की गहरी छाप पड़ी। उनका दरबार शान-शौकत और सजधज में अपना सानी न रखता था। वे बड़े विद्या-व्यसनी तथा विद्वानों के पोषक और रक्षक थे। उन्होंने हज़ारों भारतीय ग्रन्थों के अनुवाद अरबी में कराये। तलवार के बल से ईरान (फ़ारस) मुसलमान तो हो गया, परन्तु उसकी प्राचीन संस्कृति अमिट थी जिसने शीघ्र ही अपने विजेताओं पर अपना गहरा सिक्का जमा दिया। इधर ख़लीफ़ा लोग भोग-विलास में मस्त होने लगे। परिणाम यह हुआ कि नवीं सदी में ही वे ख़िलाफ़त के विस्तृत साम्राज्य पर अपना अधिकार क़ायम न रख सके। यद्यपि नाम के लिए ख़लीफ़ा सारे मुस्लिम संसार का नेता तथा प्रमुख माना जाता था, तथापि प्रत्येक इस्लामी देश में सूबेदारों ने अपना-अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। फ़ारस में भी इसी प्रकार राजवंश स्थापित हुए। इनमें सबसे महत्वपूर्ण सामानी वंश था जिसकी स्थापना अमीर इस्माइल सामानी ने सन् ९११ में बुख़ारा में की थी। फ़ारस के ये राजा संस्कृति में तो बहुत बढ़े थे और राज-काज के सामान्य कार्यों में भी बड़े दक्ष थे, परन्तु सैनिक गुणों का इनमें अभाव था। ९ वीं शताब्दी के अन्त तक मध्य एशिया की तुर्क, तातार इत्यादि जातियाँ भी इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुकी थीं। इनमें तुर्क लोग बड़े वीर सैनिक और विजेता होते थे। फ़ारस के बादशाहों की सेना में तुर्क सरदार ही सेनापति थे। उनका सारा सैन्य बल तुर्कों पर आश्रित था। सदियों से तुर्क सैनिक और योद्धा फ़ारस के दरबारों में नौकरी करते करते उनकी सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित हुए बिना न रह सकते थे। प्राचीन फ़ारस का राजनीतिक आदर्श साम्राज्यवाद था। अपने बड़े साम्राज्यों की गाथाएँ वे लोग शाहनामे इत्यादि महाकाव्यों में पढ़ते थे। इन महाकाव्यों और उनके वीर चरित्रों, सोहराब, रुस्तम, नौशेरवाँ, दारा और कैकाऊस आदि सम्राटों के नाम का फ़ारस की

जनता उतना ही आदर करती थी जितना अरब के मुसलमान कुरान और नबी का, अथवा भारतवासी रामायण, महाभारत तथा राम-कृष्ण का आदर करते हैं। फारसवालों के लिये अपने उन पूर्वजों के कारनामे तथा उनके साम्राज्य आदर्शरूप थे। मुसलमान होने पर भी उनके यही आदर्श बने रहे। तुर्क सभी योद्धा शनैः शनैः फ़ारस के आदर्शों, अर्थात् साम्राज्य-वाद के रंग में रँग गये और साथ ही फारस के उत्कृष्ट साहित्य और कला के प्रेमी हो गये। इस प्रकार इन लोगों के चरित्र पर तीन प्रकार की छाप लगी। वे मुसलमान धर्म के नये अनुयायी थे, इसलिए उसके प्रचार और प्रसार के लिये बहुत उत्सुक थे और इसी में अपनी कीर्त्ति मानते थे। युद्ध और लूट-मार करना उनका पैतृक कार्य्य था। इसके साथ उनमें फारस के साहित्य के ज्ञान से साम्राज्य स्थापित करने की आकांक्षा उत्पन्न हो गई। इसका सर्वोत्तम उदाहरण महमूद ग़ज़नवी था। उसके पूर्वज फ़ारस के पूर्वोत्तर में खुरासानी बादशाहत के सरहदी सरदार थे। जिन मुसलमानों ने अन्त में भारत को जीता, वे यही भाव, आदर्श और चरित्र साथ लेकर आये थे।

२

इस्लाम का भारत में शान्तिपूर्वक प्रवेश

अरबों का भारतवर्ष से बहुत पुराना सम्बन्ध था। प्राचीन काल में जब समुद्री मार्ग से भारत और एशिया के पश्चिमी देशों में व्यापार होता था, उस समय वे हिन्द महासागर की किश्तियों के केवट थे। हिन्दुस्तान के पश्चिमी तट पर खम्बात (Cambay) से लेकर दक्षिण के चोल, कल्याण, सोपारा आदि स्थानों तक में इनकी बस्तियाँ थीं। १४वीं सदी में पुर्तगालियों के आने तक इस तट पर अरबी नाविकों का व्यापार खूब चलता रहा। सातवीं सदी में अरब की सब जातियाँ एकता के सूत्र में बँध गईं और तब से उन्होंने देश-देशान्तरों को विजय करना आरम्भ किया। इससे उत्तेजित होकर अरब के व्यापारियों ने हिन्द महासागर का सारा व्यापार अपने अधिकार में कर लिया। ७वीं सदी में इधर तो ख़लीफ़ाओं ने हिन्द को सिन्ध की ओर से जीतने की तैयारियाँ शुरू कीं, उधर अरबी सौदागरों ने मलाबार तट पर अपने धर्म का प्रचार शुरू किया। वे लोग हिन्दुस्तानी औरतों से विवाह करते और इस प्रकार भारत में मुस्लिम संख्या बढ़ाते थे। इस मामले में उनको हिन्दू राजाओं, विशेषतया वलभी वंश और कालीकट के ज़ेमोरिन से बहुत सहायता मिली। इनके प्रोत्साहन से बहुत से मुस्लिम व्यापारी खम्बात, कालीकट और कोलम

आदि स्थानों में बस गये। उनको केवल अपनी मस्जिदें बनाने की ही स्वतन्त्रता नहीं दी गई, बल्कि वल्लभी राजा ने स्वयं उनके लिये मस्जिदें बनवाईं। इन्हीं लोगों की औलाद में से कोंकण की नटिया जाति और मलाबार की मोपला जाति है। मलाबार तट पर आठवीं सदी में इनके उपनिवेश बढ़ने शुरू हुए। ज़ेमोरिन ने अपने जहाज़ों के लिये केवट प्राप्त करने के उद्देश्य से कालीकट की नीच जातियों को इस्लाम धर्म स्वीकार करने की प्रेरणा की। इन कारणों से यथेष्ट संख्या में हिन्दुस्तानी लोग मुसलमान हो गये। फिर ख़लीफ़ा लोग प्रचारकों को भेजने लगे। १५वीं सदी में तैमूर के वंशज शाहरुख़ ने अब्दुर्रज़्ज़ाक़ (सन् १४४१) को कालीकट इसी अभिप्राय से भेजा था। इस प्रकार दक्षिण भारत में व्यापारियों और प्रचारकों द्वारा इस्लाम का प्रचार हुआ।

शान्तिपूर्वक धर्म-प्रचार में सब से महत्वपूर्ण कार्य मुसलमान फ़क़ीरों और दर्वेशों ने किया। यह कार्य ११वीं सदी से शुरू हो गया था। सन् १००५ में शेख़ इस्माईल बुख़ारा से भारत में आया और उसने अपने प्रचार से सैकड़ों को मुसलमान बनाया। सन् १०६७ में अब्दुल्लाह यमनी ने गुजरात में इसी प्रकार प्रचार किया। इसे बोहरे लोग अपना पहला प्रचारक मानते हैं। १२वीं सदी के शुरू में ख़ोजों के प्रचारक नूर सतागर ईरानी ने इसी प्रकार गुजरात की नीच जातियों को मुसलमान बनाया। तेरहवीं सदी में सैयद जलालउद्दीन बुख़ारी और सैयद अहमद कबीर इत्यादि ने सिंध में उच्च के पास बहुतों को मुसलमान बनाया। इन सब में प्रसिद्ध ख़्वाजा मुईनउद्दीन चिश्ती थे जो तेरहवीं सदी के आरम्भ में सीस्तान से आकर अजमेर में बसे थे। कहा जाता है कि अजमेर जाते समय देहली में उन्होंने ७०० मनुष्यों को मुसलमान बनाया। सन् १२३६ में अजमेर में उनकी मृत्यु हुई। उनकी क़ब्र को आज तक लाखों मुसलमान पूजते हैं और बहुत पवित्र मानते हैं। इसी प्रकार १४वीं सदी के शुरू में पानीपत में बूअली क़लन्दर ने प्रचार किया। ये प्रचारक मुसलमान विजेताओं के साथ आगे बढ़ते जाते थे। इन दो सदियों में ये प्रचारक पंजाब, काश्मीर, दक्षिण, बंगाल आदि देशों के कोने कोने में फैल गये थे। चिश्ती के शिष्य भी बहुत प्रसिद्ध हुए। इन्होंने भी धर्म-प्रचार का बहुत कार्य किया। उनके वंशजों में ख़्वाजा क़ुतुबउद्दीन, निज़ामुद्दीन औलिया, तेरहवीं और चौदहवीं सदी में शेख़ फ़रीदउद्दीन शकरगंज पाकपटनवाले (१३वीं सदी), शेख़ अलाउद्दीन अली अहमद साबिर पीरान कालेरवाले बहुत प्रसिद्ध हैं। १६वीं सदी में इन लोगों का प्रचार मुग़लों की सहिष्णुता की नीति के कारण कुछ हलका पड़ गया। तेरहवीं और चौदहवीं सदी में इन लोगों की सफलता

के कई कारण थे। हिन्दुओं की अत्यन्त संकीर्ण प्रथाओं के कारण बहुत से लोग, जो किसी कारण से जाति से निकाल दिये जाते थे, मुसलमान बन जाते थे। छोटी जातियों के लोग हिन्दुओं का तिरस्कार सहन न कर सकने के कारण इस्लाम धर्म ग्रहण कर लेते थे। यदि कोई मुसलमान औरत या मर्द हिन्दू मर्द या औरत से ब्याह कर लेता था तो उसे भी मुसलमान होना पड़ता था। बंगाल में वे नीच जातियाँ, जिनमें धार्मिक संघटन का अभाव था, जैसे मछेरे, शिकारी, चिड़ीमार, लुटेरे इत्यादि, आसानी से मुसलमान हो गये। इस प्रकार इस्लाम का प्रचार केवल तलवार के बल पर ही नहीं, प्रत्युत् शान्तिमय उपायों से भी हुआ। इसके साथ ही धर्म-प्रचार के सम्बन्ध में मुसलमान शासकों और विजेताओं की जो नीति रही, उसका वर्णन उनके प्रकरण में किया जायगा। इस्लाम के सबल और शान्ति-पूर्वक धर्म-प्रचार का यह प्रयास अधिक सफल न हुआ। एशिया के अन्य देशों, फारस और मध्य एशिया, की भाँति यहाँ मुसलमान समस्त जनता को मुसलमान बनाने में कृतकार्य न हो सके। इसका कारण यही था कि यहाँ की संस्कृति, साहित्य और सामाजिक संघटन इस प्रकार का था जिस पर किसी मत का प्रभाव नहीं पड़ सकता था। अन्य आक्रमणकारियों की भाँति मुसलमान भी यहाँ आकर श्रान्त हो गये और धीरे धीरे उन पर उलटे यहीं के दर्शन, विज्ञान और संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा। इस कारण भारत में या तो नीच जातियाँ मुसलमान हुईं या वे लोग जो हिन्दुओं के संकीर्ण व्यवहार से दुःखी हो जाते थे अथवा वे जो बलात् मुसलमान बना लिये जाते थे। ऐसे लोगों की संख्या अत्यन्त न्यून है जो हार्दिक विश्वास और श्रद्धा-पूर्वक मुसलमान हुए हों।

तीसरा अध्याय

राज्य-स्थापना का आरम्भ

अरबवालों का प्रयास

भारत में प्रवेश करने के मुख्य द्वार—भारतवर्ष या भरतखण्ड की सीमाओं को प्रकृति ने चारों ओर से सुरक्षित सा कर रखा है। उनकी आधी सीमा तो समुद्र ने घेर रखी है और बाक़ी आधी हिमालय पर्वत और उसकी शाखाओं से घिरी है। परन्तु इतना होते हुए भी बाहर के देशों और जातियों के साथ सदा से भारतवर्ष का सम्बन्ध रहा है। जो जातियाँ समुद्र-यात्रा में दक्ष थीं, वे भारत में समुद्र के मार्ग से आती थीं। इसके अतिरिक्त तीन स्थल मार्ग हैं जिनसे बाहरी जातियाँ यहाँ आती थीं। पहला रास्ता सिंध की तरफ़ से है जिधर से पश्चिम-एशियाई देशों के लोग मकरान होते हुए यहाँ आते थे। परन्तु यह रास्ता बहुत खुश्क और रेगिस्तानी है, इसलिये इसका प्रयोग भी बहुत कम होता था। सब से अधिक प्रयोग जिस मार्ग का होता था, वह देश के पश्चिमोत्तर में ख़ैबर की घाटी है। प्राचीन काल से ही इसी मार्ग के द्वारा बार बार मध्य एशियाई जातियाँ देश में आती और बसती रहीं; और अन्त में भारतीय जनता और सभ्यता के साथ इस प्रकार मिल गईं जैसे दूध में पानी। इसी द्वार से मुसलमान सैनिकों ने बार बार भारत पर हमले किये और अन्त में उसे जीत कर यहाँ अपना राज्य स्थापित किया। तीसरा स्थल मार्ग बोलन की घाटी से होकर है।

अरबी आक्रमण के समय भारत की पश्चिमोत्तर सीमा की राजनीतिक अवस्था—जिस समय उत्तरी भारत में महाराज हर्ष के पूर्वज अपना राज्य-विस्तार कर रहे थे, उस समय अरब में मुहम्मद नामक नेता उत्पन्न हुआ जिसने अरबी जाति की हीनावस्था को देख कर उसका उद्धार करने का संकल्प किया। अरबों के पारस्परिक घरेलू कलह और अनेक जातीय त्रुटियों को दूर करके उसने उन्हें एकता और एकेश्वरवाद का पाठ पढ़ा कर एक राष्ट्रीय सूत्र में बाँध दिया। सन् ६३२ ई० (वि० सं० ६८९) में हज़रत मुहम्मद का स्वर्गवास हुआ। इससे एक शताब्दी के अन्दर इसलाम मत युरोप में फ्रान्स तक और इधर तुर्की तक, और एशिया में भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा तक

पहुँच गया और अनेक देशों पर मुस्लिम ख़लीफ़ा का राज्य क़ायम हो गया। मुहम्मद साहब की मृत्यु के आठ वर्ष के अन्दर समस्त फ़ारस और हिन्दूकुश और आक्सस (वक्षु) नदी के बीच के सब देश अरबी साम्राज्य के अधीन हो गये। इस प्रकार अरबी सेना भारत की सीमा से टकराने लगी।

परन्तु जान पड़ता है कि अरबों की इस अद्भुत विजय का भारत पर कोई प्रभाव न पड़ा। उसके पश्चिम में जो राज्य थे, उनका ठीक ठीक ब्योरा मिलना कठिन है। परन्तु हुएन्त्संग ने, जो उस समय भारतवर्ष की यात्रा कर रहा था, उन सीमास्थ राज्यों का जो उल्लेख किया है, वह विश्वसनीय जान पड़ता है। आश्चर्य की बात यह है कि हुएन्त्संग ने प्राचीन भारत का तो वर्णन किया है, परन्तु अरबी विजय या इस्लाम धर्म के विस्तार का कोई जिक्र नहीं किया *।

हुएन्त्संग के वर्णन से जान पड़ता है कि उस समय पश्चिमी सीमा पर तीन हिन्दू राज्य क़ायम थे। उत्तर में कपिशा या काबुल, दक्षिण में सिंध या सिंधु, और इन दोनों के बीच में साओ कूटा या 'साओ ली' (Tsaokuta or Tsaoli)।

कपिशा राज्य अनुमान से पश्चिम में हिन्दूकुश पहाड़ और बामियान से लेकर पूरब में बन्नू और सिंधु नदी तक फैला हुआ था; और उस के अधीन कई छोटे छोटे राज्य थे। चीन राज्य से भी कपिशा का बहुत घनिष्ट संबन्ध था। अलबेरूनी के अनुसार यहाँ उस समय शाहिया वंश राज्य कर रहा था। इन लोगों ने चीन से सम्बन्ध शायद अरबों के भय से ही जोड़ा था।

सिंध राज्य—बन्नू की सीमा से मिलता हुआ मुलतान से नीचे सिंधु नदी की घाटी के दक्षिणार्ध में फैला हुआ था। इसके पश्चिम में किरमान और मकरान के देश थे। चचनामे से ज्ञात होता है कि किरमान, मकरान, मुलतान इत्यादि सब सिंध राज्य के अधीन थे।

तीसरा राज्य—साओली का था। हुएन्त्संग के अनुसार इसके दक्षिण में सिंध, दक्षिण-पूर्व में बन्नू और किक्कान और उत्तर में कपीशी था। यह वही देश है जिसे अरबी भूगोलवेत्ता ज़ाबुल या ज़ाबुलिस्तान कहते हैं और जो हेलमण्ड नदी की ऊपरी घाटी में फैला हुआ था। मुद्राशास्त्र और अन्य आधारों से ऐसा जान पड़ता है कि इस देश पर भी शाही वंश के लोग ही राज्य करते थे। खुरासान के लिये इनका फ़ारस से बराबर झगड़ा चला आता था। यह

---

* हुएन्त्संग को मुसलमानों के विस्तार का पता था या नहीं, इस सम्बन्ध में देखो जर्नल आफ़ इण्डियन हिस्टरी, जि० १०, भाग १, ढाका यूनी० सप्लिमेण्ट पृ० ३।

राज्य फ़ारस और भारतवर्ष के बीच में एक संघर्ष बचानेवाले या बफ़र राज्य (Buffer state) के समान था* ।

इन देशों की सभ्यता—हुएन्त्सँग ने इन देशों की सभ्यता का भी अच्छा वर्णन किया है । कपिशा का राजा भारतीय क्षत्रिय जाति का था, परन्तु वहाँ की भाषा तुर्की भाषा से मिलती-जुलती थी । लमग़ान, उद्यान, गांधार और बन्नू में भारतीय भाषा, साहित्य और धर्म ही प्रचलित थे । ब्राह्मण और बौद्ध दोनों धर्मों के अनुयायी वर्त्तमान थे । ज़ाबुल की भाषा में कुछ अन्तर था; और वहाँ के लोगों का धर्म्म बौद्ध, ब्राह्मण और अध्यात्मवाद (Animism) का सम्मिश्रण सा था ।

ऊपर के वर्णन से ज्ञात होता है कि उस समय तक पश्चिम और पश्चिमोत्तर सीमा के देश, कन्धार, काबुल इत्यादि भी राजनीतिक दृष्टि से भारतवर्ष के ही अन्तर्गत थे । परन्तु जनता में तुर्कों का भी यथेष्ट भाग सम्मिलित था । लोगों का विश्वास था कि शाही राजा कुशान राजा कनिष्क के वंशज हैं । अल-बेरूनी उनको क्षत्रिय बतलाता है । यदि यह ठीक हो तो इससे हमें पता चलता है कि किस प्रकार बाहरी जातियाँ भारतीय जनता में मिल कर एक हो जाती थीं । पहाड़ी इलाके की जातियाँ उस समय भी वैसी ही थीं जैसी अब हैं । उनकी सभ्यता का भी वही हाल था जो आज है । भेद केवल इतना है कि अब वे बौद्ध-धर्म की जगह इस्लाम की अनुयायी हैं । वे लोग उस समय भी बहुत भयानक थे और क़त्ल करना अपना पेशा समझते थे । उनमें सामाजिक ऊँच-नीच का कोई विचार नहीं था और न कोई स्थिर शासन ही था । चौपाए पालना उनकी जीविका थी । वे सिर मुँड़ाते और भिक्खुओं के वेष में रहते थे और अपने मत के बहुत कट्टर माननेवाले थे ।

अरबी आक्रमणों का आरम्भ—सीमावर्ती तीनों ही राज्यों पर अरबों के आक्रमण सातवीं शताब्दी के मध्य में आरम्भ हो गये थे । इस समय उन्होंने काबुल और ज़ाबुल को विजय करने का प्रयत्न किया । पहले सात वर्षों में (अर्थात् सन् ६४९ से ६५६ तक) उनको विशेष सफलता न हुई । फिर अगले पन्द्रह वर्षों में अली और मुआविया के समय में सिजिस्तान के हाकिम अब्दुर्रहमान की चतुराई और बहादुरी से काबुल और ज़ाबुल दोनों पर मुसलमानों की विजय हुई । परन्तु सन् ६७० से अब्दुर्रहमान के बाद उनकी बराबर हार होती रही और सन् ७०० तक युद्ध करने के बाद मुसलमानों को पूरा विश्वास हो

* ज० इ० हि०, जि० १०, भा० १, डा० यू० स०, पृ० ४ से ८ तक ।

गया कि इन देशों को जीतना हमारी शक्ति के बाहर है। इसलिए लगभग १५० वर्ष बाद तक ये देश स्वतन्त्र रहे। कभी कभी अब्बासी ख़लीफा उनसे कर वसूल कर लेते थे। परन्तु सन् ८७० ई० तक प्रायः इन देशों को स्वतंत्र ही छोड़ दिया गया।

सिंध पर मुसलमानी आक्रमण और विजय—सीमावर्ती तीन राज्यों में से सिंध पर मुसलमानी आक्रमण सब से अधिक प्रबल और देर तक हुआ। सातवीं शताब्दी के आरम्भ में सहसीराय का बेटा राजा साहिरास राज्य कर रहा था। राज्य के बीच का हिस्सा तो स्वयं राजा के शासन में था और बाक़ी देश चार सूबों में बँटा हुआ था। राजधानी आलोर नगर में थी। हर सूबे पर एक सूबेदार शासन करता था। साहिरास फारस के एक सूबे नीमरोज़ के शासक के साथ युद्ध में मारा गया और उसका बेटा राय सहसी दूसरा गद्दी पर बैठा। इसके राज्य में चच नामी एक ब्राह्मण राज-कर्म्मचारी ने बहुत उन्नति की और थोड़े ही समय में उसने राज-मन्त्री का पद प्राप्त किया। फिर उसने अपनी शक्ति को इतना प्रबल कर लिया कि राजा के मरने पर वह स्वयं गद्दी पर बैठ गया और सहसी की विधवा से उसने विवाह भी कर लिया। इस रानी से उसके दो बेटे और एक बेटी पैदा हुई। एक बेटे का नाम दाहरसिय और दूसरे का दाहर था और बेटी का नाम बाई था। सूबेदारों ने पहले चच का शासन मानने से इन्कार कर दिया, इसलिये चच को उनसे लड़कर उन्हें अपना प्रभुत्व स्वीकृत कराना पड़ा। उसने इस प्रकार एक नये ब्राह्मण राज-वंश की स्थापना की और बहुत योग्यता से ४० वर्ष राज्य करके अपनी राजधानी आलोर में ही स्वर्गवास किया। इसी का पुत्र दाहिर अन्त को ४० वर्ष बाद इसका उत्तराधिकारी हुआ।

सिंध राज्य की वास्तविक आन्तरिक अवस्था—चचनामे के पढ़ने से ज्ञात होता है कि सिंध राज्य बहुत शक्तिशाली और सुसंघटित था। उसके विस्तार से भी इस बात की पुष्टि होती है। परन्तु उसकी असली अवस्था ऐसी नहीं थी। कई कारणों से उसके संघटन में अनेक निर्बलताएँ आ गई थीं। इन त्रुटियों को भली भाँति जान लेने पर हम समझ सकेंगे कि सिंध में मुसलमानों की जीत होने के क्या कारण थे।

सिंध की हार का सब से बड़ा और मुख्य कारण वही जान पड़ता है जिससे संसार के इतिहास में अनेक जातियाँ दूसरी जातियों के अधीन हो जाती हैं। यह कारण था आपस की फूट, राष्ट्रीयता का अभाव और राजविद्रोह। भारतवर्ष का समस्त इतिहास इसी एक नियम का साक्षी है। इसकी पराधीनता का कारण यह नहीं था कि यह दुर्बल था और बाहरी विजेताओं ने इसे अपने बल से

जीता था। इसका वास्तविक कारण यह था कि घर के लोगों ने ही अपनी अदूरदर्शिता और मूर्खता से इसे दुश्मनों के हाथ में सौंप दिया था।

जिस समय मुसलमान लोग सिंध की सीमा पर थे, उस समय वहाँ ब्राह्मण और बौद्ध दोनों मत प्रचलित थे। चच से पहले साहिरास के वंशज बौद्ध थे और चच ब्राह्मण मत का अनुयायी था। परन्तु उसके समय में बौद्ध बहुत बल-शाली थे और उनमें बहुत से प्रान्तों के शासक भी थे जिनका जनता पर बहुत प्रभाव था। बौद्धों और ब्राह्मणों की धार्मिक प्रथाओं में तो इस समय बहुत कम भेद रह गये थे, किन्तु दोनों मतों के अनुयायियों में गहरा वैमनस्य रहता था। चच ने इन सब को अपनी शक्ति से पराजित किया और उन पर अपना प्रभुत्व जमाया। ब्रह्मनाबाद का शासक, जिसे चच को चढ़ाई करके दबाना पड़ा, स्वयं बौद्ध था। इस वैमनस्य का फल यह हुआ कि बौद्धों ने मुसलमानों से मेल कर लिया और इराक़ के बादशाह हज्जाज के पास दूत भेज कर उससे अभयदान ले लिया*। सिंध में मुसलमानों ने जितनी लड़ाइयाँ लड़ीं, उन सबमें उनकी जीत का मुख्य कारण था सिन्धी बौद्धों का राजद्रोह करके मुसलमानों से मिल जाना और उनको हर प्रकार की खुली सहायता पहुँचाना।

सिंध की निर्बलता का दूसरा कारण यह जान पड़ता है कि अपने निकटस्थ राज्यों, जैसे काश्मीर, कन्नौज इत्यादि से उसका बराबर झगड़ा रहता था। मुसलमानी आक्रमण के समय भी दाहर रमल के राजा से लड़ रहा था।

एक और बड़ा कारण यह था कि चच ने जो धोखे से पुराने वंश को नष्ट करके उसका राज्य छीन लिया था, उससे बहुत से शासक और पदाधिकारी उसके विरोधी हो गये थे। इसके अतिरिक्त उसके भाई चन्द्र की मृत्यु के बाद जो ३० वर्ष तक राज्य दो भागों में बँटा रहा, उससे भी अवश्य उसके संघटन की शक्ति पर बहुत बुरा असर पड़ा होगा।

इन बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिंध की स्थिति वास्तव में अच्छी नहीं थी और उसमें यह शक्ति नहीं थी कि बाहरी आक्रमणकारियों का बहुत काल तक सफलतापूर्वक सामना कर सकता।

भारतवर्ष पर चढ़ाई करने में मुसलमानों का अभिप्राय— भारत या अन्य देशों पर मुसलमानों के चढ़ाई करने का अभिप्राय जानने के लिये यह आवश्यक है कि इस्लाम धर्म के उन नियमों को याद रखा जाय जो अन्य धर्मावलम्बी जातियों के लिये बनाये गये थे। उनके जहाद का उद्देश्य यह था

---

* अरब और भारत के सम्बन्ध, हिन्दुस्तानी एकाडेमी से प्रकाशित। पृ० १६.

कि समस्त संसार को मुसलमान बना लिया जाय; और यदि ऐसा करना सम्भव न हो तो काफ़िर देशों पर हर वर्ष चढ़ाई की जाय। उन्हें मूर्त्तिपूजकों और देवी-देवताओं के अनुयायियों से बड़ी घृणा थी। साथ ही जब दूर दूर के देशों पर उनकी विजय होती गई तो मुसलमानों में लूट के माल-मता और दासों का लालच भी बढ़ता गया और उनके नेताओं की राज्य स्थापित करने की इच्छा भी प्रबल होती गई। यही सब कारण शुरू से ही अरब-वासियों के हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करने के भी थे। मुसलमानों के विस्तार के प्रारम्भ से ही खलीफ़ाओं की आँख भारतवर्ष पर भी लगी हुई थी। खलीफ़ा उमर जल-मार्ग से बहुत डरता था, इस कारण उसने इस देश पर चढ़ाई न की। पहले-पहल ख़लीफ़ा उसमान ने भारत पर चढ़ाई करने की तैयारी की। उसने यहाँ की अवस्था का पूरा ब्योरा जानने के लिए एक दूत भेजा। उसकी सूचना कुछ आशा-जनक न थी, इसलिये उमर ने चढ़ाई का विचार त्याग दिया। इसके बाद खलीफ़ा वलीद के काल में सिंध के विजेता मुहम्मद बिन क़ासिम और उसके स्वामी इराक़ के शासक हज्जाज में परस्पर जो पत्र-व्यवहार हुआ, उससे स्पष्ट हो जाता है कि चढ़ाई का पहला उद्देश्य मूर्त्ति-पूजा का अन्त करके इस्लाम की स्थापना करना था*।

सिंध पर चढ़ाई और विजय—सबसे पहले समुद्र के किनारों पर अरबी आक्रमण हुए थे। सन् ६३७ ई० में थाना पर हमला करने के लिये एक सेना भेजी गई और उसके पीछे भड़ोंच (भृगुकच्छ) और देबुल इत्यादि कई और नगरों पर। ये सब हमले सन् ६३४–४२ तक ख़लीफ़ा उमर के समय में हुए। इन सब में मुसलमानों की हार हुई। इसके बाद आठवीं सदी के शुरू तक कोई विशेष उल्लेख योग्य आक्रमण नहीं हुआ।

परन्तु जब अलहज्जाज इराक़ का शासक नियुक्त हुआ, तब फिर से चढ़ाइयाँ शुरू हुईं। इस समय तक इस्लाम की शक्ति का बहुत अधिक विस्तार हो चुका था। पश्चिम में मिस्र, सीरिया, कारथेज इत्यादि मुसलमान बनाये जा चुके थे और स्पेन पर भी अरबी राज्य क़ायम हो गया था। इधर फ़ारस उनके हाथ में आ चुका था। हज्जाज बहुत प्रतापी और बलशाली शासक था और बड़ा साम्राज्यवादी था। उसके समय में समरक़न्द और फ़रग़ाना तक के देश मुसलमानों ने जीत लिये। संयोग से इसी बीच में लंका के राजा ने कुछ अनाथ मुसलमान औरतों को हज्जाज के पास वापस भेजा। देबुल के पास

---

* ईलियट—जि० १, पृ० १६४ और १७३.

समुद्री डाकुओं ने उनको लूट लिया। हज्जाज ने दाहर को लिखा कि उन औरतों को छोड़ दो। परन्तु दाहर ने उत्तर दिया कि समुद्री डाकू मेरे वश में नहीं हैं। इस पर हज्जाज क्रुद्ध हो गया और उसने युद्ध छेड़ दिया। ख़लीफ़ा वलीद से बड़ी कठिनाई से आज्ञा लेकर उसने दो बार देबुल पर चढ़ाइयाँ कीं, परन्तु दोनों में उसकी फ़ौज हारी और सेनापति मारे गये।

मुहम्मद बिन क़ासिम की चढ़ाई और जीत—इसके बाद हज्जाज ने ख़लीफ़ा से विशेष आज्ञा माँग कर सिंध पर आक्रमण करने के लिये बहुत तैयारी की और अपने भतीजे तथा दामाद मुहम्मद बिन क़ासिम को ६००० फ़ौज़, ६००० ऊँट-सवार और घेरे आदि का बहुत सा सामान देकर रवाना किया। मुहम्मद बहुत योग्य, शूर-वीर और बुद्धिमान् युवक था। वह शीराज़ के रास्ते से मकरान होता हुआ, और बीच के नगरों को जीतता हुआ सन् ७१२ ई० में देबुल पहुँचा और उस पर घेरा डाल दिया। शहर में एक मन्दिर था जिसके गुम्बद पर एक बहुत ऊँचा झण्डा लगा हुआ था। चचनामे में लिखा है कि एक ब्राह्मण ने आकर मुहम्मद को बतलाया कि ज्योतिष से मुझे मालूम हुआ है कि जब तक इस झण्डे को तुम न गिराओगे, तब तक तुम्हारी जीत न होगी। मुहम्मद ने तुरन्त उस झण्डे पर निशाने लगवा कर उसे गिरवा दिया जिससे नगरनिवासी भयभीत हो गये और मुसलमानों ने धावा बोलकर नगर ले लिया। तीन दिन तक क़त्लेआम जारी रहा। शहर में मस्जिद बनाई गई और शहर की रक्षा के लिये चार हज़ार सेना एक स्थान पर रखी गई।

इसके बाद मुहम्मद नीरून (आधुनिक हैदराबाद) पहुँचा। वहाँ के बौद्ध पुजारी पहले ही से राजद्रोही बन कर हज्जाज से मिल चुके थे। उन्होंने मुहम्मद का स्वागत किया और उसे रसद पहुँचाई। फिर मुहम्मद कई और शहरों को इसी प्रकार जीतता हुआ सिविस्तान (वर्त्तमान सेहवान) पहुँचा। वहाँ उसका सामना किया गया, परन्तु वहाँ भी बौद्ध लोग शत्रु से जा मिले और अपने शासक के विरोधी हो गये। बौद्ध लोगों की धर्म्म-पुस्तकों में यह भविष्यद्-वाणी पाई जाती थी कि भारतवर्ष को मुसलमान विजय करेंगे। शायद मुसलमानों का साथ देने में वे इस कारण से भी प्रेरित हुए हों। सिविस्तान को जीतने के बाद मुहम्मद ने आस-पास के सरदारों को रिश्वतें दे देकर अपनी तरफ़ मिला लिया और उन्होंने उसे सिन्धु पार करने के लिये नावें इत्यादि देने का वादा किया। अब मुहम्मद सिन्धु के पश्चिमी किनारे पर आकर ठहर गया। यह देखकर दाहर ने भी तैयारी की और सामनेवाले किनारे पर आकर अपनी सेना जमा दी। दो महीने पड़े रहने के बाद मुहम्मद ऊपर की

ओर बढ़ा और नदी को पार करके बेट के क़िले को लेता हुआ राउर के प्रान्त में एक झील के किनारे जा ठहरा, और दाहर के लड़के जयसिंह की सेना को मार भगाया। बेट के क़िलेदार दो भाइयों ने अपने स्वामी दाहर का विरोध कर मुहम्मद को सहायता दी। उनकी सलाह से वह उस झील के पार हुआ और दाहर को अपनी सेना हटाकर राउर के क़िले में जाना पड़ा। यहाँ दोनों में बड़ा घमासान युद्ध हुआ। इतना धोखा और विद्रोह होते हुए भी दाहर बहुत वीरता से लड़ा। अरब सेना में भगदड़ मच गई। यह हाल देखकर मुहम्मद ने उनसे ईश्वर के नाम पर प्रार्थना की और सिन्ध के विद्रोही सरदार उसकी सहायता को पहुँच गये। दुर्भाग्यवश दाहर की अम्बारी पर एक तीर लगा और उसमें आग लग गई जिसके कारण उसका हाथी पानी में कूद पड़ा। दाहर बचकर किनारे पर तो आ गया, पर अब चारों ओर से उसी पर वार होने लगे। एक तीर उसकी छाती में लगा। तब दाहर धीरे धीरे हाथी से नीचे उतर आया और एक मुसलमान ने उसका सिर काट डाला। राजा के मरते ही सेना में भगदड़ मच गई। जयसिंह भागकर ब्रहमनाबाद के क़िले में जा छिपा और अपनी विधवा माता को राउर में छोड़ गया। वह वीर स्त्री पहले तो बहुत बहादुरी से लड़ती रही। परन्तु जब देखा कि बचना कठिन है, तब यवनों के अपवित्र हाथों से अपनी रक्षा करने के लिये क़िले के अन्दर की सब राजपूत देवियों को एकत्र करके सब के साथ अग्नि में भस्म हो गई। मुहम्मद ने क़िले के ६००० निवासियों को क़त्ल किया और दाहर का सारा माल-मता ले लिया। अब मुहम्मद रास्ते के क़िलों को लेता हुआ ब्रहमनाबाद पहुँचा। जयसिंह ने आलोर और ब्रहमनाबाद में बड़ी तैयारी की, परन्तु उसका मन्त्री मुहम्मद क़ासिम से जा मिला जिसके कारण उसे भारी क्षति पहुँची। तब भी ब्रहमनाबाद के क़िले पर छः महीने तक मुसलमानों ने घेरा डाले रखा और रोज़ दोनों दलों में लड़ाई होती रही। यहाँ तक कि मुहम्मद क़ासिम का दिल टूट गया और उसे क़िला जीतने की कोई आशा न रही। पर यहाँ भी राजविद्रोह और छल ने अपना काम किया। शहर के कुछ बड़े बड़े लोग दुश्मन से जा मिले और क़िला धोखे से उसे सौंप दिया। इसके बाद मुहम्मद आलोर पहुँचा। वहाँ दाहर का छोटा लड़का शासक था। वहाँ भी नगर-निवासियों के विद्रोह के कारण उसे भागना पड़ा और आलोर मुहम्मद के हाथ में आ गया।

अन्त में मुहम्मद अन्य छोटे छोटे क़िले लेता हुआ मुलतान पहुँचा और दो महीने तक व्यर्थ लड़ता रहा। यहाँ भी एक देशद्रोही ने मुहम्मद को नगर में पानी पहुँचने का स्थान बतला दिया। उसने तुरन्त पानी रोक दिया और उन

लोगों को विवश होकर क़िला छोड़ देना पड़ा। किले की फ़ौज का क़त्ले आम हुआ और मुलतान के सरदारों और सैनिकों के सम्बन्धियों को ग़ुलाम बनाया गया। मुलतान की जनता, व्यापारी, दस्तकार, जाट इत्यादि मुहम्मद का स्वागत करने के लिये गये। मुसलमानी शासन तुरन्त स्थापित हो गया। जो लोग मुसलमान नहीं हुए, उन पर जज़िया लगाया गया। यहाँ मुहम्मद ने मन्दिर नहीं तोड़े और यहाँ का शासन स्थानीय लोगों की सहयाता से चलता था।

मुलतान की जीत मुहम्मद की अन्तिम जीत थी। इसके बाद उसने सिर्फ दो चार छोटे छोटे स्थान लिये और तब कन्नौज पर चढ़ाई करने को एक सेना भेजी। परन्तु इसी समय हज्जाज की सन् ७१४ ई० में और ख़लीफ़ा वलीद की ७१५ में मृत्यु हो जाने से ख़लीफ़ा सुलेमान ने, जो उसका दुश्मन था, उसे तुरन्त वापस बुलवा कर बड़ी यातना पहुँचाकर मरवा डाला*।

उमैय्या वंश के पतन काल में सिंध लगभग स्वतन्त्र सा ही रहा। आठवीं शताब्दी के मध्य में अब्बासी वंश के ख़लीफ़ा ने फिर से सिंध को जीतने का यत्न किया। सिंध के मुसलमान सूबेदार ने काश्मीर पर भी चढ़ाई की, परन्तु वहाँ के प्रतापी राजा ललितादित्य मुक्तापीड़ (सन् ७३३–७६९) ने उसे मार भगाया†। इसके बाद और भी कई बार इसी प्रकार के यत्न किये गये, परन्तु सब निष्फल रहे।

अब्बासी वंश के पतन काल में सिंध का मुस्लिम शासक बिलकुल स्वतन्त्र होकर राज्य करने लगा और अन्त में दो स्वतन्त्र मुस्लिम अमीर, एक ब्रहमनाबाद में और दूसरा मुलतान में, राज्य करने लगे।

---

* चचनामे में लिखा है कि क़ासिम ने राजा दाहर की दो कन्याओं को दासी बना कर उपहार के रूप में ख़लीफ़ा वलीद के पास भेजा था। उन कन्याओं ने ख़लीफ़ा क़ासिम से अपने पिता का बदला लेने के लिये वलीद से शिकायत की कि क़ासिम ने पहले ही हमारा कुमारित्व नष्ट कर दिया है। इस पर वलीद को इतना क्रोध आया कि उसने क़ासिम को कच्ची खाल में ज़िन्दा सिलवा कर मंगवा लिया जिससे रास्ते में ही उसके प्राण निकल गये। फिर उन कन्याओं ने अपने पिता के शत्रु का बदला चुक जाने पर सन्तोष प्रकट किया और कहा कि ख़लीफा को बिना जाँचे किसी बात पर विश्वास नहीं करना चाहिए। इस पर ख़लीफ़ा ने उन दोनों को घोड़ों की दुमों से बंधवा कर घसिटवा कर मार डाला। इस घटना का ज़िक्र बिलाज़ुरी ने अपने "फ़तूहुल बुल्दान" में नहीं किया है। दूसरे उस समय ख़लीफ़ा वलीद सुलेमान नहीं था जिसने दुश्मनी के कारण क़ासिम को मरवाया था। इसलिये इसके सत्य होने में सन्देह है।

† देखो ज० ई० हि० जि० १०, भाग० १ डा० यू० स० पृ० ४२–४४।

सिंध के हिन्दुओं को हार के कारण—हम ऊपर कह आये हैं कि भारत में आने के लिये पश्चिम की ओर चार द्वार हैं। इनमें से तीन के द्वारा मुसलमानों ने आने का यत्न किया, परन्तु काबुल और ज़ाबुल के राज्यों ने और बोलन के पास कीकान के जाटों ने उन्हें देश में आने न दिया। ये जातियाँ दो सौ वर्ष तक बराबर बड़ी वीरता से इस्लाम की बढ़ती हुई बाढ़ को रोकती रहीं। जल-मार्ग से अरब लोग इसलिये न आ सके कि वे जलयुद्ध में सर्वथा अयोग्य थे। इन सब मार्गों में विफल रहने पर उन्होने सिंध और मकरान का बीहड़ मार्ग टटोला। इस मार्ग से आने में उन्हें कई कारणों से सफलता प्राप्त हुई। सबसे मुख्य कारण तो यह प्रतीत होता है कि दाहर बहुत वीर, बलवान और योद्धा तो था, परन्तु विचारशील और दूरदर्शी नीतिज्ञ न था। उसे उचित था कि जब अरब लोगों ने जल-मार्ग से आना शुरू कर दिया था और उनका घेरों का भारी भारी सामान केवल जल-मार्ग से ही लाया जा सकता था, तो वह जल-सेना को सुसंघटित करके वहीं पर उनका सामान रोक देता और नष्ट कर देता। पर उसने कभी इस बात का विचार ही नहीं किया। जब तक दुश्मन उसके दरवाजे पर न आ धमका, तब तक वह सोया रहा। मुहम्मद कासिम को उसने बिना रोक टोक सिंधु पार कर लेने दिया। इससे अधिक अंधापन कोई राजा नहीं दिखला सकता। दूसरे उसे ऐसे समय में बौद्ध पुजारियों, श्रमणों और सूबेदारों एवं अमीरों को मिलाये रखना चाहिए था। उनका बार बार दुश्मनों से जा मिलना स्पष्ट बतलाता है कि दाहर में उनको मित्र बनाये रखने की बुद्धि न थी। उसके राज्य में इतना बड़ा समुद्री किनारा था, तो भी उसके पास कोई जल-सेना नहीं थी। यह भी उसकी कमज़ोरी का एक बड़ा भारी कारण था। इसके सिवा बौद्ध लोगों का विद्रोह और धोखा उसकी हार का एक बड़ा भारी कारण हुआ। एक और कारण यह भी मालूम होता है कि उस समय के ब्राह्मण और बौद्ध ज्योतिषियों ने यह भविष्यद्वाणी की थी कि इस देश पर मुसलमान अवश्य विजय प्राप्त करेंगे। फिर राजा को एक ओर अपने पड़ोसियों से लड़ाई करनी पड़ी थी; और दूसरी ओर हज्जाज की बड़ी भारी तैयारी थी; और मुहम्मद बिन क़ासिम की योग्यता, सच्ची स्वामि-भक्ति और कार्यपरायणता भी मुसलमानों की सफलता के बड़े कारणों में से थी।

सिंध से आगे मुसलमान भारतवर्ष में इसलिये न घुस सके कि एक तो देश के अन्य राजा और शासकगण इससे पूरी तरह से सचेत हो गये थे; और दूसरे उधर खिलाफ़त में झगड़े पड़ने के कारण अरब लोगों की शक्ति का स्रोत ही निर्बल हो गया था।

सिंध पर अरबी शासन—सिंध के अरब-विजेताओं ने जल्दी ही इस बात का अनुभव कर लिया कि ठेठ मुसलमानी सिद्धान्तों और पद्धतियों के अनुसार शासन करना असम्भव होगा। इसलिये विवश होकर उन्हें अपने नियमों की कड़ाई को शनैः शनैः बहुत कम करना पड़ा। यह देख कर कि देश के पुराने शासकों की सहायता के बिना कार्य करना असम्भव होगा, उन्होंने शासन का सारा काम, विशेषतया कर वसूल करने का काम ब्राह्मणों के हाथ ही में रखा। प्रत्येक प्रान्त के लिये एक सूबेदार या अमीर और प्रत्येक क़िले के लिये एक क़िलेदार नियत कर दिया गया और रक्षा के लिये उन्हें काफी सेना दे दी गई जिससे वे बलवे दबा सकें।

सरकार की आमदनी के मुख्य साधन तीन थे। इनमें से पहला लड़ाई की लूट था। इसका पाँचवाँ हिस्सा तो खलीफ़ा को भेजा जाता था और शेष फ़ौज में बाँट दिया जाता था। दूसरे भूमि-कर। यदि सरकारी नहरों से खेत सींचा जाता था तो पैदावार का ४० फ़ी सदी लगान लिया जाता था, अन्यथा २५ फ़ी सदी। फलों पर पैदावार का १/३ भाग कर रूप में लिया जाता था और अन्य वस्तुओं पर १/५ कर जिन्स या नक़द दोनों रूपों में दिया जा सकता था। इसके अतिरिक्त अन्य छोटे छोटे कर भी लिये जाते थे जिनका ठेका नीलाम कर दिया जाता था। आय का तीसरा स्रोत जज़िया था। जो लोग मुसलमान धर्म ग्रहण नहीं करते थे, उनसे जज़िया उनकी हैसियत के अनुसार, बड़ी कड़ाई से वसूल किया जाता था। चुंगी इत्यादि हिन्दुओं को मुसलमानों से दूनी देनी पड़ती थी।

न्याय का काम क़ाज़ी लोग करते थे। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच न्याय करने का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था। क़ाज़ी लोग क़ुरान के विधान के अनुसार न्याय करते थे। अमीरों और सरदारों को अपने अपने प्रान्त में अपराधियों को प्राण-दण्ड तक देने का अधिकार था। राजनीतिक और सामाजिक अपराधों के लिये तो क़ुरान का क़ानून ही प्रयुक्त होता था, परन्तु व्यक्तिगत झगड़ों जैसे सम्पत्ति, उत्तराधिकार, दुराचार इत्यादि का हिन्दू लोगों की अपनी पंचायतें फ़ैसला करती थीं। इन पंचायतों का कार्य बहुत अच्छा होता था। परन्तु मुसलमानी सरकार की कचहरियों में हिन्दुओं के साथ बहुत अत्याचार होता था, जिसमें तंग आकर वे मुसलमान हो जायँ। राजा और प्रजा में परस्पर स्नेह और विश्वास का सर्वथा अभाव था।

अरब सैनिक देश में कई स्थानों पर बस गये और हिन्दुस्तानी औरतों से विवाह करके उन्होंने अपने उपनिवेश बना लिये। मनसूरा, मुलतान इत्यादि नगर इसी प्रकार बसे थे। परिणाम यह हुआ कि सुख-सम्पत्ति और विलासपूर्ण

जीवन व्यतीत करने से अरबों की सैनिक शक्ति निर्बल हो गई। साथ ही उनको रोजगार का लालच हो गया था। फल यह हुआ कि उनकी शक्ति इतनी घटी कि आवश्यकता पड़ने पर बाहर से वैतनिक सेना भरती करनी पड़ती थी।

पहले तो अरब लोगों ने हिन्दुओं के साथ बहुत असहिष्णुता का व्यवहार किया। देबल, नीरूँ, आलोर इत्यादि नगरों में मन्दिर तोड़े और जनता को मुसलमान बनाया। क़त्ले आम किये और लाखों मर्दों, औरतों और बच्चों को दास बनाकर बेचा। परन्तु जब उन्होंने देखा कि समस्त हिन्दू जनता को मुसलमान बनाना असम्भव है, तब उनके साथ कुछ नरमी का बर्ताव किया; अर्थात उनको वे ही हक दे दिये जो "अहलुल किताब" या "पवित्र पुस्तक में उल्लिखित" जातियों, जैसे—ईसाई, यहूदी इत्यादि को दिये थे। प्रायः मन्दिर आदि तोड़ना बन्द कर दिया और खलीफ़ा की अनुमति से जज़िया देनेवालों को यह आज्ञा दे दी गई कि वे अपने मन्दिरों इत्यादि में पूजा कर सकें और अन्य प्रकार से अपना धर्म पालन कर सकें। परन्तु फिर भी प्रजा को अनेक प्रकार के अपमान और अत्याचार सहने पड़ते थे; जैसे प्रत्येक मुसलमान पथिक को तीन दिन तक ठहराना और भोजन देना, इत्यादि। किसानों की अवस्था दासों से कुछ भी अच्छी न थी। कुछ प्रान्तों के जाटों को जरायम-पेशा समझा जाता था। हिन्दू राज्यों में भी उनके साथ पशुओं का सा व्यवहार किया जाता था। वे शहर के बाहर रहते थे। यदि कोई चोरी या हत्या हो जाती तो उसके लिये वही ज़िम्मेदार ठहराये जाते थे। मार्गों की रक्षा का भार भी उन्हीं के ऊपर था। इनके लिये चोरी का दण्ड इतना कठोर था कि चोर के समस्त कुटुम्ब को जीवित जला दिया जाता था। मुहम्मद बिन क़ासिम ने इन नियमों में कोई परिवर्त्तन नहीं किया।

व्यापारोन्नति—अरब शासन में सिंध व्यापार का एक बड़ा केन्द्र बन गया। समस्त मुसलमानी देशों से जल और स्थल मार्गों के द्वारा सिंध का व्यापार होने लगा। लंका, मलाबार और अन्य दक्षिणी प्रदेशों का व्यापार ख़ुरासान और तुर्किस्तान इत्यादि देशों से सिंध के मार्ग से ही होता था। अरब से घोड़े और शस्त्र यहाँ आते थे। सिन्ध के किनारे पर बहुत से अरब उपनिवेश बस गये थे।

अरब शासन अस्थायी था—भारत में अरब शासन स्थायी नहीं हो सकता था। इसके कई कारण थे। एक तो यह कि ये लोग हिन्दू प्रजा को सन्तुष्ट न कर सके। दूसरे जब उनका जोश ठण्डा पड़ा और वे देश में स्वय बस गये, तब उनके घरेलू झगड़े फिर शुरू हो गये और उनके अमीर और सरदार स्वतन्त्र होने का यत्न करने लगे। तीसरे सिंध देश ऐसा था जिसकी

उपज इत्यादि से इतनी आमदनी न हो सकती थी जिससे वहाँ के शासन का व्यय भी निकल सकता। चौथे उस तरफ़ से देश में आगे बढ़ना असम्भव था। राजपूत लोग उनको अन्दर घुसने से रोकने के लिये यथेष्ट शक्तिशाली थे। अन्त में मुहम्मद बिन क़ासिम के बाद कोई योग्य शासक वहाँ न आया और खिलाफ़त स्वयं अपने निजी झगड़ों से निर्बल हो गई।

अरब-विजय का संस्कृति पर प्रभाव—हिन्दुओं की सभ्यता, आचार-विचार, साहित्य, अध्यात्म विद्या इत्यादि पर अरब लोगों का कोई प्रभाव न पड़ा। हिन्दुओं का आन्तरिक जीवन पहले के समान बना रहा। परन्तु इसके विरुद्ध अरब की सभ्यता पर भारतीय साहित्य और संस्कृति का बहुत भारी प्रभाव पड़ा। हेवेल का मत है कि इसलाम के यौवन काल में भारतवर्ष उसका गुरु था जिसने उसे अनेक विद्याएँ सिखलाईं, और उसके साहित्य, कला इत्यादि को एक विशेष रूप दिया, न कि यूनान ने *। अब्बासी खलीफ़ाओं के समय में और विशेष कर हारूनुर्रशीद के समय में (सन् ७८६-८०६ ई०) सैकड़ों विद्वान् भारत की विद्याएँ और कलाएँ सीखने के लिये यहाँ भेजे गये। चिकित्सा, शल्य, गणित (इल्मे हिन्दसा †) ज्योतिष (नजूम) रसायन (कीमिया), भूगर्भ, भूगोल और अध्यात्म विद्या इत्यादि अनेक विद्याएँ इन्होंने यहाँ आकर सीखीं। भिन्न भिन्न विषयों के हज़ारों संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद अरबी में किये गये। वहाँ अनुवाद का एक स्वतन्त्र विभाग ही स्थापित कर दिया गया था जिसमें भारत से बड़े बड़े विद्वानों को बुलाकर रखा जाता था। अरब के द्वारा भारत की यह विद्याएँ यूरोप में भी पहुँचीं और इटली इत्यादि सभ्यता के केन्द्रों पर उनका बड़ा भारी और स्थायी प्रभाव पड़ा।

साहित्य सम्बन्धी इस काम का श्रेय बरामका वंश को है जिसने अब्बासी खिलाफ़त के प्रारम्भ से बहुत ही चतुराई, सुव्यवस्था, उदारता और दानशीलता से ५० वर्ष (सन् १३६-१८६ हि०) तक मन्त्री के कर्तव्यों का पालन किया। ये लोग पहले फ़ारस में बल्ख़ के रहनेवाले और अग्नि के उपासक थे। मुसल्मान हो जाने पर भी इनकी भक्ति और प्रेम अपने प्राचीन आर्य साहित्य और धर्म में ही बनी रही। इन्हीं के प्रोत्साहन से खलीफ़ा मन्सूर के समय (सन् ७७१ ई०) में गणित का एक बहुत बड़ा पण्डित अपने कई साथियों

---

* हैवले का "आर्यन रूल इन इण्डिया" पृ० २५६.

† अरब लोग अंक को "हिंदसा" इसी लिये कहते थे कि यह विद्या उन्होंने "हिन्द" या भारत से सीखी थी।

को लेकर बग़दाद पहुँचा और उसने अपनी पुस्तकों का अरबी में अनुवाद किया। इसके बाद वहाँ भारत से अनेक विद्वान् बुलाये गये और वहाँ भारतीय सभ्यता तथा साहित्य का सिक्का बैठ गया, और उसकी उज्ज्वल कीर्त्ति दूर दूर तक फैल गई* ।

---

* इस विषय का विस्तृत विवरण जानने के लिये देखो अलबैरूनी की "किताबुल हिन्द' और मौ० नदवी की हिं० ए० द्वारा प्रकाशित—"अरब और भारत के सम्बन्ध" नामक पुस्तक।

चौथा अध्याय

राज्य-स्थापना का आरम्भ

ग़ज़नवी वंश का प्रयास

यामिनी या ग़ज़नवी वंश का अभ्युदय और १० वीं शताब्दी में मुस्लिम जगत—अरबवाले इस्लाम की पताका सिंधु के पश्चिमी किनारे से आगे न बढ़ा सके। केवल मुलतान और मनसूरा इन दो स्थानों पर इस्लामी राज्य कायम हुए। परन्तु इनसे शेष भारत पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ सका और १० वीं शताब्दी के अन्त तक यह देश इस्लाम के आक्रमणों से रक्षित रहा। ई० दसवीं शताब्दी तक मुस्लिम जगत में बड़ा भारी परिवर्तन हो चुका था। उसके कारण एक ही शताब्दी के अन्दर इस्लाम का जो अद्भुत विस्तार और उन्नति हुई, वही उसके ह्रास का भी एक बड़ा कारण बन गई। खिलाफ़त की भूमि का इतना विस्तार हो गया था कि उसका एक केन्द्र से शासित होना अत्यन्त दुष्कर था। यद्यपि नाम मात्र को खलीफा इस्लामी जगत् का सर्वोच्च अधिकारी माना जाता था, पर वस्तुतः भिन्न भिन्न स्थानों पर शासक-गण स्वतन्त्र हो बैठे थे। दूसरे, जब से आठवीं शताब्दी में उम्मैया वंश का अस्त हुआ और अब्बासी वंश ख़िलाफ़त का अधिकारी हुआ, तब से मुसलमानों का वह पुराना जोश और इस्लाम को सारे संसार में फैलाने का एक मात्र उद्देश्य तथा आकांक्षा ठण्डी पड़ गई। इस काल में कोई नया देश नहीं जीता गया। ख़िलाफ़त की राजनीतिक उन्नति रुक सी गई। परन्तु अब्बासी वंश ने, जो फारस की सहायता पर निर्भर था, साहित्य और कलाओं की विशेष उन्नति की। फल यह हुआ कि ख़िलाफ़त में अरब के स्थान पर फारस और उसके विचारों का प्राधान्य हो गया। परन्तु खिलाफत का साम्राज्य छिन्न भिन्न होकर छोटे छोटे टुकड़ों में बँट गया। फ़ारस और तुर्किस्तान इत्यादि स्थानों में नये राज्य स्थापित हो गये। इन्हीं नये राज्यों में सबसे प्रसिद्ध राज्य समनी वंश का था जिसे समन निवासी अमीर इस्माईल ने सन् ९११ ई० में बुखारा में स्थापित किया था। समनी वंश का राज्य फ़ारस के पश्चिमी भाग में, जो मावरा उन्नहर-* कहलाता था और खुरासान पर था। परन्तु इस वंश की स्थिति आरम्भ

* इस शब्द का अर्थ है 'दो नहरों या नदियों के बीच का स्थान'। इसी से मध्य एशिया में जो स्थान सर और अमू नाम की नदियों के बीच में है, उसे भी इसी नाम से पुकारते हैं।

से ही बहुत अस्थिर थी। इसके उत्तर-पश्चिम में तुर्क और तातारी सरदार बड़े भयानक थे जो अभी तक मुसलमान नहीं हुए थे। पूर्वी फारस में एक और बड़ा बलशाली वंश राज्य कर रहा था जिसने अपना अधिकार शनैः शनैः इराक़ तक फैला लिया। यहाँ तक कि बग़दाद भी उसके नियन्त्रण में आ गया। इस अवनति के काल में समनी अमीरों ने राज्य की रक्षा के लिये तुर्क सरदारों को नियत करना आरम्भ कर दिया था। तुर्क लोग ही प्रायः सेना में भरती किये जाते थे और वे ही अमीरों के चोबदार, अंगरक्षक तथा सीमा प्रान्तों के रक्षक भी होते थे। दसवीं शताब्दी के मध्य तक तुर्कों ने लगभग सारे विभागों से फ़ारसवालों को निकाल कर अपना पैर जमा लिया था। केवल आन्तरिक शासन और साहित्य एवं कला में तुर्कों का हस्तक्षेप नहीं था। परन्तु सैनिक बल उन्हींके हाथ में था जिससे उनका प्राबल्य बहुत बढ़ गया था। दसवीं सदी के बाद पूरब के देशों में इस्लाम की पताका ले जानेवाले यही तुर्क थे। इनके आचार-विचार तथा साम्राज्य के आदर्श किन प्रवृत्तियों के योग से बने थे, इसका संक्षिप्त वर्णन हम दूसरे अध्याय में कर आये हैं।

महमूद ग़ज़नवी का पिता अमीर सुबुक्तगीन खुरासान के सरहदी तुर्क सरदार का गुलाम था। वह सन् ९७७ में ग़ज़नी पर अधिकार करके स्वतन्त्र हो गया और अपना साम्राज्य पूरब तथा पच्छिम में फैलाने लगा। पीछे के मुसलमान लेखकों ने उसके हमलों इत्यादि को जहाद बतलाया है और उसकी बड़ी प्रशंसा की है कि उसने इस्लाम धर्म का विस्तार करने के अभिप्राय से हिन्दुओं पर चढ़ाइयाँ कीं और मूर्तिपूजकों का संहार किया। परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं प्रतीत होता *। सुबुक्तगीन का उद्देश्य प्रायः राजनीतिक प्रतीत होता है, क्योंकि उसने अपने राज्य का विस्तार करने में मुसलमानी राज्यों को भी नहीं छोड़ा। पहले तो उसने अपने शासन की त्रुटियों को सुधारा और शान्ति तथा न्याय की स्थापना की। फिर भारतीय सीमा के कुछ नगरों को ले लिया। इससे भारतीय राजाओं से उसकी मुठभेड़ हो गई। उस समय अफ़गानिस्तान राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से भारत में ही सम्मिलित था और ओहिन्द के हिन्दू शाही राजा जयपाल का एक प्रान्त था। जब मुसलमान धीरे-धीरे बढ़ते हुए लमगान † तक पहुँच गये और वहाँ की बौद्ध जनता उनसे

---

* इस प्रश्न पर कर्नल हेग की राय से लेखक सहमत है। देखो के० हि० ई०, जि० ३७, पृ० १२ तक (१९२८ का संस्करण)।

† लमगान काबुल नदी के दक्षिणी प्रान्त का नाम है।

बहुत दुःखी हुई, तो जयपाल को बहुत बुरा लगा और उसने सुबुक्तगीन को पीछे हटाने की ठानी। अतएव वह सेना लेकर लमग़ान पहुँचा। दोनों दलों में कई दिनों तक बड़ा घमासान युद्ध हुआ। अन्त में बरफ़ का तूफ़ान आ जाने के कारण हिन्दुओं की हिम्मत टूट गई और जयपाल को सन्धि करनी पड़ी। उसने दस लाख दिरहम और पचास हाथी विजेता को देना स्वीकार किया।

परन्तु जब लाहौर जाकर जयपाल ने अपना वादा पूरा न किया, तब सुबुक्तगीन ने लमग़ान में फिर लूट-मार शुरू कर दी। जयपाल ने अन्य देशी राजाओं से सहायता माँगी और कालिंजर, कन्नौज, अजमेर आदि के राजाओं ने उसके सहायतार्थ सेना और रुपया भेजा। तब जयपाल एक बहुत बड़ी सेना लेकर फिर लड़ने पहुँचा। परन्तु फिर उसकी हार हुई, क्योंकि उसकी सेना बड़ी तो बहुत थी, परन्तु भानमती के कुनबे की भाँति बहुविध और अव्यवस्थित थी। इस लड़ाई का फल यह हुआ कि लमग़ान और पेशावर तक का देश ग़ज़नी के राज्य में चला गया। सुबुक्तगीन ने उस प्रान्त पर अपने कर वसूल करने-वाले नियत कर दिये और पेशावर की रक्षा के लिये २००० सेना रख दी। थोड़े दिन बाद घरेलू कलह के कारण खुरासान भी ग़ज़नी के साम्राज्य में मिल गया।

महमूद—सन् ९९७ में सुबुक्तगीन की मृत्यु हुई और थोड़े झगड़े के बाद उसका बेटा महमूद ग़ज़नी का अमीर हुआ। महमूद अपने समय का सब से योग्य सैनिक था। युद्ध-विद्या में वह आरम्भ से ही प्रवीण था। यद्यपि सूरत उसकी बहुत भद्दी थी, तथापि उसकी बुद्धि इतनी तीव्र थी कि उसके सब साथियों को उसके सामने सिर झुकाना पड़ता था। इसी कारण जिस तुर्की सलतनत की बुनियाद उसके पूर्वजों ने डाली थी, उसका विस्तार करना उसी का काम था।

सुलतान की गद्दी पर बैठते ही महमूद को एक अवसर मिला। समनी वंश में फिर उत्तराधिकार सम्बन्धी युद्ध हुआ। इससे लाभ उठाकर काशग़र के अमीर ईलाक़ खाँ और महमूद ने बुख़ारा का राज्य आधा आधा बाँट लिया। अमू नदी दोनों के बीच की सीमा निश्चित हुई।

सन् ९९९ ई० के अन्त में महमूद ने सुलतान की उपाधि धारण की; और ख़लीफ़ा ने उसे "अमीन-उल् मिल्लत" और "यमीनुद्दौला" के ख़िताब प्रदान किये *। अब वह समनी अमीरों का स्थानापन्न हो गया। इसी समय उसने यह प्रण किया कि हर वर्ष हिन्दुओं के विरुद्ध "धर्म्म-युद्ध" के लिए

---

* तभी से गजनवी वंश "यामिनी वंश" कहलाने लगा था।

चढ़ाई अथवा जहाद किया करूँगा। यह प्रण उसने यथा-सम्भव मरण पर्यन्त निभाया।

महमूद ने सन् १००० से १०२६ ई० तक भारतवर्ष पर सत्रह हमले किये। (१) सन् १००० में उसने सीमा के कुछ शहरों और क़िलों को लूटा और अपने अधिकार में करके उन पर अपने शासक नियत कर दिये। (२) अगले वर्ष (सन् १००१-१००२) वह फिर सेना लेकर पेशावर पर चढ़ आया। भटिण्डा के राजा जयपाल ने बड़ी तैयारी के साथ उसका मुकाबला किया। परन्तु उसकी हार हुई और वह सुलतान के हाथ वन्दी हो गया। बहुत से रुपये लेकर सुलतान ने उसे छोड़ दिया, परन्तु उसने राज्य अपने बेटे को सौंप कर अग्नि से जलकर प्राण त्याग दिये। इसके बाद दो वर्ष तक महमूद सीस्तान आदि को जीतने में लगा रहा। (३) सन् १००३ में पहले-पहल सिंधु नदी को पार कर वह भेरा पर, जो झेलम नदी के किनारे है, चढ़ आया। यह एक बड़े शक्तिशाली स्वतन्त्र राज्य का केन्द्र था। भेरा के राय ने महमूद का चार दिन तक सामना किया और मुसलमानों के पैर उखड़ने लगे। परन्तु अन्त में महमूद के स्वयं एक ज़ोरदार हमले ने उसकी सेना को दबा लिया। राय आत्महत्या करके मुसलमानों के हाथ में पड़ने से बच गया और भेरा ग़ज़नवी राज्य में मिला लिया गया। (४) सन् १००५-६ में महमूद ने सिंधु के मुसलमान शासक को, जो शरीयत से मुनकिर हो गया था, अर्थात् इस्लाम धर्म के नियमों का पालन करने से इनकार करने लगा था, दबाया। (५) भेरा में महमूद ने आनन्दपाल के एक बेटे सुखपाल (नवासा शाह) को मुसलमान करके शासक बना दिया था। वह फिर से इस्लाम धर्म को त्याग कर स्वतन्त्र हो गया। महमूद ने उसे कैद में डाल दिया और भेरा को गज़नी के राज्य में मिला लिया।

(६) भेरा का क़िला सैनिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का था। वह झेलम के किनारे ऐसे स्थान पर बना था जहाँ से उधर तो मुसलमानों पर हमला हो सकता था और इधर देश के अन्दर घुसने का द्वार था। साथ ही महमूद यह भी समझता था कि बिना आनन्दपाल का अन्त किये देश में घुसना असम्भव है। जब तक महमूद सिंधु नदी के उस पार रहा, तब तक देशी राजाओं ने कोई परवा न की। परन्तु जब उसने भेरा ले लिया और १००८ में आनन्दपाल पर चढ़ाई की, तब इस घटना का महत्त्व और भावी आशंका उनको कुछ कुछ दिखाई देने लगी। इसी लिये जब आनन्दपाल ने उनसे सहायता के लिये अनुरोध किया तो ग्वालियर, कालिंजर, कन्नौज, अजमेर

और उज्जैन के राजाओं ने अपनी अपनी सेनाएँ उसकी सहायता के लिये भेजीं। मुलतान के खोखर लोगों की भी एक बड़ी सेना आ गई। सारे देश ने बड़े जोश के साथ देश-रक्षा के इस कार्य में सहायता दी*। राजा और प्रजा में देश और धर्म के प्रेम की कमी नहीं थी। कमी थी संघटन की, विनय की, और उस जातीयता के भाव की जो व्यक्तिगत झगड़ों और स्वार्थ के ऊपर उठ कर सर्वोपरि देश और जाति के लाभ और हानि की चिन्ता करता है। पारस्परिक कलह और जात-पाँत के अथवा वंश के मिथ्या गौरव ने उनके दिलों से उच्च राष्ट्रीयता का मंत्र भुला दिया था। वे देश और धर्म की रक्षा तो करना चाहते थे, पर यह नहीं जानते थे कि इस कार्य में सफल होने का मूल मन्त्र क्या है। वे किसी एक सरदार या राय को अपना सर्वोच्च नेता या अधिकारी बना कर नहीं लड़ सकते थे। उनकी आपा-धापी ने पारस्परिक द्वेष और अविश्वास को खूब हरा-भरा रखा और इस फूट की अग्नि में सब भस्म हो गये। हम ऊपर शासन प्रबन्ध के प्रसंग में बतला आये हैं कि राजपूत काल का राजनीतिक और सामाजिक संघटन ही इस प्रकार का था जिसमें राजनीतिक ऐक्य की आवश्यकता का वे अनुभव ही नहीं कर सकते थे। इसके प्रतिकूल मुसलमानों में विनय, (discipline), उद्देश्य की एकता, परस्पर भेदभाव का अभाव और एक नेता का नेतृत्व आदि सभी आवश्यक गुण उपस्थित थे। ४० दिन तक दोनों सेनाएँ आमने-सामने पड़ी रहीं। लड़ाई झेलम के किनारे उन्द नाम के स्थान पर हुई। आरंभ में हिन्दू इतनी वीरता से लड़े कि दम के दम में तीन चार हज़ार मुसलमानों को तलवार के घाट उतार दिया। महमूद के भी होश गुम हो गये। परन्तु भाग्य भी हिन्दुओं से रूठ गया था। इसी समय आनन्दपाल का हाथी बारूद की आग से भड़क कर भाग निकला। अविश्वासी राजाओं ने समझा कि वह हमें धोखा देकर भाग रहा है। बस सारी सेना में भगदड़ मच गई। दो दिन तक ग़ज़नी की सेना उनका पीछा और लूट-मार करती रही। हिन्दुस्तानी फ़ौज के आदमी तो केवल ८००० के करीब ही मरे, परन्तु उनके इस प्रकार

---

* मुसलमान लेखकों ने यह भी लिखा है कि हिन्दू स्त्रियों ने अपने ज़ेवर बेच कर रुपयों से सहायता की थी। पर यह बात निराधार जान पड़ती है, क्योंकि उस देश में, जहाँ इतना बिपुल धन था कि उसकी खबर सुनकर महमूद उसे लूटने आया, पहली ही लड़ाई में यह नौबत आ गई हो, यह असम्भव है। दूसरे यह भी निश्चय नहीं कि कितने राजाओं ने आनन्दपाल का साथ दिया था। जान पड़ता है कि महमूद की शक्ति की अधिक प्रशंसा करने के लिये ही यह अतिशयोक्ति की गई है।

भाग निकलने ने स्पष्ट दिखला दिया कि उनमें ऐक्य का कितना अभाव था। भारतीय राष्ट्र की सारी शक्ति इस समय महमूद के सामने पराजित हुई। फल यह हुआ कि फिर वे कभी अपनी रक्षा के लिये इकट्ठे न हो सके और महमूद ने एक एक करके सब का दमन किया।

इस अवसर से लाभ उठाकर महमूद ने तुरन्त ही सुविख्यात नगरकोट (काँगड़ा) के मन्दिर पर भी धावा बोल दिया। वहाँ से ७००,००० सोने के दीनार, ७०० मन सोने और चाँदी के बर्तन, २०० मन सोना, २००० मन कच्ची चाँदी और २० मन बहुमूल्य जवाहिरात उसके हाथ आये।

(७) सातवाँ हमला उसने गुजरात पर किया। आनन्दपाल ने हिन्दू राजाओं की दशा से हताश होकर उससे संधि कर ली। फिर (८) आठवें हमले में उसने मुलतान ले लिया। (१०१०)

(९) नवें हमले में सुलतान ने थानेश्वर के सैकड़ों मन्दिर तोड़े और लूट-मार की। राय नगर छोड़ कर भागा (१०११–१२)। चलते समय लाखों मरदों और औरतों को गुलाम बनाकर ले गया। उनमें से बहुतों को अपनी सेना में भी भरती किया।

सन् १०१२–१३ में महमूद ने ख़लीफ़ा से खुरासान के प्रान्त माँग लिये और समरक़न्द पर बिना उसकी अनुमति के ही अपना अधिकार जमा लिया।

(१०) आनन्दपाल के मरने पर उसका बेटा त्रिलोचनपाल गद्दी पर बैठा। वह कायर था। उसका बेटा भीमपाल ('निडर भीम') बड़ा वीर था। उसने अपने दादा (पितामह) की नीति को उलट कर सुलतान से फिर लड़ाई ठान ली। अतएव महमूद को लाहौर के राजा से एक बार फिर लड़ना पड़ा जिसमें हिन्दुस्तान में घुसने का मार्ग खुल जाय। वह सन् १०१३ में चढ़ आया। निडर भीम बड़े भीषण युद्ध के बाद हारा और काश्मीर भाग गया और महमूद ने सारा पंजाब ग़ज़नी की सलतनत में मिला लिया।

(११) अगले वर्ष सुलतान काश्मीर की घाटी में भीम को पकड़ने के लिये घुसना चाहता था, परन्तु लोहकोट के क़िले पर उसे रुकना पड़ा और हार कर लौटना पड़ा। यह पहला अवसर था जब कि महमूद को हार मान कर एक भारतीय क़िले पर से लौटना पड़ा था।

ग़ज़नी लौट कर उसने ख़्वारिज़्म को भी अपनी सलतनत में मिला लिया। वहाँ उसका बहनोई शासक था। उसे विद्रोहियों ने मार डाला। महमूद ने उनको निकाल कर ख्वारिज्म पर क़ब्ज़ा कर लिया।

(१२) सन् १०१४ में उसे भारत के भीतरी भागों पर चढ़ाई करने का अवसर मिला, जिसके लिये वह इतने दिनों से कोशिश कर रहा था। उसके साथ एक लाख फ़ौज तो अपनी थी और बीस हज़ार खुरासान और तुर्किस्तान से आई हुई थी। अब उसके मार्ग में कोई रुकावट न थी। वह यमुना पार करके बरन (बुलन्दशहर) पहुँचा। मुस्लिम लेखकों के अनुसार वहाँ का राजा हरदत्त डर के मारे तुरन्त अपनी दस हज़ार प्रजा के साथ मुसलमान हो गया। वहाँ से महमूद यमुना के किनारे किनारे मलबन पहुँचा। वहाँ के राजा कुलचन्द्र ने युद्ध किया, पर वह पराजित हुआ और उसने अपने परिवार सहित आत्महत्या कर ली।

यमुना की दूसरी ओर भारत का पवित्र तीर्थ, प्राचीन मथुरा नगरी थी। इसकी चहार-दीवारी लाल पत्थर की बनी थी। दो बड़े-बड़े द्वार नदी की ओर खुलते थे। सारे मकान पक्के और पत्थरों के बने थे। प्रत्येक में एक एक मन्दिर था। शहर के मध्य में सब से बड़ा मन्दिर था—"जिसकी शोभा वर्णनातीत है।" एक तत्कालीन लेखक का कथन है कि जन-संख्या और विशाल भवनों के विचार से मथुरा नगरी अद्वितीय है। उसका वर्णन मनुष्य की शक्ति से बाहर है। यद्यपि स्वयं सुलतान महमूद और उसके साथी इस नगर की शोभा और विशालता को देख कर चकित हो गये, तो भी वह उसे तोड़ने से बाज न आया। मन्दिरों को तोड़ कर गिरा देने की आज्ञा दी गई। लूट में सोने की मूर्तियों से ९८३०० मिश्काल* सोना, चाँदी की मूर्त्तियाँ जो तौली नहीं जा सकीं, दो लाल जिनका मूल्य ५००० दीनार था, एक नीलम जिसका वजन ४५० मिश्काल था, तथा बहुत सा माल और मिला। फिर वृन्दावन के क़िलों को भी उसने लूटा। इसके बाद महमूद अपने सर्वोत्तम सैनिकों को साथ लेकर कन्नौज पहुँचा। यह महाराज हर्षवर्धन की नगरी थी। सात दीवारें इसके चारों ओर थीं और दस हज़ार मन्दिर इसके अन्दर थे। कहा जाता है कि यहाँ का राय राज्यपाल तथा नगर-निवासी भाग गये और सुलतान ने एक दिन में नगर पर अधिकार कर लिया। तब महमूद ने निकट के कई और किले लिये और बहुत सा लूट का माल और हाथी लेकर सत्रह दिन में लौट आया। लूट के कुल माल का मूल्य लगभग ३०००००० दिरहम था। क़ैदियों और दासों की संख्या इतनी थी कि ग़ज़नी के बाज़ार में दो या तीन दिरहम फी आदमी बिका।

महमूद के इन कारनामों पर मुस्लिम जगत ने बड़ी खुशियाँ मनाई।

---

* मिश्काल एक तौल है जो १ तोले से कुछ कम होती है।

ख़लीफ़ा ने उसकी विजय-घोषणा और स्वागत करने के लिये एक विशेष दरबार किया। परन्तु वास्तव में इन कार्रवाइयों से इस्लाम की जीत न हुई, प्रत्युत् उसकी हानि ही हुई। जिन लोगों के धर्म-स्थान नष्ट किये गये थे और जो दास बना बना कर दूर देशों में पशुवत् बेचे गये थे, वे कभी उस धर्म्म से प्रभाविन न हो सकते थे जिसके नाम पर यह सब काम किये गये थे*। महमूद जैसे धर्म-प्रचारकों के जीवन-चरित्र इस बात के प्रमाण हैं कि किसी धर्म के अनुयायी ही उसके साथ सबसे अधिक अन्याय करते हैं।

(१३) तेरहवाँ हमला सुलतान ने सन् १०१९ में कालिंजर पर किया। वहाँ के राय नन्द की सेना से महमूद भयभीत हो गया। परन्तु नन्द की सेना स्वयं डर कर रात में भाग खड़ी हुई। महमूद लूट-मार करके जल्दी ही लौट गया।

(१४) अब महमूद ने अनुभव किया कि देश में इतनी दूर दूर तक घुसने के लिये आवश्यक है कि मैं अपना केन्द्र पंजाब में बनाऊँ। इस अभिप्राय से वह सन् १०२१ में ग़ज़नी से चला। पहले तो उसने स्वात, बाजोर और काफ़िरिस्तान के लोगों को, जो बौद्ध थे, मुसलमान बनाया। फिर एक बार लोहकोट को लेने का दोबारा प्रयत्न किया; परन्तु विफल रहा। तब उसने लूट-मार छोड़ कर पंजाब में नियमबद्ध शासन स्थापित किया, मुख्य स्थानों पर सेनाएँ रखीं और प्रान्तीय अधिकारी नियत किये। इस प्रकार वहाँ के वीर पुरुषों के वंश का अन्त हुआ।

(१५) सन् १०२२–२३ में सुलतान ने फिर गवालियर और कालिंजर पर चड़ाई की। परन्तु दोनों रायों ने बहुत से हाथी देकर सन्धि कर ली और सुलतान वापस लौट गया।

(१६) महमूद का सब से बड़ा आक्रमण सौराष्ट्र के जगद्-विख्यात मन्दिर सोमनाथ पर हुआ। सम-सामयिक लेखकों ने उस मन्दिर का जो वर्णन किया है, उससे पता चलता है कि उस समय वास्तविक धर्म्म का कितना पतन हो चुका था। यह मन्दिर काठियावाड़ में सरस्वती नदी के मुहाने के पास अरब सागर के तट पर था। चन्द्र और सूर्य ग्रहण के अवसर पर यहाँ लाखों यात्री इकट्ठे होते थे। १००० ब्राह्मण प्रति दिन पूजा करते थे। ५०० नर्तकियाँ और २०० गायक सदैव भक्तों का मनोरञ्जन करते थे। ३०० नाई यात्रियों के मुण्डन के लिये रहते थे। बहुत से हिन्दू राजा अपनी कन्याओं को मन्दिर में अर्पण कर देते थे। मन्दिर का व्यय १०००० गाँवों की आमदनी से चलता था।

---

* देखो, प्रो० हबीब कृत "सुलतान महमूद आफ़ ग़ज़नी" पृ० ४१.

पुजारियों की अकर्मण्यता और अन्ध विश्वास की यह दशा थी कि जब महमूद की सेना को उन्होंने आते देखा, तब अपने घरों की छत पर से वे उस पर हँसे और कहने लगे कि देव सोमनाथ इन सबको एक पल में नष्ट कर देंगे। ऐसे लोग अवश्य ही विनाश के पात्र थे।

सोमनाथ की चढ़ाई में महमूद का एक प्रशंसनीय काम यह था कि उसने इतने दूरस्थ स्थान पर, जिसका मार्ग एक बीहड़, जल-शून्य रेगिस्तान से हो कर जाता था, बड़ी चतुराई के साथ तैयारी करके चढ़ाई की*। जब मुसलमान नगर में घुस गये, तब हिन्दू लोग प्रायः अपने देवता से प्रार्थना ही करते रहे कि इन यवनों को नष्ट कर दो। परन्तु वे नहीं समझते थे कि सोमनाथ भी अकर्मण्य जाति की सहायता नहीं करते। महमूद ने मन्दिर के अन्दर जाकर सब माल हस्तगत किया और शिवलिंग को रिश्वत लेकर छोड़ देने से साफ इन्कार कर दिया। फिर उसके कई टुकड़े किये गये और वे टुकड़े ग़ज़नी ले जाकर जामा मस्जिद की देहलीज़ में डाले गये। फिर वहाँ से बे-हिसाब लूट का माल लेकर और अनहिलवाड़ा के राय को पराजित करके महमूद वापस लौटा।

(१७) सोमनाथ से लौटते समय मुलतान के जाटों ने उसे तंग किया था। उनसे बदला लेने के लिये वह सन् १०२७ में मुलतान आया और १४०० नावों में अपनी सेना लेकर उसने जाटों के देश पर चढ़ाई की। बहुत से जाट नदी में डुबा दिये गये और उनके बाल-बच्चों को पकड़ लिया गया। यह सुलतान का भारत पर अन्तिम आक्रमण था।

इसके बाद वह दो वर्ष तक सलजूक लोगों को दबाने में लगा रहा और ३० अप्रैल सन् १०३० ई० को ग़जनी में मर गया। कहते हैं कि मरने से दो दिन पूर्व उसने अपना सारा असंख्य लूट का धन अपने सामने मँगवाया था; और यह देख कर कि मैं यह सब माल यहीं छोड़कर खाली हाथ जा रहा हूँ, वह अत्यन्त दुःखी हुआ और रोया। यह बात सच हो या नहीं, परन्तु यह ठीक जान पड़ता है कि मृत्यु का भयावह रूप देखकर वह अपनी इस अन्तिम यात्रा के लिये उस साहस के साथ न जा सका जिस साहस से वह भारतीय चढ़ाइयों पर जाता था†।

---

* लगभग सभी लेखकों ने यह माना है कि महमूद मार्ग में अजमेर और साँभर भी गया था। परन्तु यह भूल है। अजमेर उस समय विद्यमान ही न था।

† देखो प्रो० हबीब कृत "सुलतान महमूद आफ़ ग़जनी" पृ० ५७.

महमूद का चरित्र और कार्य—महमूद के चरित्र और कार्य के विषय में कई प्रश्न ऐसे हैं जिन पर विद्वानों में बहुत मतभेद रहा है। उसके भारतीय आक्रमणों का क्या उद्देश्य था ? क्या वह एक बड़ा योद्धा ही था अथवा शासक और नीतिज्ञ भी था ? उसके चरित्र को भली भाँति समझने के लिये हमें इन दो प्रश्नों का उत्तर देना होगा। पहले प्रश्न का उत्तर पाने के लिये उस काल की परिस्थिति समझ लेना आवश्यक है। ग्यारहवीं शताब्दी में अरबी खिलाफ़तों का अन्त हो चुका था। ईरानी सभ्यता का प्राबल्य था, किन्तु राजनीति की बागडोर तुर्कों के हाथ में जा चुकी थी, इसलिये जो उद्देश्य ईरानी राजा पूरा न कर सके, उसे उनके सीमावर्ती सरदारों ने पूरा किया। यह उद्देश्य था पहले तो मध्य एशिया के छोटे छोटे राज्यों को मिलाकर एक बड़े साम्राज्य की स्थापना करना। दूसरे एक सुव्यवस्थित, न्यायपूर्ण शासन और उसके द्वारा शान्ति की स्थापना करके साम्राज्य की समस्त प्रजा को एक सूत्र में बद्ध करना और सुखी बनाना। पहला काम सुबुक्तगीन ने शुरू किया और महमूद ने अपने योग्यतानुसार उसे पूरा किया। परन्तु दूसरा काम करने में वह विफल रहा। तुर्की-ईरानी साम्राज्य की स्थापना में उसने भारतवर्ष की सम्पत्ति को एक साधन बनाया। यद्यपि उसने अपने राजत्व काल के शुरू में ही यह प्रण किया था कि मैं भारत की भूमि में प्रति वर्ष जहाद करूँगा, तथापि उसके परवर्त्ती जीवन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह केवल धर्म प्रचार के उद्देश्य से ही प्रेरित नहीं हुआ था। उसने इस देश पर १७ हमले किये; और यद्यपि इन सब में उसका मुख्य उद्देश्य धन लूटना ही था, पर वह धर्मान्धता के जोश में हज़ारों हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाने से भी न चूकता था और मुस्लिम जगत से सराहना प्राप्त करने के लिये उसने यह दिखलाया कि मेरा एक मात्र उद्देश्य अपने धर्म्म का विस्तार करना है। परन्तु हम जानते हैं कि उसकी सेना में हिन्दू, अफ़ग़ान, तुर्क इत्यादि सभी भरती किये जाते थे और किसी को अपना धर्म पालन करने में कोई रुकावट नहीं थी।

पर चाहे महमूद ने जहाद के भाव से प्रेरित होकर कोई चढ़ाई नहीं की, तथापि हिन्दू देवस्थानों और मन्दिरों की इससे कोई रक्षा न हुई। परिणाम यह हुआ कि भारत-वासियों के हृदय में इस्लाम धर्म के प्रति बड़े भय और घृणा के भाव उत्पन्न हो गये।

व्यक्तिगत रूप से भी उसका विश्वास अपने समय के अनुसार ही था। वह एकेश्वरवादी तो पक्का था, परन्तु जान पड़ता है कि वह युक्तिवादियों (Rationalists) के विरुद्ध न था। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह

तत्कालीन अन्य राजाओं के समान ही था। उसकी धार्मिक भावनाएँ उसे मदिरा और भोग-विलास से न बचा सकती थीं। इसके अतिरिक्त वह लालची भी बहुत था। फिरदौसी को शाहनामे की ६०००० पंक्तियाँ लिखने पर सोने के बजाय चाँदी के सिक्के देने में कोई असत्यता नहीं प्रतीत होती, क्योंकि ऐसा न होता तो वह सुलतान के विरुद्ध अपने अन्तिम पद न लिखता*। उसके साथियों में जो उसका इतना विस्तृत प्रभाव और मान था, वह उसके आचार की उच्चता या धार्मिक गुणों के कारण नहीं था, प्रत्युत् उसकी बुद्धि और मस्तिष्क के गुणों के कारण था। महमूद सुशिक्षित था और साहित्य तथा कला का गुण-ग्राही भी था, परन्तु उसका सर्वोच्च गुण था युद्ध-कौशल और सेना के नेतृत्व की योग्यता। इसमें उसके समान उसका कोई समकालीन नहीं था। ग़ज़नी एक छोटा सा राज्य था। महमूद ने इसफ़ाहान से बुन्देलखण्ड तक और समरकन्द से गुजरात तक समस्त देशों को जीत डाला। भारत के राजपूत वीरता में उससे कम न थे, परन्तु महमूद का महत्व उसके युद्ध-कौशल में था। एक बड़े सैनिक के सभी गुण उसमें मौजूद थे। भिन्न भिन्न जातियों के मेल से बनी हुई सेना को ऐसे नियन्त्रण और संघटन में ढालना कि वे एक नेता की आज्ञा मानें, बहुत तेज़ी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाना, सब स्थानों और क्षेत्रों का चित्र मन में रख कर यह निर्णय करना कि किस जगह चढ़ाई करना सबसे अधिक सुगम होगा, इत्यादि गुण उसमें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे। आलस्य उसके पास न फटकता था। सन् १००४ में उसने एक ही वर्ष के अन्दर मुल-तान पर चढ़ाई की और तुरन्त ही बल्ख जाकर इलाक़ खाँ को भगाया और फिर भेरा के शासक सुखपाल को झेलम पर आ पकड़ा। अपनी सेना में वह अच्छे अच्छे योद्धा, चाहे वह हिन्दू हों या बौद्ध, जहाँ से मिलते थे, भरती कर लेता था। इन गुणों के होते हुए भी वह कभी अंधा होकर काम नहीं करता था। वह निर्भयता से, पर खूब देख-भाल कर, काम करता था। कालिंजर की चढ़ाई में अपनी स्थिति सन्तोषप्रद न देखकर वह जल्दी ही लौट गया। सोमनाथ की चढ़ाई से पहले उसने हर प्रकार की पूरी पूरी तैयारी की थी। जब भारत के अन्दर दूर तक घुसने की नौबत आई, तब उसने अपना केन्द्र लाहौर में बना लिया था।

परन्तु संघटन और राज्य-प्रबन्ध के काम की ओर उसकी रुचि न थी।

---

* इस सम्बन्ध में देखो हिस्ट्री आफ़ पर्शियन लिटरेचर, प्रो० ब्राउन रचित, पृ० ११८-११९.

यह काम उसने अपने अन्य कर्मचारियों पर छोड़ दिया था। वे बड़ी मेहनत और ईमानदारी से काम करते थे। परन्तु उनमें राजनीतिज्ञों की दूरदर्शिता और तीक्ष्ण बुद्धि न थी। इसी लिये वे एक स्थिर और उदार संघटन स्थापित न कर सके।

महमूद या उसके वज़ीरों ने शासन में किसी प्रकार का सुधार या उन्नति नहीं की। जो कुछ पहले था, वही चलता रहा। केवल कर वसूल करने में अवश्य बहुत कड़ाई हो गई। सुलतान देश-प्रदेश जीतता तो चला जाता था, पर उनमें शान्ति और सुप्रबन्ध स्थापित करने पर ध्यान नहीं देता था। स्वयं वह चाहे कितना ही न्यायप्रिय क्यों न रहा हो, परन्तु उसके किसी एक दो अवसर पर न्याय-प्रियता दिखलाने पर समस्त साम्राज्य में न्याय विभाग बन जाय और ठीक काम करने लगे, यह असम्भव है। पुलिस का कोई प्रबन्ध उसके राज्य में न था और न डाकुओं आदि को दमन करने का कभी कोई यत्न किया गया। कारखानों की रक्षा का भी कोई प्रबन्ध न था। प्रजा-रक्षण का जो काम पहले छोटी छोटी रियासतें स्थानीय रूप से कर सकती थीं, महमूद वह भी न कर सका। उसने साम्राज्य के लिये किसी प्रकार के नियम नहीं बनाये। उसके बड़े साम्राज्य में भिन्न भिन्न जातियाँ सुसंघटन से नहीं किन्तु केवल उसके सैनिक बल से बँधी थीं। उनमें वास्तविक ऐक्य का सर्वथा अभाव था। कारण इसका यह था कि सुलतान साम्राज्य का असली उद्देश्य और मूल मन्त्र समझता ही न था। उसका काम उस बलवान पुरुष के समान था जो एक विशाल भवन निर्माण करने के लिये ईंट, पत्थर, चूना, लकड़ी सब सामग्री एकत्र करके उसका ढेर लगा दे, पर यह न जानता हो कि भवन किस प्रकार का और किस तरह से बनाया जाता है। इसी लिये महमूद का यह सब प्रयास निरुद्देश्य एवं निष्फल रहा। तथापि उसको इस बात का श्रेय अवश्य प्राप्त है कि उसने मुसलमानों को स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना सिखलाया। वह पहला मुसलमान था जिसने "सुलतान" की उपाधि धारण की थी।

हिन्दुओं की हार का रहस्य—हिन्दुओं की हार के कारणों का ठीक ठीक अनुमान करना भी एक गहन समस्या है। विद्वानों ने इस प्रश्न पर भी भिन्न भिन्न मत प्रकट किये हैं। परन्तु ध्यानपूर्वक अनुशीलन करने से स्पष्ट कारण समझ में आ सकते हैं।

हिन्दुओं में वीरता, शारीरिक शक्ति, आत्म-त्याग, कष्ट-सहन इत्यादि गुण मुसलमानों से किसी प्रकार कम न थे। वे उस समय भी वीरों की भाँति मरना जानते थे। हिन्दुओं का युद्ध-कौशल भी किसी प्रकार मुसलमानों के

युद्ध-कौशल से कम न था। हिन्दुओं के शस्त्र तो शायद मुसलमानों से कहीं बढ़ कर रहे होंगे, क्योंकि सब से बढ़िया फ़ौलाद के बरछे और तलवारें इत्यादि भारत में ही बनती थीं। कोई ऐसा नया अस्त्र-शस्त्र मुसलमानों के पास न था जो हिन्दुओं के पास न हो। उनमें स्वदेश और स्वधर्म्म के प्रति श्रद्धा और प्रेम की भी कमी न थी। वे भय के सामने एक में मिल कर अपनी रक्षा करने को भी उद्यत हो जाते थे। परन्तु उनमें नितान्त अभाव था एक मौलिक गुण का जिसके कारण उनके अन्य सब गुण निरर्थक हो गये। उनमें अभाव था उस विवेक और दूरदर्शिता का जिसके बिना वे राजनीतिक राष्ट्रीय ऐक्य का मौलिक सिद्धान्त भूल गये थे। प्राचीन क्षत्रियों का धर्म था युद्ध करना और अपने धर्म्म तथा राज्य की रक्षा और विस्तार करना। इस धर्म्म का पालन उन्होंने इस हद तक किया कि वे आपस ही में लड़ने लगे। फल यह हुआ कि जब समस्त देश और धर्म्म की रक्षा की आवश्यकता पड़ी, तब वे किसी एक को अपना नेता न मान सके। जहाँ सभी नेता हों, उस सेना का ईश्वर ही रक्षक है। दूसरे, महमूद के समान चतुर और युद्ध-कला-निपुण नेता भी उनमें कोई न था। यह बात भी स्पष्ट ही है कि यदि महमूद जैसा वीर पुरुष तुर्क, अफ़ग़ान, ईरानी इत्यादि मुसलमानों का नेतृत्व करने को न होता तो वे एक अव्यवस्थित जन-समूह की भाँति कुछ भी न कर सकते। महमूद के सैनिक गुण हम ऊपर बतला चुके हैं। हिन्दू सैनिकों में इन गुणों की कमी थी।

तीसरे, हिन्दुओं के जाति-भेद और अंध विश्वासों ने भी उन्हें काफ़ी कमज़ोर बना दिया था। वे स्वयं अकर्मण्य और प्रमादी बन कर यह आशा करते रहते थे कि हमारे देवता यवनों को नष्ट कर देंगे। चौथे, प्राचीन काल में समस्त जाति का राज्य होता था और राजा सब लोगों की अनुमति से काम करता था। इसी लिये सारी जाति अपनी रक्षा के लिये भी उद्यत रहती थी। परन्तु राजपूत काल में यह काम केवल राजपूतों का ही रह गया था। धर्म्म व्यक्तिगत हो गया था। राज्य के बदल जाने से उस पर कुछ असर नहीं पड़ता था। इसी कारण जनता प्रायः उदासीन थी। फिर राजपूत लोग कोई स्थायी सेना न रखते थे। उनका धन सेना की योग्यता बढ़ाने में कम लगता था और मन्दिरों तथा देव-स्थानों के बनाने में अधिक। युद्ध में भी राजपूत रूढ़ि धर्म्म को न त्याग सकते थे, क्योंकि वे इहलोक से परलोक का अधिक ध्यान रखते थे। चाहे उनका पराजय हो जाय, देश नष्ट हो जाय, परन्तु परलोक हाथ से न जाय। इसके प्रतिकूल मुसलमान हर प्रकार से विजय करना ही अपना जीवनोद्देश्य समझते थे। दोनों के साथ न्याय हुआ। राजपूतों को परलोक प्राप्त हुआ और मुसलमान को इहलोक।

महमूद के संसर्ग का साहित्यिक प्रभाव; अल बैरूनी—महमूद स्वयं बहुत सुशिक्षित और गुणग्राही था। कहा जाता है कि उसके दरबार में दूर दूर के देशों से आये हुए ३०० कवि रहते थे जिनमें अनसरी, फिरदौसी, असदी, तूसी इत्यादि बहुत विख्यात हैं। फिरदौसी (जो उनमें सर्वोच्च माना जाता था) का शाहनामा संसार के साहित्य में एक ऊँचा स्थान रखता है। इसी प्रकार बड़े बड़े इतिहास-लेखक, वैज्ञानिक, तत्ववेत्ता, ज्योतिषी और गणितज्ञ तथा दूसरे अनेक कलाविद् भी उसके दरबार में मौजूद थे। परन्तु उस समय के सबसे बड़े तत्ववेत्ता, वैद्य और जन्तु-शास्त्रज्ञ ईरानी शेख़ बूअली सेना ने उसके दरबार में आना कभी स्वीकार न किया और भाग कर राय के शासक के यहाँ शरण ली। पर बूअली सेना के मित्र तत्ववेत्ता अबूरैहान को सुलतान ने उसके वतन ख्वारिज्म से पकड़ बुलवाया और निर्वासित करके भारत भेज दिया। यहाँ आकर इस प्रतिभाशाली अद्वितीय विद्वान् ने भारतीय संस्कृति और साहित्य से प्रभावित होकर यहाँ की भाषा (संस्कृत) और अनेक विद्याओं का अध्ययन किया और इस देश के इतिहास तथा सभ्यता पर एक अमर ग्रन्थ 'किताबुल हिन्द' की रचना की। इस ग्रन्थ में भारत के धर्म्म, अध्यात्म विद्या, तर्क, साहित्य, भूगोल, ज्योतिष, इतिहास, रीति-रवाज, सामाजिक अवस्था इत्यादि विषयों का वर्णन बड़ी योग्यता के साथ किया गया है। भारतीय इतिहास की सामग्री में इस पुस्तक का स्थान बहुत ऊँचा है। इसके अतिरिक्त कई अन्य मुसलमान लेखकों (जैसे उतबी, बेहाक़ी इत्यादि) ने भी इतिहास लिखे, जिनमें भारतीय इतिहास की बहुत कुछ सामग्री है।

ग़ज़नवी वंश का पतन और अन्त—महमूद के मरने पर उसके वंश में गद्दी के लिये झगड़े शुरू हुए। अन्त में बड़ा बेटा गद्दी पर बैठा। यह स्वयं बड़ा बलवान, पर डरपोक तथा विलासी था। इसने ग़ज़नी को छोड़ कर बल्ख को राजधानी बनाया और लाहौर के प्रान्त पर कई शासक नियत किये। इनमें से अहमद नियाल्तगीन ने बनारस पर धावा किया और फिर स्वतन्त्र होना चाहा। तब उसके पिता के विश्वासपात्र सच्चे स्वामिभक्त तिलक ने नियाल्तगीन को हरा कर नष्ट किया। तिलक एक नाई वंश का भारतीय था। उसके रूप तथा अन्य गुणों के कारण महमूद ने उसे उच्च पद पर नियुक्त किया था। सन् १०४० के लगभग मसऊद सलजूक़ों के डर से भाग कर लाहौर आ रहा था, पर रास्ते में मारा गया। सन् १०४२ में उसका लड़का मादूद लाहौर का शासक हुआ। इस समय अवसर पाकर दिल्ली के राजा महिपाल ने हाँसी, थानेश्वर और काँगड़ा फिर से जीत लिया; और लाहौर पर

भी चढ़ाई की, परन्तु विफल रहा। मादूद के समय (१०४६) में ग़ौर के अमीर से फिर झगड़ा शुरू हो गया। पंजाब के सूबे को लाहौर और पेशावर के दो भागों में अपने दो बेटों को बाँट कर वह सन् १०४९ में मर गया। मादूद के बाद फिर कई वर्ष तक झगड़े होते रहे और ग़ज़नी की गद्दी पर कोई स्थिरता से न बैठ सका। अन्त को मसऊद का लड़का फ़र्रुखज़ाद गद्दीनशीन हुआ और उसने सन् १०५९ तक राज्य किया। उसके लड़के इब्राहीम ने सन् १०९९ तक (४० वर्ष) बड़ी शान्ति से राज्य किया। इसने फिर से भारत पर कई चढ़ाइयाँ कीं और शायद पारसी बस्ती नवसारी तक भी यह पहुँचा था।

उसके बाद उसका २३ वाँ लड़का मसऊद तीसरा अमीर हुआ। इसने सलजूक अमीर अर्सलान की पोती से शादी की थी। इसने १७ वर्ष तक शान्ति-पूर्वक राज्य किया। इस अवसर में लाहौर के शासक ने फिर एक हमला गंगा के पार तक किया और साम के पुत्र हुसेन को गौर का शासक नियुक्त किया। इसके बाद राजगद्दी के लिये भाइयों में झगड़े हुए और अन्त में बहराम, जिसकी माता सलजूक़ वंश की थी, अमीर हुआ। थोड़े ही दिन बाद उसे लाहौर के शासक बहलीम को दो बार दमन करना पड़ा। बहलीम ने छोटे छोटे हिन्दू राजाओं को पराजित करके पहले-पहल नागोर में मुस्लिम राज्य जमाया। बहराम के पिछले दिनों में गौर से फिर झगड़ा शुरू हो गया। ग़ौर का कुतुबुद्दीन मुहम्मद अपने भाई से लड़ कर ग़ज़नी चला आया और उसने इब्राहीम की लड़की से शादी कर ली। परन्तु उसके चरित्र पर सन्देह होने के कारण इब्राहीम ने उसे ज़हर दिलवा दिया। इसका बदला लेने के लिये उसके भाई सैफ़ उद्दीन ने इब्राहीम को निकाल कर ग़ज़नी में अपने भाई बहाउद्दीन साम को शासक बना दिया। परन्तु सन् ११४९ में इब्राहीम ने लौट कर सैफ़उद्दीन को धोखे से मार डाला और उसका भाई उसके शोक में मर गया। तब इनके एक और भाई अलाउद्दीन हुसेन ने इब्राहीम को पराजित करके ग़ज़नी से बड़ा कड़ा बदला चुकाया। उसने सारे नगर को जलवा डाला, वहाँ की क़बरों को खुदवा कर फेंकवा दिया और मकानों तथा क़िलों को ढा दिया। सैयदों को पकड़ कर वध करने के लिये वह गोर ले गया। परन्तु थोड़े दिन बाद वह सुलतान संजार सलजूक़ से हार कर क़ैद हो गया। यह अवसर पाकर इब्राहीम, जो भाग कर भारत में चला आया था, फिर लौट गया। परन्तु थोड़े दिन बाद ही वह मर गया। वह विद्वानों का बड़ा पोषक था। उसके दरबार में विख्यात कवि सनाई रहता था। उसने संस्कृत के पंच तंत्र का अनुवाद अरबी भाषा में कराया था जो "कलेला व दमना" के नाम से विख्यात है। इसी ग्रन्थ

का दूसरा अनुवाद "अनवार सुहेली" के नाम से बाद को मुल्ला हुसेन वाइज ने किया था।

बहराम के बाद उसका लड़का खुसरू शाह अमीर हुआ। उसे तुर्कों ने मार कर ग़ज़नी से भगा दिया। वह सन् ११६० में लाहौर में मर गया। अब महमूद के वंशजों के पास केवल पंजाब रह गया था। उसके बेटे खुसरू मलिक को मुईज़ुद्दीन मुहम्मद साम ने, जो अपने भाई की ओर से ग़ज़नी का शासक था, खुसरू और उसके बेटे को सन् ११८६ में लाहौर से क़ैद करके गोर भेज दिया। वहाँ वे सन् ११९२ में क़त्ल कर डाले गये। इस प्रकार यामिनी वंश का अंत हुआ।

पाँचवाँ अध्याय

सन् १००० से १२०० ई० तक की राजनीतिक स्थिति

पंजाब—महमूद ग़ज़नवी के बाद मुसलमान आक्रमणकारियों के आक्रमण यदा-कदा होते रहे, परन्तु उनमें से कोई पंजाब से आगे राज्य स्थापित न कर सका और राजपूत राजा उनको परास्त करके देश की रक्षा करते रहे। पंजाब में भी महमूद के थोड़े ही दिन बाद उसके वंश का पतन शुरू हो गया जिसका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं।

देहली और अजमेर—चौहान वंश साँभर में राज्य करता था (देखो पहला अध्याय)। ग्यारहवीं सदी के अन्त में पृथ्वीराज प्रथम का पुत्र अजयदेव बड़ा प्रतापी हुआ। उसने अजयमेरु (अजमेर) नगर तथा दुर्ग बनवाये और साँभर को छोड़ अजमेर को राजधानी बनाया। उसकी रानी सौमला देवी भी बहुत योग्य रही होगी, क्योंकि दोनों के नाम के सिक्के अब तक मिलते हैं। उसके बेटे अरणोराज (आणा या अनलदेव) ने अजमेर में आणा सागर झील और आणा बाँध बनवाया। यह अब तक विद्यमान हैं और इनका दृश्य अत्यन्त सुन्दर है। सन् ११५० के लगभग आणा को उसके बड़े बेटे जगदेव ने मार डाला और उसका दूसरा बेटा बीसलदेव या विग्रहराज चतुर्थ राजा हुआ। यह बड़ा महत्त्वाकांक्षी राजा था। उसने अपना राज्य धीरे-धीरे उत्तर की ओर बढ़ाया और दिल्ली पर अधिकार कर लिया। उस समय दिल्ली भारत का प्रधान नगर नहीं था। जो स्थान आज दिल्ली को प्राप्त है, वह उस समय कन्नौज को प्राप्त था। दिल्ली उस समय एक साधारण नगर था जहाँ तँवर वंश के राजपूत राज्य करते थे। विग्रहराज ने दिल्ली को विजय करके वहाँ की लोहे की लाट पर (जो कुतुब मीनार के पास अब तक विद्यमान है) अपनी विजय के स्मारक का एक लेख खुदवाया। बीसलदेव केवल योद्धा ही नहीं, प्रत्युत् बड़ा विद्वान् और विद्याप्रेमी भी था। उसने स्वयं हरिकेलि नाटक रचा और उसके राजकवि सोमदेव ने ललित विग्रहराज नाटक। ये दोनों नाटक अजमेर में बीसलदेव के संस्कृत विद्यालय में, जिसको अल्तमश ने तोड़ कर मस्जिद बना डाला था, मिले हैं। बीसल के बाद उसका छोटा भाई सोमेश्वर राजा हुआ। उसने थोड़े समय तक राज्य किया और सन् ११७५ के लगभग उसका बेटा पृथ्वीराज गद्दी पर बैठा। उसने दिल्ली में अपना किला बनवाया। इसी समय से दिल्ली का महत्त्व

बढ़ा। बीसलदेव के समय से ही चौहान वंश और दिल्ली का महत्त्व बढ़ना शुरू हो गया था; परन्तु पृथ्वीराज ने कन्नौज के गहड़वालों को नीचा दिखा कर भारतीय राजनीति का नेतृत्व उनके हाथ से छीन लिया।

कन्नौज—कन्नौज राजपूत काल में भारतवर्ष का प्रमुख नगर था। हम ऊपर (पहले अध्याय में) बतला चुके हैं कि सन् १०९० के लगभग गहड़वाल (गहरवार) वंशीय राजा चन्द्रदेव ने अन्तिम प्रतिहार को हटा कर अपने वंश का राज्य स्थापित किया था। फिर उसने धीरे-धीरे काशी और उत्तर कोशल (अयोध्या) तक का प्रदेश जीत लिया। उसका पौत्र गोविन्दचन्द्र इस वंश का सब से प्रसिद्ध राजा हुआ। उसने मगध को जीत कर अपना राज्य बंगाल तक बढ़ाया। वह भोज और बीसलदेव के समान स्वयं बड़ा विद्वान् तथा विद्वानों का पोषक था। उसके संधिविग्रहिक (War & Peace Minister) लक्ष्मीधर ने कानून का एक अत्युत्तम ग्रन्थ लिखा था। गोविन्दचन्द्र ने लगभग सन् १११४ से ११४५ तक राज्य किया। उसके बाद लगभग सन् ११७० में उसका पोता जयचन्द्र कन्नौज का राजा बना। इसी समय गोरी वंश के आक्रमण शुरू हुए।

बिहार—बिहार में इस समय सेनवंशीय लक्ष्मणसेन राज्य कर रहा था जिसका वर्णन हम प्रथम अध्याय में कर आये हैं।

बंगाल में महिपाल ने दसवीं सदी के अन्त से कोई ४५ वर्ष तक राज्य किया और पाल वंश का पुनरुत्थान करना शुरू किया। उसने अपने राज्य का आसाम और उड़ीसा तक विस्तार किया। बौद्ध प्रचारक धर्मपाल उसी के समय में मगध से तिब्बत गया था। उसके बेटे नयपाल ने सन् १०३८ में राज्य शुरू किया और विक्रमशिला से अतीत नामक बौद्ध पण्डित को तिब्बत भेजा। उसका पुत्र विग्रहपाल बड़ा बलवान हुआ। उसने चेदी के कर्ण को पराजित किया। पालवंशीय राजा बारहवीं सदी के अन्त तक सेनों की भाँति पश्चिमी बंगाल (मूँगेर) पर राज्य करते रहे; और ऐसा जान पड़ता है कि सेनों का अधिकार मगध तथा पूर्वी बंगाल पर था।

बुन्देलखण्ड—जान पड़ता है कि ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ से चन्देलों की राजधानी महोबा में थी। राजा गंड चन्देल के पुत्र विद्याधर ने सन् १०२५ से १०३० तक ही राज्य किया। विद्याधर से चौथा राजा कीर्तिवर्मन बड़ा प्रसिद्ध हुआ। उसने सन् १०६० से ११०० तक राज्य किया। चेदी के कर्ण ने उसे हरा कर कन्नौज से निकाल दिया था, परन्तु अपने सेनापति गोपाल की सहायता से उसने कर्ण को फिर हरा कर अपना राज्य वापस ले लिया। इसके बाद इस वंश में मदन वर्मा बड़ा प्रसिद्ध राजा हुआ। उसने सन् ११२५ से

११६५ तक राज्य किया। कहा जाता है कि उसने गुजरात के राजा सिद्धराज और मालवा तथा चेदी के राजाओं को हराया था। उसने महोबे में मदनसागर नाम का एक तालाब और उसके किनारे पर मन्दिर बनवाये थे। मदन वर्मा के बेटे उसके सामने ही मर चुके थे, इस कारण उसके बाद उसका पोता परमर्दि देव (परमाल) राजा हुआ। उसने सन् ११६५ से १२०३ तक राज्य किया। उसकी सेना में बनफर वंश के दो वीर आल्हा और ऊदल थे जिनका वर्णन चंद बरदाई ने महोबा खण्ड में किया है। उनकी वीरता के कार्यों के कारण उनका और राजा परमाल का नाम बुंदेलखण्ड में आज तक घर-घर याद किया जाता है। परमर्दि को पृथ्वीराज ने पराजित करके उसकी शक्ति को बहुत धक्का पहुँचाया। परन्तु फिर भी महोबा का राज्य कायम रहा। सन् १२०३ में परमर्दि को कुतुबुद्दीन से लड़ना पड़ा। वह महोबा छोड़ कर कालिंजर के किले में चला गया और वहाँ उसकी मृत्यु हो गई। अन्त को उसके सेनाध्यक्ष अजय-पाल को किला देने पर मजबूर होना पड़ा। इस प्रकार चन्देल शक्ति का ह्रास हुआ। परन्तु परमर्दि के पुत्र त्रैलोक्यवर्मा ने कालिंजर फिर ले लिया। उसने प्रायः सन् १२०३ से १२४५ तक राज्य किया। उसके बेटे वीरवर्मा का राज्य भिलसा तक फैला हुआ था। इसके बाद सोलहवीं सदी तक चन्देल वंश का कुछ हाल मालूम नहीं। सन् १५४५ में कीर्तिवर्म्मा ने शेर शाह से युद्ध किया और सन् १४६५ में रानी दुर्गावती ने अकबर से। बंगाल में गिद्धौर रियासत के राजा चन्देलों के वंशज हैं।

चेदी—बुन्देलखण्ड के दक्षिण और मालवे के पूरब में चेदी के कलचुरी या हयहयवंशी राजपूतों का बड़ा भारी राज्य था। इनकी राजधानी त्रिपुरा थी। इस वंश का सब से प्रसिद्ध राजा अमर गांगेयदेव हुआ जिसने अनुमानतः सन् १०२० से राज्य किया और अपना अधिकार बनारस, कन्नौज और तिलंगाना तक जमाया। उसने सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के बनवाये जिनकी नक़ल मुहम्मद तुग़लक ने की। वह मालवापति महाराज भोज से लड़ा था, परन्तु हार गया। जान पड़ता है कि महमूद उसके राज्य तक न पहुँच सका था। उसका पुत्र कर्ण उससे भी अधिक शक्तिशाली हुआ। उसने उत्तर भारत में चम्पारण्य (चम्पारन) तक, अंग-वंग इत्यादि प्रदेशों को जीता। कहा जाता है कि दक्षिण में चोल और पाण्ड्य राज्यों को भी उसने जीता था। कन्नौज के गुर्जर प्रतिहारों के वर्णन में हम बतला आये हैं कि उसने कन्नौज को भी जीत लिया था। कर्ण भी बड़ा विद्याप्रेमी और विद्वानों का आश्रयदाता था। सन् १०८० के लगभग उसका बेटा यशःकर्ण, जो उसकी हूण पत्नी अवेल्लादेवी

के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, राजा हुआ और उसने सन् ११२४ तक राज्य किया। इसके बाद कलचुरी वंश के राजा लगभग सन् १२४१ तक राज्य करते रहे। इस वंश का अन्तिम राजा अजयसिंह था। शायद अलतमश के काल में यह राज्य मुसलमानों के अधिकार में आया।

धार—भोज की मृत्यु के बाद कर्ण कलचुरी ने मालवे को जीत लिया, परन्तु थोड़े दिन बाद ही भोज के पुत्र उदयादित्य ने अपना राज्य वापस कर लिया और परमार वंश की शक्ति को पुनः स्थापित किया। उदयादित्य भी अपने पूर्वजों की तरह बड़ा कलाविद् और विद्याप्रेमी था। उसका उदयपुर (मध्य प्रदेश) का शिव-मन्दिर वास्तु कला का परम उत्कृष्ट उदाहरण है। इस मन्दिर में उसके बहुत से लेख हैं। जान पड़ता है कि उदयादित्य ने सन् १०५६ से १०८१ तक राज्य किया था। उसका पुत्र लक्ष्मणदेव भी बड़ा विद्वान् तथा विजेता हुआ। उसका भाई नरवर्म देव, जो उसके बाद राजा हुआ, कवि भी था। इसी प्रकार परमार वंश के अन्य सभी राजा बड़े ज्ञानी और विद्वान् हुए। नागपुर और उज्जैन के महाकाल के मन्दिर इत्यादि स्थानों में उनके बहुत से लेख मिलते हैं जो उनकी योग्यता के सूचक हैं। नरवर्म्मा के पुत्र यशोवर्म्मा ने कोई सन् ११३३ से ११४३ तक राज्य किया। उसको गुजरात के राजा सिद्धराज ने हरा कर वन्दी कर लिया। इसी समय से मालवे का पतन शुरू हुआ। उसके बाद जयवर्म्मा के शासन काल में मालवे का अधिक भाग गुजरात के राजा ने जीत लिया और पूर्वी मालवा पर उसका छोटा भाई लक्ष्मी वर्मन् राज्य करने लगा। इस वंश का अन्तिम स्वतन्त्र राजा देवपाल वर्मन था। उसने अनुमानतः सन् १२१६–४० तक राज्य किया। उसी के समय में अल्तमश ने मालवे पर चढ़ाई की और उज्जैन के महाकाल मन्दिर को नष्ट किया। इसके बाद कई पीढ़ियों तक मालवे के राजा राज्य करते रहे। अन्त को सन् १३०९ के लगभग देहली के सुलतान ने उसे जीता और धार राज्य का अन्त हुआ। परमारों के वंशज आज-कल नरसिंहगढ़, बिजोलिया, राजगढ़ इत्यादि के राजा हैं।

मेवाड़—मेवाड़ में १२वीं सदी के अन्त में सामन्त राज्य करता था। इस वंश का पिछला इतिहास हम पहले अध्याय में दे आये हैं।

अन्हिलवाड़ा—अन्हिलवाड़े (गुजरात) के चालुक्य (सोलंकी) वंश की उत्पत्ति का विषय विवादग्रस्त है। ये लोग शैव थे, परन्तु अन्य मतों के साथ भी सद्व्यवहार करते थे। यहाँ तक कि वे जैन मुनियों तथा विद्वानों का भी बहुत आदर करते थे। इस वंश का संस्थापक मूलराज था। उसने निज बल से अपना राज्य एवं शक्ति बढ़ाई थी। उसने वृद्ध होने पर पाटन में एक

शिव मन्दिर बनवाया और देश के अन्य भागों से ब्राह्मणों को आमंत्रित किया। कहते हैं कि इसी समय औदीच्य आदि बहुत से ब्राह्मण वंश गुजरात में जाकर बसे थे। सोलंकी राजा मालवे के परमारों से बराबर युद्ध करते रहे। मूलराज के वंशज भीम ने सन् १०२२ से १०६४ तक राज्य किया। इसी के समय में महमूद ग़ज़नवी ने सोमनाथ को नष्ट किया था। भीम भी अपने समकालीन परमार भोज और कलचुरी कर्ण के समान बलशाली था। भीम के पुत्र कर्ण ने कर्णसर नामक तालाब बनवाया और उसके पास कर्णावती नामक नगरी बसाई जिसका नाम अहमद शाह ने अहमदाबाद कर दिया। कर्ण का पुत्र जयसिंह सिद्धराज इस वंश का सब से प्रसिद्ध राजा हुआ। उसने मालवे पर चढ़ाई करके उसे जीता। वह बड़ा धर्मात्मा भी था। उसने सैकड़ों तालाब और मन्दिर बनवाये। इसके बाद कुमारपाल भी ऐसा ही धर्मपरायण हुआ। उसकी अपने बहनोई बीसलदेव से लड़ाई हुई। वह जैन साधुओं का बड़ा भक्त था और उसने बहुत से जैन मन्दिर बनवाये थे। सन् १२५० के लगभग अन्तिम सोलंकी राजा की निर्बलता के कारण उसके सामन्त स्वतन्त्र होने लगे। बघेल वंश के एक सरदार लवणप्रसाद और उसके भाई वीरधवल ने राज्य पर अधिकार कर लिया। बघेल सोलंकी वंश की ही एक शाखा थी। इस वंश के चार राजाओं ने सन् १३०४ तक गुजरात पर राज्य किया। इस वंश के अन्तिम राजा कर्ण (१२८६-१३०४) से अलाउद्दीन के सेनापति ने देश छीन कर मुसलमानी बादशाहत में मिलाया था।

सिंहावलोकन—उत्तर भारत के जिन राजपूत वंशों का वर्णन ऊपर दिया गया है, उनमें बाहरवीं सदी के अन्त में चौहान वंशीय पृथ्वीराज सब से प्रसिद्ध, बलवान और प्रतापी था। उसकी राजधानी दिल्ली में होने के कारण उसके राज्य का राजनीतिक महत्त्व सर्वोपरि था जिसको अन्य राजपूतों की भाँति वह भी अनुभव करने में असमर्थ था। पंजाब तो बाहरी विजेताओं के अधिकार में जा ही चुका था। अब भारत की देहली (चौखट) दिल्ली बाकी थी। बाहरी आक्रमण वहीं रोके जा सकते थे। यदि उस समय पृथ्वीराज एवं अन्य भारतीय राजा इस परिस्थिति के महत्त्व का अनुभव कर सकते तो शायद उनका विनाश इतनी जल्दी न होता। पृथ्वीराज ने अपने बल के अहंकार में महोबे और कन्नौज आदि के निकटवर्त्ती राजाओं पर केवल आक्रमण ही नहीं किये, प्रत्युत् उनको अपमानित भी किया। राजनीतिक ऐक्य के अंकुर का राजपूतों में पहले ही से अभाव था। जो कुछ भ्रातृत्वजनित सहानुभूति थी, उसे भी उसने अपने हाथों खो दिया।

छठा अध्याय

मुहम्मद ग़ोरी का प्रयास और सफलता

मुहम्मद ग़ोरी के आक्रमण और राज्य-स्थापन—हम पहले बतला आये हैं कि ग़ोरी वंश ने किस प्रकार धीरे-धीरे उन्नति करके अपनी शक्ति बढ़ाई और अन्त में ग़ज़नी से महमूद के वंशजों को निकाल कर स्वयं उस पर अधिकार जमा लिया। ये लोग पूर्वी फ़ारस के निवासी थे। सन् ११६३ में ग़ज़नी को ध्वस्त करनेवाले अलाउद्दीन (जहाँसोज़) का भतीजा, बहाउद्दीन साम का लड़का गयासुद्दीन मुहम्मद बिन साम गद्दी पर बैठा। सन् ११७३ में उसने तुर्कों को ग़ज़नी से मार भगाया और अपने भाई शहाबुद्दीन मुहम्मद साम को उस प्रान्त का शासक नियत किया। इसी का नाम बाद में मुईनुद्दीन या मुहम्मद ग़ोरी हुआ। इन दोनों भाइयों में आजीवन परस्पर बड़ा प्रेम और विश्वास बना रहा। मुस्लिम इतिहास में प्रायः भाई भाई में बड़ा द्वेष-भाव और बैर ही देखा जाता है, एक दूसरे का जानी दुश्मन होता है। परन्तु ये दोनों भाई इस नियम के अपवाद हैं।

सन् ११७५ में मुहम्मद ने मुलतान और उच्च ले लिया और मुलतान के इस्माइलियों को निकालकर वहाँ एक कट्टर मुसलमान शासक नियुक्त किया।

सन् ११७८ में मुहम्मद ने मुलतान के रास्ते से नहरवाला या अनहिलवाड़ा के राय मूलराज* पर चढ़ाई की, परन्तु उससे हार कर भागा। ग़ज़नी पहुँचते पहुँचते उसकी फ़ौज के बहुत से आदमी मर गये। यह पहला अवसर था, जब कि उसकी बुरी तरह हार हुई। पर सन् ११७९ में उसने पेशावर ले लिया और सन् ११८१ में लाहौर पर चढ़ाई की। उस समय जम्मू में राजा चन्द्रदेव राज्य करता था। लाहौर के ग़ज़नवी अमीर खुसरू मलिक से उसकी नहीं बनती थी, इस कारण खुसरो ने खोखर लोगों से मैत्री कर ली और उसकी सहायता से खोखरों ने चक्रदेव को कर देना बन्द कर दिया। इनको दण्ड देने के लिये चक्रदेव ने मुहम्मद ग़ोरी को बुला भेजा†। सन् ११८६ में जब मुहम्मद ने फिर पंजाब

---

* 'तबक़ात' में भूल से राजा का नाम भीम दिया है। इसी से अन्य लेखकों ने भी वही नाम लिखा है। भीम राजा का छोटा भाई था। देखो वैद्य कृत हि० मि० ई०, जि० ३, पृ० ३३० (संस्करण १९२६)। † के० हि० ई०, ३. पृ० ३९।

पर चढ़ाई की, तब चक्रदेव के लड़के विजयदेव ने उसकी सहायता की। खुसरो मलिक हारा और क़ैद हुआ और पंजाब पर मुहम्मद का क़ब्ज़ा हो गया। अब मुहम्मद ने देश को जीतने के लिये चढ़ाइयाँ शुरू कर दीं।

मुहम्मद ने पंजाब तो जीत लिया, परन्तु इसका कारण यह था कि इस प्रान्त के शासक ग़ज़नवी वंश के अधःपतित अमीर थे। इसके बाद उसे राजपूतों से काम पड़ा। ये लोग बहुत शूर-वीर, देश-भक्त, धर्म्मनिष्ठ और योद्धा होते थे। लड़ना इनका पेशा ही था। परन्तु इनकी सामाजिक त्रुटियों के कारण इनकी सामूहिक शक्ति अत्यन्त निर्बल थी। इसी कारण राजपूत लोग इतने वीर और निर्भय योद्धा होते हुए भी मुसलमानों से अपने धर्म्म तथा देश की रक्षा न कर सके।

सन् ११९०–९१ में मुहम्मद ने एक बड़ी सेना लेकर फिर चढ़ाई की और सरहिन्द पर अधिकार कर लिया। सरहिन्द पृथ्वीराज के राज्य की सीमा पर एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। पृथ्वीराज इसकी सूचना पाते ही एक बड़ी सेना लेकर उस तरफ़ चला। थानेश्वर से बाहर मील और तरावड़ी गाँव से तीन मील के फ़ासले पर नरदिना नामक गाँव के निकट दोनों दलों में युद्ध हुआ*। राजपूतों ने दाहिने और बाएँ पार्श्वों को मारकर पीछे हटा दिया। बीच में मुहम्मद था। उसका सामना पृथ्वीराज के भाई गोविन्दराय से हुआ। मुहम्मद ने अपना बरछा गोविन्द के मुँह पर ऐसे ज़ोर से मारा कि उसके दाँत टूट गये; परन्तु इस वीर ने अपना भाला मुहम्मद की बाँह में मारा और वह घायल होकर भागा। कहते हैं कि सुलतान इस समय पकड़ा गया और उसने ३० हाथी और ५०० घोड़े देकर छुटकारा पाया। पृथ्वीराज रासो में भी ऐसा ही लिखा है। यद्यपि रासो में वर्णित प्रायः सभी घटनाएँ विश्वसनीय नहीं, तथापि संभव है कि यह प्रवाद ठीक हो†। इसके बाद पृथ्वीराज ने सरहिन्द के क़िले पर घेरा डाला और तेरह महीने के बाद उस पर अधिकार कर लिया।

ग़ोर लौटकर सुलतान ने उन सब सैनिकों को, जो युद्धक्षेत्र से भाग गये थे, बहुत कड़ा दण्ड दिया और बहुत अपमानित किया। तुरन्त ही उसने फिर एक बड़ी सेना तैयार करना शुरू किया और सन् ११९२ में १२०००० सैनिक लेकर वह फिर से भारतवर्ष पर चढ़ आया। इधर पृथ्वीराज ने पूरी तैयारी की और सब राजपूत राजाओं को देश और धर्म्म की रक्षा के लिये मिलकर यत्न करने के

* मे० हि० इं०, (वैद्य कृत) भाग ३. पृ० ३३३, (१९२६ का संस्करण)।

† उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ३३३।

लिये बुला भेजा * । कहा जाता है कि कोई १५० छोटे बड़े राजपूत राजा इस समय इकट्ठे हुए थे । इस सेना में ३०००० हाथी, ३००००० अश्वारोही और बहुत से पदाति थे । दोनों दल फिर से तरावड़ी के क्षेत्र में आकर मिले । युद्ध छिड़ते ही राजपूतों ने मुसलमानी सेना को आगे बढ़ने से रोक दिया । तब सुलतान ने अपनी सेना को पाँच हिस्सों में बाँटा । इनमें से चार को आज्ञा हुई कि शत्रुओं को दाहिने, बाएँ, आगे और पीछे चारों ओर से हमले करके खूब तंग करें और बारी बारी से इस प्रकार पीछे हट जायँ, मानो डर कर भाग रहे हैं । जब फिर से राजपूत सेना इकट्ठी हो जाय, तब फिर सब एक दम हमला बोल दें । पाँचवाँ हिस्सा इस काम के लिये था कि जब राजपूत खूब परेशान हो चुकें, तब एकाएक उनके केन्द्र पर धावा बोला जाय । इसी प्रकार की युद्ध-चातुरी से महमूद ने भी काम लिया था । परन्तु राजपूतों ने पुराने अनुभव से कुछ भी नहीं सीखा था । इस चतुराई के सामने उनकी वीरता और शौर्य सब व्यर्थ रहे । उनकी हार हुई । पृथ्वीराज बंदी हुआ और मार डाला गया । इस हार का इतना बुरा प्रभाव पड़ा कि फिर किसी राजपूत राजा का साहस न हुआ कि सब राजाओं को एक झण्डे के नीचे इकट्ठा करके बैरी को रोकने का यत्न करता । राजपूतों की हिम्मत टूट सी गई ।

युद्ध के बाद सिरसुती, समाना और हाँसी आदि के क़िले मुसलमानों ने बिना रोक-टोक अधिकृत कर लिये और तब सुलतान अजमेर पहुँचा और उसने जी भर कर नगर को लूटा एवं सहस्रों निरपराधों का वध किया । इसके अतिरिक्त उसने बहुत से मन्दिरों और देवस्थानों को भी तोड़कर उनके सामान से मस्जिदें बनवाईं । यह देखकर कि इतने दूरस्थ नगर में किसी मुसलमान शासक का रहना सुरक्षित न होगा, उसने पृथ्वीराज के एक लड़के को अजमेर का शासक नियत कर दिया । इसने सुलतान को वार्षिक कर देने का वादा किया ।

कुतुबुद्दीन ऐबक और उसका काम—ग़ज़नी लौटते समय सुलतान ने अपने सबसे प्रिय दास कुतुबुद्दीन ऐबक को भारतीय प्रान्तों का शासक नियत किया । वास्तव में इसी कुतुबुद्दीन को भारत में मुस्लिम राज्य की नींव डालने

---

* चन्द बरदाई ने रासो में लिखा है कि क़न्नौज के राजा जयचन्द ने मुहम्मद को बुलाया था । इसी से टाड और मेजर रेवर्टी ने भी यही मत ग्रहण किया है । परन्तु इसमें कुछ सार नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा होता तो समसामयिक मुसलमान लेखक भी इसका उल्लेख अवश्य करते । जान पड़ता है कि चन्द ने पृथ्वीराज के दुश्मन को बदनाम करने के लिए ऐसा लिखा है ।

का श्रेय प्राप्त हुआ। बचपन में इसे नीशापुर के शासक ने मोल लिया था। फिर वह मुहम्मद के पास आ गया। उसकी उदारता और चतुराई के कारण मुहम्मद इससे बहुत प्रभावित हुआ और उस पर अपने भाई के समान विश्वास करने लगा।

सब से पहले (सन् ११९२) ऐबक ने हाँसी के मुसलमान किलेदार को जाटों से बचाया। वहाँ से लौटते ही उसने मेरठ पर चढ़ाई की और वहाँ के हिन्दू राजा से किला छीन लिया। फिर उसने दिल्ली ले ली (सन् ११९२ के अन्त में) जो अब तक राजपूतों के हाथ में थी और जिसको लिये बिना मुसलमान आगे न बढ़ सकते थे। सन् ११९३ में उसने दिल्ली को शासन का केन्द्र और राजधानी बनाया। इसी समय सुलतान का एक और सैनिक पूरब की ओर बंगाल तक पहुँच गया था (इसका हाल पीछे दिया जायगा)। इसके साथ ऐबक ने दोआब में घुस कर कोइल (वर्तमान अलीगढ़) तक की भूमि हस्तगत कर ली। इतने ही में मुहम्मद कन्नौज पर चढ़ाई करने के लिये फिर आ पहुँचा था। कुतुबद्दीन ५०००० घुड़सवारों को लेकर उससे जा मिला।

कन्नौज की चढ़ाई—सन् ११९३ में कन्नौज का गहड़वाल राजा जयचन्द अपनी सेना लेकर आगे बढ़ा और चँदवर (वर्त्तमान फीरोजाबाद) के पास यमुना के किनारे दोनों दलों का सामना हुआ। मुसलमानों की हार में कुछ देर न थी; पर दुर्भाग्य से जयचन्द की आँख में एक तीर लगा और वह तुरन्त मर कर अपने हाथी से नीचे गिर पड़ा। बस, उसकी सेना भाग खड़ी हुई। फिर तो मुसलमानों ने उनका खूब पीछा किया और हजारों को तलवार के घाट उतारा। जयचन्द का कोष लूटा; और तब बनारस पहुँच कर हजारों मन्दिरों को तोड़ कर मसजिदें बनाईं और उनका माल-मता लूटा।

अजमेर में मुहम्मद के नियुक्त किये हुए शासक को निकाल कर पृथ्वीराज का बेटा हेमराज शासक बन गया था। ऐबक ने उसे हराकर अजमेर में एक मुसलमान शासक नियुक्त किया। (सन् ११९४)

गुजरात, कालिंजर आदि की विजय—सन् ११९५ में ऐबक ने गुजरात (नहरवाला) के राजा पर चढ़ाई कर दी और उसे हरा कर उससे अपने स्वामी मुहम्मद की पहली हार का पूरा-पूरा बदला चुकाया। इसी समय ग्वालियर, बयाना इत्यादि स्थानों को उसने अपने शासन में कर लिया। इस विजय की सूचना पाकर सुलतान ऐबक से बहुत प्रसन्न हुआ और उसे गजनी बुलवा कर उसका विशेष आदर किया और उसे अपने भारतीय राज्य का शासक नियुक्त किया। वह सन् ११९६ में दिल्ली को लौटा। मुहम्मद ने इस वर्ष फिर से

हाँसी और बयाना पर हमला किया और उन्हें अपने राज्य में मिला लिया। ग्वालियर का किला वह न ले सका। परन्तु राजा ने वार्षिक कर देने का वादा करके छुटकारा पाया।

हिन्दू प्रतिरोध—हिन्दू लोग देश के किसी कोने में अपने मुसलमान विजेताओं से सन्तुष्ट नहीं थे। उनका सदैव यह प्रयत्न रहता था कि किसी प्रकार अपनी खोई हुई स्वाधीनता फिर से प्राप्त करें। इसलिये हम देखेंगे कि देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में जहाँ किसी को तनिक सा भी अवसर मिला, तुरन्त उसने पराधीनता का जूआ फेंकने का यत्न किया। सुलतानी शासन के ३०० वर्ष इसी प्रकार के छोटे-बड़े विद्रोहों की कहानियों से भरे हुए हैं। अपने इस राजनीतिक पतन के काल में हिन्दू लोग अपनी स्वाधीनता को एक क्षण के लिये भी न भूले और उसकी प्राप्ति के लिये लगातार प्रयास करते रहे। अपने धर्म और पवित्र स्थानों का अपमान देखकर वे सुख-शान्ति से न रह सकते थे। उनके मन में बड़ा क्षोभ होता था। परन्तु वे बराबर अपने प्रयास में विफल होते थे। इसका कारण यह था कि वे एकता, सामूहिक शक्ति, सहयोग और संघटन शक्ति का महत्व भूल गये थे। सामाजिक और नैतिक जीवन के इन परमावश्यक तत्वों को वे समझ ही न पाये। सैकड़ों सरदारों और राजपूत वीरों ने पृथक् पृथक् स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया और वीरता, कष्टसहन, निर्भीकता एवं आत्म-त्याग से शत्रु दल को भी चकित कर दिया और वे अपना नाम अमर कर गये। बलबन इत्यादि मुसलमान शासकों ने अनेक बार विद्रोहियों को ऐसे दण्ड दिये जिनकी मिसाल इतिहास के पन्नों में कठिनाई से मिलेगी। बच्चों, बूढ़ों, स्त्रियों, सब को काट डाला, हजारों की जीते जी खाल खिंचवाई, या उन्हें सूलियों पर टँगवा दिया, उनके गाँवों को जला डाला, परन्तु सब व्यर्थ। ये स्वाधीनता के पुजारी इतनी भीषण यातनाओं से भी तनिक भयभीत न हुए और स्वाधीनता के लिये सतत प्रयास करते रहे *।

---

* लेखक का यह विचार है कि समस्त सुलतानी शासन काल में इन विदेशी शासकों के विरुद्ध एक हिन्दू प्रतिरोध जारी रहा। जिन पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय इतिहास का पहले-पहल अध्ययन किया, उनको हिन्दुओं की सारी स्वाधीनता की लड़ाई एक अनुचित और तिरस्करणीय राजविद्रोह के रूप में दिखाई पड़ी। वे यह बात भूल गये कि हिन्दू किसी वैध और स्वदेशी राजा या शासक के विरुद्ध नहीं लड़ रहे थे। राजपूत राजाओं के समय में इन्हीं लोगों ने, जिन्हें यूरोपीय इतिहासकार केवल डाकू और लुटेरों के गरोह बतलाते हैं, इस प्रकार का कोई विद्रोह या लूट-मार नहीं की। परन्तु खेद यह है कि हाल के हिन्दुस्तानी

मेढ़ जाति का विद्रोह (११९७)—हिन्दुओं का यह सतत प्रयास हमें इस युग में बराबर दिखाई पड़ता है। सन् ११९२ के मध्य में जाटों ने हाँसी को वहाँ के मुसलमान शासक से छीन ही लिया था। अब सन् ११९७ में अजमेर प्रान्त के मेढ़ों ने बलवा कर दिया और गुजरात के राजा भीम को बुलाया कि दोनों मिल कर मुसलमानों को अपने देश से निकाल दें। उस समय ऐबक अजमेर ही में था। उसने तुरन्त उन पर आक्रमण किया। राजा भीम अभी पहुँच भी नहीं पाया था, तो भी मेढ़ लोग बड़ी वीरता से दिन भर लड़ते रहे। अगले दिन भीम की सेना आ पहुँची। मुसलमानों को पीछे हट कर शहर में घुसना पड़ा। हिन्दुओं ने शहर पर घेरा डाल दिया। परन्तु थोड़े दिन बाद जब यह खबर आई कि ऐबक की सहायता के लिये सुलतान एक बड़ी सेना लेकर गजनी से आ रहा है, तब वे घेरा उठा कर लौट गये।

अन्हिलवाड़ा की चढ़ाई और लूट—जब सुलतान की सेना अजमेर पहुँची, तब ऐबक ने राजा भीम से बदला लेने के लिये अन्हिलवाड़ा पर चढ़ाई कर दी और आबू की तलहटी में दोनों दलों की मुठभेड़ हुई। ऐबक हमला करने से डरा। इतने में हिन्दू पहाड़ की तलहटी से हट कर आगे बढ़ आये। अब उसे अवसर मिल गया और उसने धावा बोल दिया। दिन भर खूब घमासान युद्ध हुआ। अन्त में हिन्दुओं की हार हुई। कहते हैं कि इस युद्ध में १५००० हिन्दू काम आये और २०००० पकड़े गये। ऐबक ने अन्हिलवाड़ा को खूब लूटा और बहुत सा माल लेकर वापस लौटा।

इसके बाद सुलतान मुहम्मद पाँच वर्ष तक भारत में न आ सका और फलतः उत्तरी भारत में शान्ति रही। परन्तु बंगाल में इख्तियार उद्दीन इस समय भी बराबर चढ़ाई करता रहा।

सन् १२०२ में ऐबक ने विजय कार्य फिर आरम्भ किया। पहले तो चन्देल राजा के मन्त्री और स्थानापन्न अजयदेव से कालिंजर छीना और नगर में लूट-मार

इतिहासकारों ने भी अपने पाश्चात्य गुरुओं के निश्चयों को बिना विचारे मान लिया और बराबर उन्हे उसी प्रकार दुहराते चले आते हैं। लेखक की सम्मति यह है कि ये सैकड़ों हिन्दू सरदार अपनी स्वाधीनता एवं अपने देश पर विदेशियों से अधिकार छीनने के लिये लड़ते थे, न कि इसलिये कि लूट-मार करना इनका पेशा था। यदि उनमें एकता और संघटन होता और वे अपने प्रयास में सफल हो गये होते तो उनको लुटेरा न कहकर वीर क्षत्रियों की पदवी दी गई होती।

करके ५०००० औरतों और मरदों को कैद किया। मन्दिरों को तोड़कर मस्जिदें बनाईं। फिर महोबे को अधिकृत किया।

हिन्दू विद्रोह और मुहम्मद की मौत—सन् १२०५ में ख्वारिज्म शाह ने मुहम्मद को बुरी तरह से हराया जिससे उसकी कीर्ति को बड़ा धक्का पहुँचा। यहाँ तक कि यह ख़बर फैल गई कि मुहम्मद मारा गया। इस समय खोखर और आस-पास की अन्य कई जातियों ने बलवा करके मुलतान और लाहौर छीन लिये। मुहम्मद ने अवकाशाभाव के कारण ऐबक को आज्ञा दी कि इस उपद्रव को शान्त करो। इससे विद्रोही और भी उत्तेजित हो गये। तब उसे स्वयं आना पड़ा। झेलम और चुनाब के बीच में खोखरों से (सन् १२०५ के अक्तूबर मास में) बड़ी भारी लड़ाई हुई। जब शाम को ऐबक भी सुलतान की सहायता के लिये आ पहुँचा, तब खोखरों ने हार मानी। खोखरों को बड़ी निर्दयता से मारा-काटा गया। हजारों खोखर गुलाम बनाये गये और गज़नी के बाज़ार में पाँच-पाँच खोखर एक-एक दीनार को बेचे गये।

सन् १२०६ में ग़ज़नी लौटते समय सिन्धु नदी के किनारे मुहम्मद को शायद इस्माइली फ़िरके के लोगों ने मार डाला। इसके बाद गोरी वंश के सुलतान साम्राज्य को न सँभाल सके और उनके भिन्न भिन्न प्रान्तीय शासकों ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये।

बंगाल का मुसलमानी राज्य में मिलना—सन् ११९३ में, जब कि ऐबक ने दिल्ली में अपना आसन जमाया, दो और मुसलमान सैनिक बदायूँ और अवध को जीत चुके थे। इसी समय अवध के आगे एक तीसरे सैनिक इख़तियार उद्दीन बिन बख़तियार ख़िलजी ने बिहार राज्य के मुख्य नगर उदन्त को लूटा, वहाँ के बौद्ध महन्तों का वध किया और उनका पुस्तकालय तथा और बहुत सी चीजें लेकर दिल्ली वापस आया। ऐबक ने उसका स्वागत किया और उसे बिहार का जागीरदार बना कर लौटा दिया। अब उसने समस्त बंगाल को जीतने की योजना की। सन् १२०२ में सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन पर धोखे से हमला किया *। लक्ष्मणसेन उस समय नवद्वीप (नदिया) में

* तबक़ाते नासिरी के लेखक ने लक्ष्मणसेन के भाग जाने की जो बात लिखी है, उसमें बहुत अत्युक्ति है। पाश्चात्य लेखकों ने इसी कथन के आधार पर उसको भीरु लिखा है। यदि यह बात सत्य भी हो कि लक्ष्मणसेन को भागना ही पड़ा, तो भी उसे भीरु नहीं कहा जा सकता। उस समय वह अपने विद्यापीठ की यात्रा करने गया हुआ था। उस समय उसके पास कोई सेना न थी; और जब वह भोजन करने को बैठा, तब धोखे से

था। इख्तियारउद्दीन वहाँ खूब लूट-मार करके लखनावती (गौड़) को लौट आया और उसे राजधानी बना कर बंगाल प्रान्त का शासन करने लगा। वहाँ उसने मस्जिदें, विद्यालय, सराएँ इत्यादि सार्वजनिक भवन बनवाये।

मुहम्मद ग़ोरी का चरित्र और सफलता—तत्कालीन मुसलमान लेखकों ने मुहम्मद ग़ोरी की उदारता की बहुत प्रशंसा की है। वे कहते हैं कि उसके दरबार में विद्वानों और गुणवानों को आश्रय मिलता था। मुहम्मद कोई बड़ा योद्धा अथवा सैनिक नहीं था। हाँ, उसमें भी नये-नये देश जीतने और लूट-मार करने की वही आकांक्षा थी जो महमूद ग़ज़नवी के मन में थी। परन्तु उसमें एक यह विशेषता थी कि वह केवल लूट-मार से ही सन्तुष्ट न रह कर स्थायी राज्य भी स्थापित करना चाहता था। इसका फल यह हुआ कि भारत में उसने मुसलमानी राज्य की नींव डाली और इस प्रकार उसे इस्लाम की शक्ति को विस्तृत करने का अच्छा अवसर मिला। चाहे उसका उद्देश्य केवल धार्मिक ही न था, परन्तु अन्य मुसलमानों की भाँति उसने भी हिन्दू देवस्थानों को तोड़ने और उनका धर्म्म नष्ट करने में कसर न की। इसी नीति का यथा-सम्भव उसके उत्तराधिकारी पालन करते रहे; इसी कारण वे बहुत दिनों तक भारतीय जनता के साथ न मिल सके। मुहम्मद ने पहले-पहल इस देश में एक स्थायी मुसलमानी साम्राज्य की नींव डाली। इस बात में वह महमूद ग़ज़नवी से अधिक सफल हुआ। इसके अन्य कई कारणों में से एक कारण यह भी जान पड़ता है कि महमूद की सेना में कोई नैसर्गिक साम्य और एकता नहीं थी। तातार, तुर्क, मुग़ल, अफ़ग़ान, ईरानी, अरबी, हिन्दू, सभी जातियों के लोग उसमें शामिल थे और वे अपने भेद-भावों को अभी अच्छी तरह न भूल पाये थे। परन्तु इस्लाम धर्म्म के नाम पर लड़ने का मन्त्र उनके कान में फूँक कर महमूद ने उस ऐक्य का बीज बो दिया था जो मुहम्मद ग़ोरी के काल तक पूरा फल लाया। इस १५० वर्ष के अवकाश में अफ़ग़ानिस्तान और निकटवर्ती देशों के लोग अपने प्राचीन जातीय भेद-भावों को भूल कर इस्लाम धर्म्म के एक सार्वजनिक मञ्च पर आकर समजातीय बन गये थे, जिस पर महमूद ने उनको पहले-पहल एकत्र किया था। इसका फल यह हुआ कि महमूद को कोई ऐसा योग्य उत्तराधिकारी न मिला जिसके कंधों पर वह अपने कार्य की पूर्ति का भार सौंप जाता। उसके निजी वंशजों का पतन तो पहली पीढ़ी में ही शुरू हो गया था। इसके

उस पर मुसलमानों ने हमला कर दिया। ऐसी परिस्थिति में बड़े से बड़ा योद्धा भी सिवा भागने के और क्या कर सकता था!

प्रतिकूल मुहम्मद की सेना में अनेक ऐसे नेता और सरदार थे जो उसी के समान योग्य और जोशीले थे। अपने इन्हीं सच्चे सेवकों के कारण मुहम्मद को भारत में मुसलमानी साम्राज्य के प्रवर्त्तक होने का श्रेय प्राप्त हुआ। यदि ऐबक, बखतियार, कुबाचा इत्यादि मुहम्मद के कार्य को अपनी योग्यता और परिश्रम से पूरा न करते तो एक बार फिर मुसलमानी राज्य का वहीं अन्त हो गया होता।

मुहम्मद ग़ोरी के उत्तराधिकारी और उनका काम—मुहम्मद का शव ग़ज़नी ले जा कर दफ़नाया गया। इसके बाद उसके अयोग्य उत्तराधिकारी ग़ोरी साम्राज्य पर अपना अधिकार न रख सके। उसके सब दूरस्थ प्रदेश स्वतन्त्र हो गये। उसके भारतीय प्रान्त का शासक कुतुबुद्दीन ऐबक था और ताजउद्दीन किरमान का। सुलतान के मरने पर कुतुबुद्दीन ने सुलतान की उपाधि धारण की और बंगाल तथा मुलतान के शासकों ने उसका प्रभुत्व मान लिया।

लखनौती में भली भाँति स्थित होने के बाद बखतियार को समस्त पूर्वीय देशों के जीतने की सूझी। उसने एक मुस्लिम की सलाह से सन् १२०५ में १०००० घुड़सवारों की सेना तैयार की और कामरूप के राजा से सन्धि करके वह पहाड़ों में इतना आगे घुस गया कि वहाँ से उसकी सेना सही-सलामत वापस न आ सकी। इख़तियार उद्दीन स्वयं बड़ी कठिनाई से कोई केवल १०० सवारों के साथ लखनावती पहुँचा और इसी हार के दुःख में उसका देहान्त हो गया। इसके बाद अलीमरदान खिलजी बंगाल का शासक बना।

ताज उद्दीन यल्दुज़ ग़ज़नी का सुलतान बन बैठा था। जब सिंध के शासक नासिरउद्दीन कुबाचा ने अपने श्वसुर ऐबक का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया, तब यल्दुज़ ने, जो ग़ज़नी का सुलतान होने के कारण अपने आपको कुबाचा का स्वामी मानता था, उस पर हमला कर दिया। पर ऐबक ने सिंध जाकर यल्दुज़ को मार भगाया। फिर ग़ज़नी जाकर बहुत कठोर शासन किया जिसके कारण अवसर पाकर यल्दुज़ ने उसे फिर वहाँ से निकाल दिया। लाहौर लौट कर ऐबक चौगान खेलते समय घोड़े से गिर कर मर गया (सन् १२१० ई०)।

कुतुबुद्दीन का शासन—मुसलमान लेखकों के अनुसार ऐबक बड़ा उदार, दानी, बुद्धिमान और न्याय-प्रिय था। उसने देहली की शक्ति को स्वीकार कराने और सुसंघटित बनाने के लिये भिन्न भिन्न प्रदेशों के शासकों से सम्बन्ध जोड़े। उसे शासन को उन्नत करने का समय नहीं मिला। हिन्दुओं के साथ उसका वैसा ही बरताव रहा जैसा महमूद ग़ज़नवी या मुहम्मद ग़ोरी का था। उन हिन्दू सरदारों के साथ, जिन्होंने उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया, उसने

उदारता का व्यवहार किया, अर्थात् उनसे जज़िया और राजकर लेना स्वीकार करके उन्हें मुसलमान बनने पर विवश न किया। परन्तु अजमेर, बनारस और देहली में उसने एक भी हिन्दू मन्दिर बाकी न छोड़ा *। इन मन्दिरों की सामग्री से उसने मस्जिदें बनवाईं जिनमें अजमेर और देहली की मस्जिदें प्रसिद्ध हैं।

उसके बाद कोई एक वर्ष तक उसके लड़के आराम शाह ने राज्य किया। परन्तु वह बड़ा अयोग्य था, इसलिये दरबारी लोग उसे पसन्द न करते थे। उन्होंने ऐबक के दामाद अल्तमिश को बदायूँ से बुलवा भेजा। वह सन् १२११ के अन्तिम दिनों में देहली आया और आराम को हराकर स्वतंत्र रूप से गद्दी पर बैठ गया।

---

* ई० जि० २, पृ० २१७ और २२३।

दूसरा खण्ड

पहला अध्याय

देहली की सल्तनत, उत्थान और पतन

सल्तनत का विस्तार और संघटन

दास वंश

अल्तमश वंश और राजगद्दी—अल्तमश और ऐबक दोनों अपनी योग्यता के कारण राज्य के मालिक बने थे। जिस प्रकार आराम को अमीरों ने ना-पसन्द करके अल्तमश को बुलाया था, उससे यह बात स्पष्ट है कि ये लोग अभी तक निर्वाचन के सिद्धान्त को अधिक मानते थे।

अल्तमश इल्बारी फ़िरक़े के एक उच्च वंश का तुर्क था। उसके भाइयों ने उसे बेच डाला था। अन्त में उसे ऐबक ने ख़रीद लिया था। वह ग्वालियर और फिर बरन और बदायूँ का शासक रहा।

उत्तरी भारत की राजनीतिक परिस्थिति और अल्तमश की समस्याएँ—ऐबक ने मुसलमानी राज्य की स्थापना तो कर दी, पर जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं, वह उसका संघटन न कर सका। इस समय तीन बड़ी समस्याएँ देहली के सुलतान के सामने थीं जिनको हल किये बिना वह सल्तनत को सुदृढ़ नहीं बना सकता था। यही समस्याएँ अन्य सुलतानों के सामने भी रहीं। इन्हींका निराकरण करने में जितनी-जितनी सफलता सुलतानों को हुई, उसी के अनुपात से उनकी योग्यता का अनुमान किया जा सकेगा।

सबसे बड़ी समस्या यह थी कि दास वंश के सुलतान मुहम्मद ग़ोरी के सैनिकों में से ही थे। वे किसी प्राचीन राजवंश के न थे जिसका प्रभुत्व सब को स्वीकृत होता। अन्य तुर्की सैनिक अपने को सुलतान के बराबर ही समझते थे। दूसरे,

मुसलमानी राजनीतिक परिपाटी ने उन्हें यही सिखलाया था कि कोई वंश-विशेष राज्य का सदैव के लिये अधिकारी नहीं हो सकता। राजा का पद निर्वाचन पर निर्भर समझा जाता था। फलतः समस्त सैनिक नेता स्वतन्त्र राज्य-स्थापना एवं सल्तनत पर अधिकार करने की चेष्टा करते रहते थे। साथ ही एक बड़ा प्रबल दल हिन्दुस्तानी मुसलमानों का उत्पन्न हो रहा था। इनके और बाहरी अमीरों के बीच सदा बड़ा द्वेष और वैमनस्य रहता था। ये लोग भी विद्रोह करने और अपना प्राधान्य स्थापित करने के अवसर की ताक में ही रहते थे। इन विद्रोही दलों को दबाए रखना सुलतान के लिये सब से प्रथम और आवश्यक कर्त्तव्य था।

दूसरी समस्या हिन्दू राजाओं और सैनिकों की थी। सुलतानों की शासन नीति कभी इतनी उदार, राष्ट्रीय अथवा प्रजा-हितकारी न हुई जिससे हिन्दू प्रजा अपनी पराधीनता को भूल कर अपने शासकों के प्रति प्रेम और आदर का भाव रख सकती। इस कारण सल्तनत के आदि से लेकर अन्त तक कोई समय ऐसा न था जिसमें हिन्दुओं के छोटे बड़े सैनिकों और नेताओं ने जगह-जगह पर विद्रोह की पताका खड़ी न की हो। इस सतत विद्रोह का दमन करते रहना सुलतानों के लिये दूसरा आवश्यक कार्य था।

तीसरी समस्या थी पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा की, जिसने इस काल में बहुत भीषण रूप धारण कर लिया था। बात यह थी कि मध्य एशिया में तुर्क और मुग़ल जातियों के अनेक छोटे-छोटे राज्यों में उस समय बड़ी खल-बली मची हुई थी जिसके कारण बहुत से मुग़ल सरदारों को अपना देश छोड़ कर भागना पड़ता था। इसके अतिरिक्त वे राज्य-विस्तार के विचार से भी दूसरे देशों पर चढ़ाई कर देते थे। अतएव चंगेज़ खाँ के काल से पूरी दो शताब्दियों तक बराबर मुग़लों के आक्रमण होते रहे जिनसे सल्तनत को बड़ा भारी भय बना रहा और उसके संघटन एवं विस्तार पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा।

अल्तमश का राज्य—अल्तमश का राज्य प्रारम्भ में बहुत थोड़ा था। केवल देहली से बनारस तक के सूबे उसके क़ब्ज़े में थे और इनमें भी तुर्की अमीर और हिन्दू लोग सदैव विद्रोह पर उतारू रहते थे। बाक़ी के सब सूबे स्वतन्त्र हो बैठे थे।

सब से पहले उसने यल्दोज़ को (१२१६) और फिर नासिरउद्दीन कुबाचा को (१२१७) लाहौर से निकाला।

सन् १२२१ में मुग़ल आक्रमण शुरू हो गये। चंगेज़ ने ख़्वारिज़ा पर चढ़ाई की। वहाँ का शाह जलालउद्दीन भाग कर भारतीय सीमा पर आ गया

और उसके बेटे ने लाहौर में शरण ली। वहाँ से उसने अल्तमश से प्रार्थना की कि मुझे देहली में आने दो। परन्तु मुग़लों के भय से सल्तनत को बचाने के लिये अल्तमश ने उसे यह कह कर रोक दिया कि भारत का जल-वायु तुम्हारे अनुकूल न होगा। सौभाग्य से चंगेज़ खाँ सिंधु नदी के इस पार न आकर वहीं से वापस लौट गया और देश एक बड़े भयानक हमले से बच गया।

इन कामों से छुट्टी पाकर अल्तमश ने बंगाल प्रान्त को फिर से अधिकृत करने का इरादा किया। सन् १२२५ में वह बिहार होता हुआ एक सेना लेकर बंगाल पर जा चढ़ा। उसके पहुँचते ही वहाँ के शासक ग़यासुद्दीन ने उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। उसी समय सुलतान ने अपने लड़के नासिरुद्दीन को अवध का सूबेदार बनाया और बिहार पर भी अधिकार स्थापित किया।

सन् १२२६ में उसने रणथंभोर का क़िला फिर से जीता और उसी साल बिजनौर ज़िले में मण्डावर का सुदृढ़ क़िला भी जीता *। यह क़िला इस समय राहुप नामी एक अग्रवाल वैश्य के अधिकार में था जिसने पड़िहार राजाओं से उसे छीन लिया था।

अब हिन्दुस्तान पर तो उसका अधिकार जम गया, परन्तु सिंध में कुबाचा अब भी स्वतन्त्र था। सन् १२२७ में उसने कुबाचा पर चढ़ाई की और उसे हरा कर सिंध पर भी देहली का अधिकार जमा लिया। कहा जाता है कि कुबाचा सिंधु में डूब गया और सूबा एक प्राचीन राजपूत वंश के शासन में छोड़ दिया गया, जो मुसलमान हो गये थे।

सन् १२२९ के प्रारम्भ में बग़दाद के ख़लीफ़ा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करके अपने एक घोषणापत्र द्वारा उसका सुलतान-ए-हिन्द का ख़िताब स्वीकार कर लिया और उसके लिये एक ख़िलअत भेजवाई जिससे उसका प्रभाव बहुत बढ़ गया।

सन् १२२६ में बंगाल के शासक ने फिर विद्रोह किया और बिहार के शासक को मार भगाया। इस बार अवध से अल्तमश के लड़के महमूद ने विद्रोही को पराजित किया और बंगाल का शासन अपने हाथ में ले लिया। परन्तु शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो जाने पर उस प्रान्त में फिर से विद्रोह हो गया। तब सन् १२३० में सुलतान ने विद्रोह का फिर से दमन कर अलाउद्दीन जानी को वहाँ का शासक नियुक्त किया।

सन् १२३२ के प्रारम्भ में उसने गवालियर के क़िले पर घेरा डाला।

---

* के० हि०-३, पृ० ५३।

ऐबक के बाद राजा मंगलदेव ने इस पर क़ब्ज़ा किया था। कोई दस महीने तक घेरा डाले रखने के बाद राजा रात को बचकर भाग गया और अल्तमश ने क़िले में घुसकर सात सौ निरपराध हिन्दुओं को मरवा डाला। वहाँ से लौट कर सन् १२३३ में उसने बलबन को मोल लिया, जो थोड़े ही दिन बाद सुलतान बना।

इतने दिनों तक प्रयत्न करने के बाद अल्तमश केवल उतने भाग पर अपना अधिकार जमा सका था जितने पर ऐबक का शासन था। अब इसका कुछ विस्तार करने के विचार से उसने सन् १२३४ में मालवे पर चढ़ाई की और भिलसा को लेता हुआ उज्जैन पर पहुँचा। उस नगर को उसने खूब लूटा और मन्दिरों को तोड़ा। वह महाकाल के विख्यात मन्दिर के लिंग, महाराज विक्रमादित्य की प्रतिमा तथा अन्य बहुत सी मूर्तियाँ देहली ले गया।

सन् १२३५ में इस्लामी फ़िरके के लोगों ने एक षड्यन्त्र रचा और अल्तमश का वध करना चाहा, परन्तु वह बच गया और उस फ़िरके के सब लोगों को उसने मरवा डाला।

सन् १२३६ में वह खोखरों का विद्रोह दबाने के लिये रवाना हुआ, परन्तु मार्ग में बीमार पड़कर देहली लौट आया और थोड़े दिन बाद मर गया। मरते समय उसने अपने जीवित लड़कों में से किसी को भी योग्य न देखकर अपनी लड़की रज़िया को राजगद्दी पर बैठने के लिये नामाङ्कित किया।

अल्तमश का चरित्र और कार्य—अल्तमश दास वंशीय सुलतानों में सबसे श्रेष्ठ और योग्य था। उसको सबसे अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। ऐबक के जीते हुए लगभग सारे राज्य को उसे फिर से जीतना पड़ा और अनेक विद्रोहों का दमन करना पड़ा। अल्तमश की महत्ता इस बात में थी कि ऐबक को तो सदा ग़ोरी साम्राज्य से बड़ी सहायता मिलती रहती थी, परन्तु को अपने बूते पर ही सब काम करना पड़ा था। इसके अतिरिक्त उसने मालवा और सिंध, ये दो प्रान्त और भी सल्तनत में मिलाये थे। उसने शासन में भी कुछ सुधार करने की चेष्टा की थी। तबक़ाते नासिरी के लेखक मिनहाजुस्सिराज ने उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

केन्द्रीय शक्ति का ह्रास और पुनरुद्धार—रोम साम्राज्य के पतन के इतिहास में जगद्-विख्यात लेखक गिबन ने एक स्थान पर पूर्वी राजवंशों के विषय में लिखा है कि ये वंश पतन और उत्थान के एक अटल और अविछिन्न चक्र में बँधे हुए पाये जाते हैं। इस सिद्धान्त में चाहे जितनी कम या ज्यादा सचाई हो, पर कम से कम भारतीय तुर्क और अफ़ग़ान वंशों के विषय में तो यह बात बिलकुल

ठीक है। एक महान् पुरुष अपने बल-वीर्य और पराक्रम से एक बड़े साम्राज्य की नींव डालता है, परन्तु तुरन्त ही उसके उत्तराधिकारी पतन को प्राप्त होते हैं। उनमें न वीर्य होता है, न पराक्रम; और वे अपने पूर्वज के उठाये हुए भवन को अपनी अयोग्यता के कारण फिर मिट्टी में मिला देते हैं। इसके बाद फिर कोई वीर उत्पन्न होता है और उसका पुनरुद्धार करता है। यह चक्र अन्त तक इसी प्रकार चलता रहता है। इसका कारण स्पष्ट है। जहाँ एक शक्तिशाली के हाथ में विपुल मात्रा में शक्ति और संपत्ति आ जाय और उसके जीवन का आदर्श अपनी मानसिक वासनाओं को पूरा करने के सिवा और कुछ न हो, न समाज-सेवा का कोई नैतिक आदर्श उसके जीवन को प्रेरित एवं उद्दीप्त करने के लिये वर्त्तमान हो, वहाँ ऐसी सुख-संपत्ति का अवश्यम्भावी फल पतन के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? राजा के कर्त्तव्यों का कोई पारमार्थिक आदर्श इन सुलतानों के जीवन में विद्यमान नहीं था। यही कारण उनके पतन का होता था। महमूद ग़ज़नवी से लेकर तुर्क सल्तनत के अन्त तक के इतिहास में हमें लगातार यही दृश्य दिखाई पड़ता है।

रुक्नुद्दीन फ़ीरोज़ (अप्रैल—नवम्बर १२३६)—अल्तमश के मरने पर दरबारियों ने उसकी वसीयत के विरुद्ध उसके बेटे रुक्नुद्दीन फ़ीरोज़ को, जो बदायूँ का शासक था, गद्दी पर बैठा दिया और अपनी अपनी जागीरों को रवाना हो गये। उनके विदा होते ही फ़ीरोज़ और उसकी माँ शाह तुर्कान ने, जो पहले एक बाँदी थी, इतना अत्याचार और अनर्थ करना शुरू किया कि साम्राज्य में चारों ओर खलबली मच गई और बंगाल, लाहौर, मुलतान इत्यादि सूबे स्वतन्त्र हो गये। जब वह पंजाब के विद्रोहियों का दमन करने चला, तब उसके साथी भी उसके दुश्मनों से जा मिले और देहली की जनता ने उसकी माँ के विरुद्ध बलवा करके रज़िया को गद्दी पर बैठा दिया। माँ-बेटे दोनों पकड़ कर मार डाले गये। इस प्रकार छः महीने के अन्दर एक अयोग्य व्यक्ति का अन्त हुआ।

सुलताना रज़िया या सुलतान रज़ियत उद्दीन—इस उथल-पुथल में रज़िया गद्दी पर तो बैठ गई, परन्तु उसको भीषण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। देहली की जनता को छोड़ कर अन्य अमीर उसे सुलताना स्वीकार करने को तैयार ही न थे। सल्तनत का वजीर जुनैदी भी उसके विरुद्ध था। मुलतान, हाँसी, लाहौर और बदायूँ के शासक एक गुट बना कर देहली पर चढ़ आये, परन्तु रज़िया ने इस बार बड़ी चालाकी से उनमें परस्पर फूट डलवा दी और उन सब को एक दूसरे पर इतना संदेह हो गया कि मुख्य मुख्य विद्रोही भाग निकले

और जुनैदी भी भाग कर सिरमूर की पहाड़ों में जा छिपा और वहीं मर गया। थोड़े समय के लिये रज़िया ने अपनी चतुराई से अपनी धाक जमा ली। उसने लाहौर और मुलतान के प्रान्तों में अपने विश्वसनीय शासक भेजे और सिंध तथा बंगाल के शासकों ने भी उसे सुलताना मान लिया। इसी समय उसने रणथम्भोर को फिर से लेने के लिये सेना भेजी, परन्तु वह विफल रही।

इस प्रकार अपना प्रभुत्व जमता देख रज़िया ने मरदाना लिबास पहनना और परदे को त्याग कर खुले मुँह दरबार में बैठना शुरू कर दिया। इस पर भी काफ़ी असन्तोष फैला। परन्तु जब उसने याकूत नामी एक हबशी को अमीर आख़ोर (अर्थात् अस्तबल का अफ़सर) बना दिया तो अन्य अमीर लोग बिगड़ गये। रज़िया का याकूत से कोई अनुचित सम्बन्ध रहा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता; परन्तु एक अफ्रीक़ा-निवासी का उच्च पद पर पहुँचना ही अमीरों को भड़काने के लिये काफ़ी था। इस असन्तोष की आग शीघ्र ही दूर तक फैल गई और प्रान्तों में फिर से बलवे हो गये। विवश होकर रज़िया को फिर से फ़ौज लेकर उन्हें दबाना पड़ा। तुर्की अमीरों ने भटिण्डा के शासक अल्तूनिया को भड़का दिया। अन्त को रज़िया और याकूत हार गये। अमीरों ने याकूत को पकड़ कर मार डाला और सुलताना को बन्दी कर के अल्तूनिया की हिरासत में रख दिया। इधर देहली में अलतमश के तीसरे लड़के बहराम को गद्दी पर बैठा कर अपने नेता एतिगीन को वज़ीर बनाया, परन्तु अल्तूनिया को कोई लाभ न हुआ। एतिगीन ने राज्य पर इतना अधिकार जमाया कि बहराम के लिए असह्य हो गया और उसने वज़ीर को मरवा डाला। अल्तूनिया तो देहली के अमीरों से असन्तुष्ट था ही, परन्तु उसने यह अवसर देखकर रज़िया से शादी कर ली और देहली को फिर जीतने के लिये चढ़ाई कर दी। परन्तु बहराम ने उनको हरा दिया और उनके हिन्दू साथियों ने ही दोनों को मार डाला।

चालीस शम्सी अमीरा का गुट—बहराम भी इस विद्रोह का दमन करने में असमर्थ रहा। कारण यह था कि दास वंशीय अमीर बहुत प्रबल हो गये थे और सुलतान का अधिकार मानने को तैयार नहीं थे। अलतमश के समय में ४० मुख्य मुख्य अमीरों ने एक गुट बना लिया था। ये लोग बहुत शक्तिशाली थे। अलतमश ने तो अपनी योग्यता से इन लोगों को क़ाबू में रखा था, परन्तु उसके बाद इन्हें कोई शान्त न रख सका। साथ ही उनमें आपस में भी इतनी ईर्ष्या थी कि किसी एक को सुलतान बनाने के लिये दूसरे तैयार न होते थे, तो भी अधिकार सारा अपने ही हाथ में रखना चाहते थे।

बहराम को गद्दी पर बैठते देर न हुई थी कि देहली में फिर से उपद्रव

शुरू हो गये। उसके वज़ीर एतिगीन, निज़ामुल मुल्क इत्यादि आपस में भी परस्पर द्वेष रखते और किसी पर विश्वास नहीं करते थे। इधर मुग़लों ने मुलतान और लाहौर पर फिर हमला कर दिया। बहराम लाहौर के शासक को कोई सहायता न पहुँचा सका और लाहौर मुग़लों के क़ब्ज़े में आ गया। बहराम ने अमीरों को आज्ञा दी कि लाहौर की रक्षा के लिये जायँ। इसलिए उन्होंने बलवा कर दिया और बहराम को मार डाला।

इसके बाद उन्होंने मसऊद (फीरोज़ के बेटे) को सुलतान बनाया। उसने पहले तो सफलतापूर्वक राज्य किया और हिन्दुओं को ख़ूब सताया और फिर थोड़े ही दिन बाद मुसलमान अमीरों पर भी अत्याचार करने शुरू कर दिये। कई मालकों को निरपराध मरवा डाला। इससे शीघ्र ही इतना असन्तोष बढ़ गया कि सन् १२४६ में अमीरों ने उसे क़ैद कर दिया और अल्तमश के बेटे नासिरउद्दीन को बुला कर सुलतान बनाया। मसऊद के काल में सन् १२४५ ई० में मुग़लों ने उच्च पर हमला किया, परन्तु बलबन ने बड़ी वीरता से उनको परास्त किया और उन्हें लौटना पड़ा। बलबन उस समय रिवाड़ी का सूबेदार था।

नासिरुद्दीन महमूद का राज्य और बलबन का शासन—नासिर उद्दीन महमूद अल्तमश का एक छोटा लड़का था। कहते हैं कि वह बड़ा दयालु और सच्चरित्र था, परन्तु मुसलमान लेखकों ने उसकी प्रशंसा में बहुत अत्युक्ति से काम लिया है। मिनहाज कहता है कि सुलतान के केवल एक पत्नी थी और वह अपना व्यय कुरान की नक़लें करके उसकी आमदनी से चलाता था। यह सब बातें विश्वसनीय नहीं हैं, क्योंकि उसके कई स्त्रियाँ थीं। इन बातों से स्पष्ट पता लगता है कि नासिर उद्दीन के प्रासाद में इस प्रकार की सामग्री की कमी नहीं थी। जान पड़ता है कि वह एक सच्चरित्र और उदार पुरुष था और स्वयं अपने लिए बहुत अधिक व्यय नहीं करता था। वह ऐसा साधु अथवा त्यागी भी नहीं था कि राज्य करने की इच्छा ही उसे न हो; अन्यथा वह अपने भाई मसऊद का पतन तथा बध न होने देता। ऐसा प्रतीत होता है कि वह राज-काज में विशेष योग्य अथवा प्रभावशाली न था, परन्तु शासन अवश्य करना चाहता था। इसका प्रमाण हम आगे चल कर देंगे। उसके प्रभावशाली न होने के कारण ही बलबन जैसे दबंग वज़ीर ने शुरू से ही सारा शासन अपने हाथ में ले लिया और सुलतान को निष्क्रिय सा कर दिया।

बलबन—ग़यासउद्दीन बलबन एक ऊँचे तुर्क घराने का था। वह बचपन में मुग़लों के हाथों पड़कर बसरा में दास बनाकर बेचा गया और वहाँ से भारत-

वर्ष आया। यहाँ उसे अल्तमश ने खरीद लिया। अपनी असाधारण योग्यता के कारण उसने बहुत जल्दी उन्नति की। अल्तमश ने उसे ख़ासा-बरदार बनाया; रज़िया ने अमीरे-शिकार और बहराम ने रिवाड़ी का शासक जहाँ से उसने सन् १२४५ में मुग़लों की चढ़ाई रोकी और अन्त में नासिरउद्दीन महमूद ने उसे अपना वज़ीर बनाया।

महमूद के सुलतान बनते ही १२४६ में वही समस्याएँ उसके सामने भी आईं। अर्थात् हिन्दू और मुस्लिम सरदारों के विद्रोह और उत्तर-पश्चिमी सीमा पर बाहरी जातियों के आक्रमण होने लगे। बलबन को इसी वर्ष चुनाब के पार जाकर खोखर तथा अन्य हिन्दू जातियों को दमन करना पड़ा। इसी समय मुग़लों की एक सेना भी झेलम नदी के उस पार तक आई, परन्तु बलबन को युद्ध के लिये तैयार देखकर लौट गई।

अगले वर्ष उसे कई स्थानों पर हिन्दू सरदारों का दमन करना पड़ा। पहले तो दोआब में क़न्नौज का क़िला लिया और यमुना के किनाने पर मलकी के राना को परास्त करके स्त्री-बच्चों और अन्य बहुत से लोगों को क़ैद करके लौटा।

सन् १२४९ में बलबन ने बड़ी कठोरता से मेवात के उपद्रवी हिन्दुओं का दमन किया और फिर चौहान राजा नाहरदेव से रणथम्भोर लेने का यत्न किया, परन्तु विफल रहा और देहली लौट आया। सन् १२५० के आरम्भ में फिर दोआब में हिन्दू विद्रोह शुरू हो गये थे जिनको फिर से दबाना पड़ा।

इस समय उत्तरी सीमा के मुस्लिम सरदारों में आपस के झगड़े खड़े हो गये और कुछ लोगों ने विद्रोह भी किये जिनको शान्त करने में लगभग एक वर्ष बीत गया। सन् १२५२ में बलबन ने मालवे पर चढ़ाई की और चँदेरी तथा नरवर के राजा चाहड़देव से युद्ध किया, परन्तु इसका फल अनिश्चित रहा। केवल लूट-मार करके और कुछ लोगों को पकड़ कर बलबन देहली लौट आया।

बलबन और तुर्की दल का ह्रास—तत्कालीन लेखकों के विवरण ध्यान से पढ़ने से साफ़ पता चलता है कि उस समय देहली के दरबार में दो दल थे—एक तुर्कों का और दूसरा नौ मुस्लिमों का अर्थात् उनका जो हिन्दू से मुसलमान हो गये। इस दल का नेता अमीर ईमादउद्दीन रैहान था। यह भी सुलतान के बड़े अमीरों में से था और बड़ा चतुर एवं दूरदर्शी था। तुर्की अमीर नौ मुस्लिमों के साथ बराबर का बर्ताव नहीं करते थे, उनको घृणा की दृष्टि से देखते थे और उनसे मेल-जोल न रखते थे। इस कारण ये लोग तुर्कों को नीचा दिखाना चाहते थे। बलबन ने शासन में इतनी मनमानी करनी शुरू की

कि सुलतान को बिलकुल निरर्थक सा कर दिया। इसलिये जब सन् १२५२ में बलबन मालवे पर चढ़ाई करने गया, तब रैहान को अवसर मिल गया। उसने सुलतान को सुझाया कि बलबन का इतना प्राधान्य अनुचित है। जान पड़ता है कि सुलतान स्वयं भी उस से तंग था। उसने तुरन्त ही रैहान की सलाह मान ली। रैहान को इस कार्य में उन तुर्क अमीरों से भी सहायता मिली जो बलबन के अनुचित प्राबल्य के कारण उससे बिगड़ गये थे। रैहान का नीति-कौशल इसी से जान पड़ता है कि उसने तुर्क अमीरों में परस्पर फूट डलवा दी। बलबन को रैहान ने नागौर भेजवा दिया और अन्य तुर्की सरदारों को भी खूब नीचा दिखाया। ४० अमीरों में से एक भी ऊँचे पद पर न रह गया और हर जगह रैहान के आदमी नियत किये गये। यह देखकर तुर्क अमीरों की आँखें खुलीं और वे उसका अधिकार नष्ट करने पर उतारू हो गये*। सब ने मिलकर सुलतान को मजबूर किया कि वह रैहान को निकाल कर बलबन को बहाल करे। सुलतान को परिस्थिति के अनुसार कार्य करना पड़ा। रैहान बदायूँ भेज दिया गया जहाँ उसने लगभग ढाई वर्ष शासन किया। इस अवकाश में कटेहर के हिन्दू सरदारों ने फिर बलवा किया और रैहान के सुयोग्य परामर्श से सुलतान ने स्वयं इस विद्रोह का दमन किया। फिर जब तुर्कों ने दिल्ली पर चढ़ाई की, तब सुलतान उनसे लड़ने के लिये सेना लेकर गया। इससे साफ़ साबित होता है कि नासिरुद्दीन इतना त्यागी नहीं था कि कुछ राज-काज करना ही न चाहता हो, परन्तु बलबन बड़ा दबंग आदमी था और उसे कुछ करने ही न देता था। यह कथन भी बिल्कुल निराधार है कि रैहान के काल में शासन अव्यवस्थित हो गया था। पर उसके विरोधी दल को अवश्य कष्ट उठाना पड़ा था।

वज़ीर के पद पर लौटते ही बलबन ने पहले तो उन सब लोगों को, जो उसके विरोधी दल में शामिल थे, निकलवाया। फिर पश्चिमोत्तर सीमा के पास

---

* तबक़ात-ए-नासिरी का लेखक मिनहाज उस्सिराज स्वयं उन तुर्क अमीरों के दल में था जिनको रैहान ने पदच्युत कराया था। वह लिखता है—'उन तुर्क मलिकों के लिये, जिनको शासन करने, प्रभुत्व रखने और युद्ध करने की आदत पड़ी हुई थी, यह कैसे सम्भव था कि वे ऐसा निरादर सह सकते' (अर्थात् एक हिन्दुस्तानी अमीर का शासन और प्राधान्य मान लेते)। देखो ईलियट, २, पृ० ३७१। कौन जाने, रैहान का यह प्रयास भी उसी हिन्दू प्रतिरोध का निदर्शन हो जिसकी आग समस्त हिन्दुस्तानी प्रजा के मन में अपने विदेशी शासकों के विरुद्ध भड़क रही थी।

कई विद्रोह दमन किये। सन् १२५७ ई० के दिसम्बर में मुग़लों की एक बड़ी सेना ने आकर मुलतान ले लिया और वे लूट-मार करके लौट गए। यदि वे आगे बढ़ कर देहली पर भी हमला करते तो उसकी रक्षा कठिन हो गई होती, क्योंकि उस समय चारों ओर उपद्रव हो रहे थे और सल्तनत की शक्ति अस्तव्यस्त हो रही थी। जब मुग़लों के डर से सुलतान ने अपने जागीरदारों से सहायता माँगी, तब अवध और कड़ा के जागीरदारों ने आने से इनकार कर दिया। इधर दोआब के हिन्दू फिर से विद्रोह कर रहे थे। उधर मेवाती लोग बलबन की सेना के ऊँट तक छीन ले गये थे जिसके कारण सेना का आगे बढ़ना असम्भव था। पहले दोआब के हिन्दुओं को दमन करने में पूरे चार मास लगे, फिर विद्रोही जागीरदारों की बारी आई। अभी इनसे छुट्टी ही न पाई थी कि हिन्दुओं का फिर से बलवा हो गया। अब सन् १२६० में बलबन मेवों (मेवातियों) को दमन करने का काम प्रारम्भ कर सका। ये लोग इतने सशक्त हो गये थे कि देहली के चारों ओर सैकड़ों मील तक इन्होंने लूट-मार मचा रखी थी और गाँव के गाँव इनके डर से उजाड़ हो गये थे। यहाँ तक कि उन्होंने बलबन की सेना के बार-बरदारी के ऊँट भी लूट लिये थे। बलबन ने एक बड़ी सेना लेकर मेवों को अचानक जा घेरा और हजारों को तलवार के घाट उतारा और हज़ारों को क़ैद करके और उनका सब माल लूट कर वापस आया। देहली आकर उसने क़ैदियों को भी क़त्ल करवा डाला, परन्तु मेव फिर भी न डरे। जो जान बचा कर भाग गये थे, वे फिर से लौट आये और सड़कों पर लूट-मार करने लगे। बलबन ने उनके अड्डों का पता लगाकर फिर से उन पर हमला किया और १२००० मेव मर्दों, औरतों और बच्चों को देहली लाकर एक दम से क़त्ल करवा डाला। इतना भयानक दण्ड देने पर मेवों के बलवे थोड़े दिनों के लिये शान्त हो गये।

इसके पश्चात् छः वर्ष तक क्या हुआ, इसका कोई वर्णन नहीं मिलता। परन्तु यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि कोई नई कथनीय बात इस काल में नहीं हुई। वही एक ओर स्वाधीनता का युद्ध और दूसरी ओर पाशविक बल से दमन और दण्ड की कहानी जारी रही होगी। सन् १२६६ के फ़रवरी मास में महमूद की मृत्यु हो गई और बलबन बिना रोक-टोक सुलतान के सिंहासन पर बैठ गया।

गयासउद्दीन बलबन का शासन (सन् १२६६–८६)—अल्तमश के बाद दास वंशीय सुलतानों में बलबन का स्थान सब से ऊँचा है। उसमें वे सब कठोर गुण विद्यमान थे जो अन्य गुणों के अतिरिक्त एक शासक में अवश्य होने

चाहिएँ। मुसलमानों की विजय और उनकी संकीर्ण नीति ने देश में एक बड़ी विकट परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी। ५० वर्ष राज्य करने पर भी वे हिन्दू प्रजा के हृदय में विश्वास और सहानुभूति उत्पन्न न कर सके। राजा और प्रजा का पारस्परिक द्वेष और वैमनस्य बढ़ता ही जाता था; और इसका कारण यह था कि सुलतानों का एक मात्र उद्देश्य पाशविक बल से प्रजा को दमन करके अपनी वासनाओं तथा अपनी बुद्धि के अनुसार धार्मिक कर्त्तव्यों को पूरा करना ही था। प्रजा का हित करना या उसके साथ किसी प्रकार की सहानुभूति दिखलाना वे राजकीय कर्त्तव्य नहीं समझते थे। सार्वजनिक वायु-मण्डल की ऐसी संशय-पूर्ण अवस्था में शान्ति और विश्वास की लहर पैदा करने के लिये जिस नीति की आवश्यकता थी, वह बलबन के मस्तिष्क से परे थी। प्रजा में गहरा असन्तोष और अविश्वास था, इसी लिये कोने-कोने में बराबर बलवे और विद्रोह सुनाई पड़ते थे। समस्या यही थी कि इनको किस रीति से शान्त किया जाय। दमन नीति से अथवा शमन और प्रेम की नीति से? इस प्रश्न का उत्तर सुलतानों के पास केवल एक ही था—दमन! और बलबन दमन नीति का अवतार था। उसकी नीति यह थी कि विद्रोहियों को इतना कठोर दण्ड दिया जाय कि वे भय के मारे फिर सिर न उठावें।

परन्तु यह नीति न सफल होनेवाली थी, न हुई। अपनी वज़ारत के काल में बलबन ने विद्रोहियों को समूल नष्ट करने और भयानक से भयानक यन्त्रणाएँ देने में कोई कसर उठा न रखी। कुछ लेखकों का मत है कि इससे राजविद्रोह बिल्कुल शान्त हो गया। परन्तु वे स्वयं ही मानते हैं कि उसके बादशाह बनते ही सेना को बढ़ाने की आवश्यकता हुई, क्योंकि मेवाती लोगों के विद्रोह ने सल्तनत को ख़तरे में डाल दिया था। इससे स्पष्ट है कि बलबन की दमन-नीति निरर्थक रही।

बलबन के राज्य-काल की मुख्य घटनाएँ—बलबन ने सुलतान की हैसियत से पूरे बीस वर्ष राज्य किया। इस अवकाश में उसे बराबर प्रायः हिन्दुओं के एवं अन्य विद्रोहों को दमन करने में ही लगा रहना पड़ा। कोई रचनात्मक कार्य करने के लिये उसे बहुत ही कम समय मिला।

उसके सामने सब से पहली समस्या अपने साथी सरदारों और अमीरों की ही थी। वे यह न देख सकते थे कि हम्हीं लोगों में से कोई एक हम पर राज्य करे। इसलिये उन पर अपना आतंक जमाने के लिये बलबन ने सब से पहले दरबार के शिष्टाचार के बड़े कड़े नियम बनाये। मदिरा-पान, जूआ आदि पूर्व-प्रचलित कुरीतियाँ बन्द कर दी गईं। कोई सुलतान के सामने हँस भी

नहीं सकता था। सब को बड़ी गम्भीरता से रहना पड़ता था। न्याय करने में उसने बड़ी निष्पक्षता से काम लिया। एक बड़े अमीर ने अपने नौकर को इतना मारा कि वह मर गया। उसकी विधवा ने सुलतान से फ़रियाद की। उसने उस अत्याचारी अमीर को उसी प्रकार कोड़ों से पिटवा कर मरवा डाला और सरकारी जासूस को यह खबर दबा रखने के अपराध में फाँसी का दण्ड दिया। इसी प्रकार और भी कई मामलों में उसने ऐसा कड़ा न्याय किया कि सब बड़े बड़े लोग उससे भयभीत रहने लगे। ये सब लोग चालीस शम्सी अमीरों के गुट के सदस्य थे। बलबन इन पर इतनी सख्ती करके इनको नष्ट करने पर तुला हुआ था।

महमूद के समय में बंगाल के शासक देहली का आधिपत्य नहीं मानते थे। बलबन के सुलतान होते ही बंगाल के शासक तातार खाँ ने देखा कि अब स्वतन्त्रता का युग नहीं है और ६३ हाथी भेंट स्वरूप भेजे।

हिन्दू प्रतिरोध—हम ऊपर देख आये हैं कि मेवात के हिन्दू सरदारों ने महमूद के राज्य में कितनी बार बलवे किये जिसका फल यह हुआ कि बलबन ने उनको नष्ट कर दिया और उनका प्रान्त उजाड़ डाला। किन्तु इतने भयानक दण्ड से भी ये लोग डरकर चुप न बैठे और एक पीढ़ी के अन्दर ही फिर इतने उद्दंड हो गये कि राजधानी तक पर धावा मारने लगे। मेवों के भय से देहली का पश्चिमी द्वार सन्ध्या से पहले ही बन्द करना पड़ता था। बलबन ने फिर इन सब को चुन चुनकर मरवा डाला और शहर की रक्षा के लिये पश्चिम की ओर एक क़िला और चारों ओर पुलीस की चौकियाँ बनवाईं।

मेवों से छुट्टी भी न मिली थी कि दोआब के हिन्दुओं ने उपद्रव शुरू कर दिया और वे इतने प्रबल हो गये कि बंगाल और देहली के बीच का रास्ता ही उन्होंने बन्द कर दिया। बलबन स्वयं कई महीने तक पटियाली, काम्पिल इत्यादि स्थानों में रहा और वहाँ उसने बलवाइयों को स्त्री-बच्चों सहित नष्ट किया। साथ ही मुसलमान अमीरों को उसने विद्रोह दमन करने का अधिकार दिया। इन लोगों ने भी उसी प्रकार काम किया। मुख्य मुख्य स्थानों पर क़िले बनवाये गये और उनमें अफ़गान सेना रखी गई।

यह काम पूरा भी न हुआ था कि कटेहर के हिन्दुओं का विद्रोह शुरू हो गया। यह इतना भारी विद्रोह था कि बदायूँ और अमरोहा के शासक इसका दमन न कर सके। बलबन ने देहली आकर एक बड़ी सेना तैयार की और विद्रोहियों को धोखे से अचानक जा घेरा। इनको उसने इतना भयानक दण्ड दिया कि ८ वर्ष से ऊपर के सब मर्दों को मरवा डाला और औरतों को दासी

बनाया। कोई गाँव ऐसा न बचा जिसमें सैकड़ों हिन्दुओं को तलवार के घाट न उतारा गया हो। बदायूँ, अमरोहा, सम्भल और गुन्नौर के ज़िलों को क़रीब करीब उजाड़ कर दिया गया।

पहले दो वर्ष में यह भयानक काम करके उसने पंजाब और पश्चिमोत्तर के पहाड़ों पर चढ़ाई की और अपनी सेना के लिये बहुत से घोड़े लाया। इस चढ़ाई में उसे मालूम हुआ कि अल्तमश ने जिन सैनिकों को राज-सेवा के लिये वेतन के स्थान पर गाँव दे रखे थे, वे अब मर चुके हैं अथवा बहुत बुड्ढे हो गये हैं और उनके लड़के बिलकुल अयोग्य हैं। इसलिये उसने सब की जागीरें छीन लीं। इस पर बड़ा हाहाकार मचा और देहली के बुड्ढे कोतवाल की प्रार्थना पर गाँव वापस कर दिये गये; तथापि इससे शम्सी अमीरों की शक्ति को बड़ा धक्का लगा।

मुग़ल आक्रमणों का प्रारम्भ—शम्सी गुट को पूरी तरह से नष्ट करने के लिये बलबन ने अपने सुयोग्य और योद्धा सम्बन्धी शेर खाँ को, जो पंजाब का शासक था, ज़हर दिला दिया। उसके स्थान पर बंगाल मे तातार खाँ को बुलाकर नियुक्त किया और तुग़रिल को बंगाल भेज दिया। इसका फल यह हुआ कि मुग़ल और खोखर तथा अन्य हिन्दू लोग, जो शेर खाँ के भय से चुप थे, फिर से उपद्रव करने लगे। यह देखकर बलबन ने अपने बड़े बेटे मुहम्मद को कोयल की जागीर से हटाकर मुलतान भेजा। वह बहुत योग्य और गुणवान युवक था। उसी पर बलबन के वंश की समस्त भावी आशाएँ निर्भर थीं। उसमें वीरता के साथ नम्रता, विद्या-प्रेम, विवेक और सहृदयता भी थी। विद्वानों का वह बहुत आदर करता था। सुविख्यात कवि अमीर ख़ुसरो और अमीर हसन ने अपना जीवन इसी राजकुमार के दरबार में आरम्भ किया था। उसने शेख़ सादी को भी बुलवाया था, परन्तु बुढ़ापे के कारण वह न आ सका। सब लेखकों ने इस युवक की मुक्तकण्ठ और सच्चे प्रेम से प्रशंसा की है। बाप और बेटे में भी परस्पर बड़ा प्रेम था। बलबन ने उसे पहले ही अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर रखा था।

समाना की जागीर पर बलबन ने अपने छोटे बेटे बुग़रा खाँ को नियुक्त किया। यह अपने बड़े भाई के सर्वथा विपरीत था। यह बड़ा आलसी, कामचोर और विषयी था। इस कारण सुलतान ने इसे भली भाँति समझा दिया और सचेत कर दिया कि यदि अनुचित कार्य किया तो कड़ा दण्ड मिलेगा।

सन् १२७९ में फिर मुग़लों के आक्रमण शुरू हो गये। यहाँ तक कि

एक बार वे सतलज को पार करके देहली के पास आ गये, परन्तु इस समय सेना की अवस्था अच्छी थी और अन्य कोई उपद्रव नहीं था; इस कारण मुग़लों की पूरी तरह से हार हुई।

इसी वर्ष बंगाल में तुग़रिल ने स्वतन्त्रता का झण्डा खड़ा कर दिया और कर देना बन्द कर दिया। बलबन ने इस विद्रोह को दमन करने के लिये दो बार सेना भेजी, पर दोनों बार तुग़रिल ने उसे हरा दिया। बहुत से सैनिक तुग़रिल से जा मिले। इस पर बलबन क्रोध के मारे उबल पड़ा और एक बड़ी सेना तैयार करके स्वयं बंगाल को रवाना हुआ। यह पहला ही अवसर था जब कि बलबन ने देहली को छोड़कर इतनी दूर जाने का विचार किया। उसका आगमन सुनकर तुग़रिल लखनौती छोड़कर भागा और जंगल में जा छिपा। परन्तु अमीर शेर अंदाज़ ने उसे एक जंगल में पकड़ लिया और उसका सिर काटकर बलबन के पास भेजवा दिया। शेर अंदाज़ और सेना को इनाम दिया गया और फिर इस विद्रोह का बदला लेने के लिये सुलतान ने अपनी नृशंस नीति का भीषण प्रयोग किया। लखनौती के बाज़ार में दो मील तक सूलियाँ गड़वाकर तुग़रिल के सम्बन्धियों और साथियों को उन पर चढ़वा दिया। जो लोग तुग़रिल की तरफ जा मिले थे, उन्हें पकड़ कर इससे भी भयानक यातना देने के विचार से देहली ले चला। यह देखकर उन-के सम्बन्धियों ने क़ाज़ी से जाकर दया की याचना की। उसके समझाने पर बलबन ने कैदियों को साधारण दण्ड देकर छोड़ दिया।

चलते समय बलबन ने अपने बेटे बुग़रा खाँ को बंगाल का शासक नियुक्त किया और उसे लखनौती का भीषण दृश्य दिखलाकर कहा कि यदि कभी विद्रोह किया तो इसी प्रकार का दण्ड मिलेगा।

मुग़ल आक्रमण और युवराज की मृत्यु—इस समय बलबन की शक्ति उन्नति के शिखर पर पहुँच चुकी थी। उसकी अवस्था भी ८० वर्ष की हो चुकी थी। इसी समय उसे एक ऐसा धक्का लगा जिससे वह सँभल न सका। सन् १२८५ में तमर खाँ मुग़ल ने एक बड़ी सेना लेकर मुलतान पर हमला किया। युवराज मुहम्मद ने उसे हरा दिया, पर स्वयं लड़ाई में मारा गया। उसकी मौत से सल्तनत का दीपक बुझ गया और बलबन की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। यह दरबार में तो अपनी वेदना को छिपाता, परन्तु अकेले में उसका शोक असह्य जान पड़ता था। इसी दुःख के कारण एक वर्ष के अन्दर उसकी मृत्यु हो गई। (१२४६)

मरते समय बलबन ने चाहा कि बुग़रा खाँ आकर मेरा उत्तराधिकारी बने,

परन्तु वह इस कठिन उत्तरदायित्व से भागता था। इस कारण बलबन ने युवराज मुहम्मद के लड़के कैखुसरो को अपने बाद सुलतान बनाने का आदेश दिया। परन्तु अमीरों ने उसकी आज्ञा के विरुद्ध बुग़रा खाँ के लड़के कैकुबाद को गद्दी पर बैठा दिया।

बलबन के शासन की सफलता और विफलता—तुर्क सुलतानों के शासन का मूल सिद्धान्त क्या था, यह हम उपर बतला चुके हैं। इस एकाकी और प्रजा-हित-हीन नीति का फल यह हुआ कि बलबन के समय तक कोई रचनात्मक कार्य न हो सका। बलबन समझता था कि प्रजा के हार्दिक असन्तोष और विद्रोही भावनाओं को मैं पाशविक शक्ति से कुचल दूँगा। इस नीति का अनुसरण करने में उसने कोई कसर न रखी। उसका सारा शासन काल एक ओर पीड़ित प्रजा के विरोध और दूसरी ओर मार-काट, विध्वंस और यातनाओं का इतिहास है। इस कठोर नीति से थोड़े समय के लिये अवश्य शान्ति स्थापित होती हुई जान पड़ती थी, परन्तु यह वास्तविक शान्ति नहीं थी। इसके विरुद्ध इस नीति ने जनता के असन्तोष को गहरी घृणा का रूप दे दिया। थोड़ा ही समय बीतने पर फिर वही ज्वाला, वही स्वाधीनता की आग विद्रोहों के रूप में भड़क उठी। बलबन अथवा अन्य किसी सुलतान ने यह सिद्धान्त कभी नहीं समझा कि तलवार के बल पर चाहे जो कुछ करना सम्भव हो, स्थायी रूप से राज्य करना सम्भव यहीं।

शासन में बलबन ने, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बड़ी कठोरता से काम लिया। आन्तरिक उपद्रवों से राज्य को सुरक्षित रखने के लिये उसने गुप्तचर विभाग को विशेष उन्नत किया। कोई ऐसी बात न थी जो सुलतान को मालूम न हो जाय। बाहरी हमलों से राज्य की रक्षा करने के लिये उसने पश्चिमोत्तर के सूबों में मुख्य मुख्य स्थानों पर क़िले बनवाये और उनमें बड़ी बड़ी सेनाएँ पूरी तैयारी के साथ रखीं। निर्भीक अनुभवी सेनानायकों को मुलतान, लाहौर इत्यादि स्थानों पर रखा। स्वयं कभी देहली से दूर न गया। इसी कारण वह कोई नया प्रान्त भी न जीत सका। परन्तु मुग़लों के हमलों का मुकाबला करने के लिये उसने सरहद पर क़िले इत्यादि बनाकर राज्य को यथेष्ट दृढ़ और सशक्त बना दिया। बलबन का यह कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण था। उसके इस कार्य के बिना अलाउद्दीन को मुग़लों से राज्य की रक्षा करने में बड़ी कठिनता होती।

कैकुबाद अभी लड़का ही था। इतने बड़े साम्राज्य का स्वामी बन जाने-से उसकी मति पलट गई। वह अत्यन्त विलास-प्रिय तथा अत्याचारी हो गया।

उसके वज़ीर ने खिलजी अमीरों को नष्ट करना चाहा । उनका नेता जलालउद्दीन इस समय आरिज-ए-मुमालिक था। इस प्रकार तुर्की और खिलजी दो दलों में बड़े झगड़े शुरू हो गये। इसी समय बंगाल से आकर कैकुबाद के पिता बुग़रा खाँ ने उसे समझाया, परन्तु पिता के आते ही सुलतान की फिर वही दशा हो गई। अन्त को खिलजी दल के एक आदमी ने कैकुबाद को मार कर यमुना में फेंक दिया और सन् १२९० में जलालउद्दीन दिल्ली के तख्त पर बैठा।

मुस्लिम और भारतीय सभ्यता के संघर्ष और सम्पर्क का परिणाम

हम पहले भी इस बात का वर्णन कर चुके हैं कि ज्यों ज्यों इस्लाम अरब से पूरब की ओर फैलता गया, त्यों त्यों उसमें बड़ा परिवर्त्तन होता गया। ग़ज़नी और ग़ोर के मुसलमान आक्रमणकारियों के उद्देश्य और आकांक्षाएँ अरब के पहले मुसलमानों से बहुत कुछ भिन्न थीं। भारतवर्ष में आने के बाद उनके उद्देश्य तथा दृष्टिकोण, एवं सभ्यता और विश्वासों में और भी परिवर्त्तन हुए। सैनिक रूप से तो देश पर उन की विजय हो गई; पर अब देखना यह है कि सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में उनको कितनी सफलता हुई। इस प्रश्न पर विचार करने से एक ऐसी अनोखी घटना हमारे सामने आती है जिसका उदाहरण और कहीं नहीं मिलता। इस्लाम की विजय के आरम्भ से ही मुस्लिम विजेताओं की यह परम्परा चली आती थी कि जहाँ जहाँ वे जाते थे, वहाँ वहाँ प्रायः समस्त जनता को मुसलमान बनाया करते थे। अभी तक उन्हें किसी ऐसी जाति से काम नहीं पड़ा था जो उनकी सारी शक्ति के विरुद्ध भी अपना अस्तित्व बनाये रखती। इधर हिन्दू जाति की यह परम्परा चली आती थी कि मुसलमानों से पहले जितनी जातियाँ विजेता रूप में यहाँ आकर बसती थीं, अन्त को वे सब इसी में समाकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो बैठती थीं और इसी देश को अपनी मातृभूमि तथा इसकी सभ्यता मानने लगती थीं। अथवा यों कहिये कि हिन्दू जाति में इतना जीवन और पाचन शक्ति थी कि जो कोई उससे आकर टकराया, वह बचकर वापस न गया। वह उसे समूल पचा गई।

बारहवीं सदी में भारत में ऐसी ही दो कट्टर जातियों का पूरी शक्ति से संघर्ष हुआ था। परिणाम हमारे सामने है। मुसलमान शान्तिमय तथा

पाशविक दोनों प्रकार के बल से और हज़ारों वर्ष के प्रयत्न के बाद भी फारस आदि देशों की भाँति सारे क्या अधिकतर भारत को भी मुसलमान न बना सके। परन्तु इससे भी अधिक हार हिन्दुओं की हुई। वे अपनी प्राचीन मर्यादा के प्रतिकूल अपने इन नये विजेताओं को अपने में न मिला सके। इस घटना के गहन कारणों की पूरी विवेचना इस जगह नहीं की जा सकती। यहाँ इतना ही कहना काफ़ी होगा कि शायद मुसलमानों को पचा जाना उतना आसान न था जितना अन्य जातियों को। वे हिन्दू धर्म के तत्कालीन मुख्य आधार मूर्त्ति-पूजा और जात-पाँत के भेद-भावों के भञ्जन का संकल्प करके आये थे, उनकी रक्षा का संकल्प करके नहीं। परन्तु मुख्य कारण हिन्दू जाति की संकीर्णता, विचार-शून्यता और उन्नतिशीलता का अभाव, या एक शब्द में, सजीवता का अभाव था। किसी जीवित मनुष्य अथवा जाति का यह चिह्न है कि उसमें पाचन शक्ति विद्यमान हो। इसका अभाव ही मृत्यु है। तब यह जाति स्वयं हड़प हो जाने से कैसे बची रही? किस ने इसकी रक्षा की? इसके दो मुख्य कारण जान पड़ते हैं। एक तो इसकी संस्कृति, इसकी विद्या का भाण्डार, सर्वोत्कृष्ट दर्शन, काव्य आदि इसके रक्षक हुए। मुसलमान जाति स्वयं इनके प्रभाव से अपने को न बचा सकी। दूसरे इस की रूढ़ियों का जाल ही इसका परम रक्षक बन गया। जिन रूढ़ियों ने इसको बाहरी जातियों को अपने में लीन कर लेने के अयोग्य बना दिया था, उन्होंने किसी दूसरे को इसके पास न आने दिया। यदि यह जाति जीवित होती तो केवल अपनी रक्षा ही नहीं करती, प्रत्युत् आगन्तुकों को हज़्म भी कर लेती।

इन दो दृढ़ जातियों के संघर्ष से सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्त्तन अनिवार्य थे।

राजनीतिक क्षेत्र; दास वंश की नीति और शासन-प्रणाली— कहने को तो बारहवीं और तेरहवीं सदियों के मुस्लिम विजेता हज़रत मुहम्मद और उनके साथियों का उद्देश्य पूरा करने और क़ुरान की शिक्षा तथा आदर्शों पर चलने का दम भरते थे, पर वे यह न समझते थे कि स्वयं हम इन आदर्शों से कितने दूर चले गये हैं। उनकी नीति तुर्की सैनिक बल और ईरानी साम्राज्यादर्श से प्रेरित होती थी। क़ुरान के धर्म-प्रचार के आदर्श को भी वे अपने सामने अवश्य रखते थे, परन्तु परिस्थिति के अनुसार उसे बदलने को तैयार रहते थे। इसलिये उनकी नीति दो मौलिक नियमों के आधार पर निर्धारित होती थी। एक ओर तो मुसलमान शासक थे जो हिन्दुओं तथा मुसलमानों के साथ समानता का व्यवहार नहीं कर सकते थे। केवल यही नहीं, हिन्दुओं

को यथा-सम्भव दबाना एवं अपमानित करना भी उनका कर्त्तव्य था। दूसरे वे अपने विदेशी होने का गौरव रखते थे और हिन्दुस्तानी मुसलमानों को भी अपने से नीच तथा तिरस्करणीय समझते थे। उनके जातीय चरित्र का यह गुण इस्लाम की शिक्षा के विरुद्ध था। इसलिये उनकी नीति में दो बातें रहीं। हिन्दू प्रजा को वे परिस्थिति के विवश होकर केवल जज़िया इत्यादि लगा कर छोड़ देते थे। शनैः शनैः उन्होंने मन्दिरों इत्यादि को भी उस जोश से तोड़ना कम कर दिया जो कुतुबुद्दीन या अल्तमश ने दिखलाया था। परन्तु वे सामान्यतया हिन्दू जाति को सदा अपने से पृथक् मानते रहे और अपने को बाहरी समझ कर उनसे पृथक् रहते रहे। इतना ही नहीं, जो हिन्दू मुसलमान हो गये थे, उनसे भी वे इसी प्रकार का व्यवहार करते रहे। उनका मुख्य उद्देश्य था अपनी जाति का प्राधान्य तथा अपने वंश में राजगद्दी क़ायम रखना, यद्यपि यह बात मुस्लिम राजनीति के नियमों के विरुद्ध थी।

अपनी बिरादरी को छोड़कर अन्य प्रजा का हित-चिन्तन या पालन-पोषण उनके राज्यादर्श के बाहर था। प्रजा की उतनी ही रक्षा करना वे आवश्यक समझते थे जितने से वह राज-कर देने के योग्य बनी रहे। प्रायः इसी नीति का अनुकरण और सुलतानों ने भी किया। यदा कदा कुछ परिशोधन हुए भी, परन्तु वे थोड़े थे। मौलिक सिद्धान्त में कभी परिवर्त्तन न हुआ।

इसी नीति के परिणाम स्वरूप सतत विद्रोह और बलवे होते रहते थे जिनको सैन्य बल से दबाते दबाते ही सुलतानों के जीवन समाप्त हो जाते थे।

शासन-प्रणाली—शासन-प्रबन्ध में सुलतानों को देश-कालानुसार चलना पड़ा। क्रियात्मक शासन-प्रबन्ध का उन लोगों को कोई अनुभव न था। अतएव उन्हें भारतीय शासन पद्धति ही ग्रहण करनी पड़ी। भूमिकर और जागीरदारी की प्रथा इत्यादि में कोई परिवर्त्तन न हुआ। जज़िया आदि कतिपय और कर भी हिन्दुओं पर लगा दिये गये, और मुसलमानों पर ज़कात इत्यादि। नये सिक्के चलाये गये जिनका वर्णन परिशिष्ट में किया जायगा। न्याय विभाग में ऊँचे ऊँचे स्थानों पर क़ाज़ी नियुक्त किये गये। दीवानी (Civil) मामलों में तो हिन्दुओं और मुसलमानों के अपने अपने क़ानून चलते रहे, परन्तु फ़ौजदारी में कुरान के नियम सब पर लगाये गये। सेना विभाग में अच्छी उन्नति की गई। सेना के संघटन, शिक्षण, संख्या इत्यादि में उन्नति हुई और आवश्यकतानुसार हर जगह क़िले आदि बनवाये गये। सरहदों की रक्षा के लिये सेनाएँ

रखी गईं। राजपूतों को ये बातें कभी न सूझती थीं। लोक-हित के कामों में कोई उल्लेख योग्य कार्य्य नहीं किया जाता था।

भाषा तथा साहित्य—साहित्य में हिन्दू-मुस्लिम संपर्क से महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए। फ़ारसी और हिन्दी के मेल से इन्हीं दिनों एक नई भाषा का विकास प्रारम्भ हुआ जिसका एक रूप खड़ी बोली और दूसरा रूप उर्दू अर्थात् 'छावनी की भाषा' है। इन दोनों की अमीर खुसरो के लेखों से बहुत उन्नति हुई। इन भाषाओं के द्वारा हिन्दू-मुसलमानों में बहुत कुछ विचार-विनिमय और एक दूसरे के शब्दों का आदान-प्रदान हुआ और इससे एक दूसरे के साहित्य की बहुत वृद्धि हुई।

कला के क्षेत्र में मुस्लिम विजय के पहले ही बहुत स्थायी कार्य हुआ था। फ़ारस और ग़ज़नी की सस्कृति में पले हुए ये लोग निरे सैनिक ही न थे, प्रत्युत् वे कला एवं साहित्य का पर्याप्त परिज्ञान रखते थे। पहले-पहल इन्होंने वास्तुकला में अपनी कार्य-कुशलता का परिचय दिया। मस्जिदें, क़ब्रें और क़िले बनाने की चाल मुसलमानों में थी। ऐबक और अलतमश ने हज़ारों मन्दिरों का विनाश करके उनके पत्थरों से देहली और अजमेर में बहुत सी इमारतें बनवाईं जिनमें देहली की कूवतुल-इस्लाम मस्जिद और अजमेर का 'ढाई दिन का झोपड़ा' विशेष उल्लेखनीय हैं। ये इमारतें उन्होंने हिन्दुओं से ही बनवाई थीं और उनकी निर्माण-शैली भी सर्वथा हिन्दू प्रकार की ही है। परिवर्त्तन केवल इतना कराया गया कि उनके भिन्न भिन्न भागों का क्रम आवश्यकतानुसार बदल दिया गया और देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ हटा दी गईं। पर इन सब से बढ़कर बात यह हुई कि हिन्दू शैली के भिन्न भिन्न उपक्रमों का मुसलमानों ने इस प्रकार फिर से विन्यास किया कि उनकी शैली ने एक नया और स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया।

धार्मिक क्षेत्र में मुस्लिम विजय का सब से अधिक प्रभाव पड़ा। सामान्यतया हिन्दू जाति जीवन-रहित थी। एक तो इन नये विजेताओं की संकीर्ण धार्मिक नीति भारतवासियों के लिये एक बिलकुल नई बात थी। इसके प्रहारों ने उनको शनैः शनैः सचेत कर दिया और देश में वह वायुमण्डल उत्पन्न कर दिया जिसमें दोनों जातियों के साहित्य, भाषा, विचारों तथा पारस्परिक व्यवहार में साम्य और पारस्परिक साहानुभूति तथा प्रेम के लिये यत्न होने लगे। इस प्रवाह को भारतीय साहित्य से बड़ी सहायता मिली। इस साहित्य के प्रभाव से फ़ारस के मुसलमानों में पहले ही से सूफ़ियों के रूप में भक्त सम्प्रदाय उत्पन्न हो चुका था। अब ये लोग भारत में आये और अपने शान्ति-

मय तथा प्रेम के सिद्धान्तों का प्रचार करके जनता में परस्पर विश्वास और प्रेम का वायुमण्डल उत्पन्न करने लगे। इसी समय भक्त सम्प्रदाय का उद्गम हुआ।

सामाजिक क्षेत्र—में अज्ञात रूप से दोनों जातियों का सामीप्य होता जा रहा था। पास पास रहने के कारण वे धीरे धीरे सहनशीलता सीखते जा रहे थे। बहुत से हिन्दू मुसलमान एक दूसरे के नाम रखते थे। स्वयं बलबन के भजीजे का ही नाम मलिक छज्जू था। इस प्रकार दोनों जातियों के सम्पर्क से एक नवीन सभ्यता का बीजारोपण हुआ।

दूसरा अध्याय

साम्राज्य की चरम सीमा

(१)

खिल्जी वंश

दास वंश के साम्राज्य की सीमा—दास वंश के शासन-काल के अन्त में देहली की सल्तनत पश्चिम में मुलतान और पेशावर से लेकर पूर्व में ढाका तक, और उत्तर में हिमालय पर्वत से अजमेर, गवालियर और गुजरात तक फैल चुकी थी। यह विदित ही है कि सीमा-प्रान्तों पर नाम मात्र को ही अधिकार था।

जलालुद्दीन फ़ीरोज़; दास वंशीय तुर्कों का अन्त—खिल्जी लोग वास्तव में तो तुर्क ही थे, किन्तु बहुत काल से अफ़गानिस्तान में बस जाने के कारण अफ़गान समझे जाते थे। इसलिए तुर्की अमीर जलालुद्दीन का तिरस्कार करते थे। इसी लिये देहली के बजाय किलोखरी को जलाल ने अपनी राजधानी बनाया और कैकुबाद के अधबने भवनों को पूरा कराया। उसने दास वंशीय तुर्क अमीरों की रही सही शक्ति का भी अन्त कर दिया। ये लोग अब अपने उच्च जातीय होने पर बड़ा घमण्ड करते थे। बलबन ने इनकी शक्ति प्रायः नष्ट कर ही दी थी। जलाल ने यह काम पूरा कर दिया। उसने राज्य के बड़े-बड़े पद और खिताब अन्य अमीरों तथा अपने सम्बन्धियों को दिये। पुराने लोगों में से केवल बलबन के भतीजे अब्दुल्ला उर्फ़ मलिक छज्जू को कड़ा-मानिकपुर का जागीरदार बनाया।

जलाल के बर्त्ताव में बुढ़ापे के कारण इतनी नम्रता आ गई थी कि ऐसे कठिन समय में वह राज्य करने के सर्वथा अयोग्य था। सिंहासन पर बैठते समय वह बलबन और उसके नष्टप्राय वंश की याद करके फूट-फूट कर रोया। कुछ लोगों ने उसकी प्रशंसा की और कुछ ने कहा कि राजा के लिये ऐसा करना अपनी निर्बलता प्रकट करना है।

शासन सम्बन्धी समस्याएँ—सन् १२९२ में मलिक छज्जू ने कड़ा में स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और सुल्तान का खिताब धारण करके देहली पर चढ़ाई की; पर जलाल के लड़के अरकली खाँ ने उसे हरा कर पकड़ लिया। सुलतान ने विद्रोहियों को केवल क्षमा ही नहीं किया, प्रत्युत् उनकी बड़ी प्रशंसा की कि उन्होंने अपने भूतपूर्व राजा के प्रति इतनी स्वामि-भक्ति दिखलाई। अहमद चप उसका एक सम्बन्धी बड़ा सच्चा हितैषी और बेधड़क स्पष्ट कहनेवाला था। उसने जलाल की इस हरकत पर उसे डाँटा और कहा कि इस प्रकार विद्रोहियों को प्रोत्साहित करना स्वयं अपने पैर में कुल्हाड़ी मारना है। मलिक छज्जू के स्थान पर सुलतान का भतीजा अलाउद्दीन नियुक्त हुआ।

फीरोज़ की नम्रता यहाँ तक बढ़ी कि १००० ठगों और डाकुओं को उसने सिर्फ़ यह सज़ा दी कि नावों में भर कर उन्हें बंगाल में ले जाकर छुड़वा दिया। इस नीति का प्रभाव यह हुआ कि उसको मार डालने का एक षड्यन्त्र भी रचा गया, परन्तु उसका पता लग गया और जलाल ने द्रोहियों को दरबार से दूर भेज दिया।

फीरोज़ ने अपने जीवन में एक ही बार कठोरता दिखलाई थी। सीदी मौला नामक एक फ़कीर सन् १२९१ में देहली आया। उसका घर सब के लिये खुली धर्मशाला के समान था, परन्तु उसकी आय के साधनों का पता न चलता था। कहा जाता है कि वह डाकुओं का सरदार था और फीरोज़ को गद्दी से उतारने के लिये एक षड्यन्त्र रच रहा था। जब वह पकड़कर फ़ीरोज़ के सामने लाया गया, तब दोनों में बहुत वाद-विवाद हुआ। फ़ीरोज़ को इतना क्रोध आ गया कि वह पुकार उठा कि क्या कोई यहाँ नहीं है जो इस दुष्ट को ठीक कर दे। इतना सुनते ही एक आदमी ने उसको छुरी से घायल किया और अर्कली खाँ ने उसे हाथी से कुचलवा डाला। कहते हैं कि उस दिन एक दम ऐसी आँधी आई कि दोपहर में रात हो गई और अगले मौसिम में वर्षा न होने से घोर अकाल पड़ा। लोगों का विश्वास था कि यह उस फ़कीर पर अत्याचार करने का ही फल था।

मुग़लों का आक्रमण—इसके बाद फ़ीरोज़ ने झाईं के क़िले पर चढ़ाई की और मालवे को भी लूटा, परन्तु रणथम्भोर को न जीत सकने के डर से वापस लौट आया। इसी वर्ष मुग़लों का एक बहुत बड़ा हमला हुआ। हलाकू का पोता उलुग़ खाँ कोई १००००० मुग़लों का दल लेकर सुनाम तक पहुँच गया, परन्तु वह हार गया। मुग़ल सेना का अधिक भाग तो लौट गया, परन्तु उलुग़ और उसके साथी सरदारों ने बहुत से मुग़लों सहित इस्लाम धर्म ग्रहण किया। फ़ीरोज़ ने अपनी लड़की उलुग़ को ब्याह दी और ये लोग देहली के पास बस

गये। इस स्थान का नाम मुग़लपुरा पड़ा। ये लोग नौ मुस्लिम कहलाये। इसी वर्ष फ़ीरोज़ ने मण्डावर का क़िला फिर से जीता और अलाउद्दीन भिलसा पर हमला करके बहुत सी लूट देहली लाया; जिसके पुरस्कार स्वरूप उसे अवध की जागीर और दी गई।

दक्षिण भारत पर अलाउद्दीन की चढ़ाई और वहाँ की राजनीतिक अवस्था—भिलसा में अलाउद्दीन ने सुना था कि दक्षिण भारत में देवगिरि राज्य अपार धन से भरपूर है। तभी से उसने वहाँ जाकर लूट-मार करने की ठान ली थी। कड़ा लौट कर उसने सेना इत्यादि की तैयारी करनी शुरू कर दी।

दक्षिण भारत के उत्तर में उस समय दो मुख्य हिन्दू राज्य विद्यमान थे। पश्चिम में देवगिरि, यादव वंशीय राजा रामचन्द्र के अधिकार में और पूरब में तिलंगाना या वारंगल, काकतीय वंशीय रुद्रम्मा देवी के राज्य में था। देवगिरि के दक्षिण में यादवों की होयशल नाम की एक शाखा द्वारसमुद्र में राज्य करती थी। इसका राज्य कृष्णा नदी के दक्षिण तट तक ही था।

महाराष्ट्र में प्राचीन काल में मुख्यतया दो वंश आगे पीछे राज्य करते आये थे; अर्थात् राष्ट्रकूट और चालुक्य। जिस समय उत्तरी भारत में चौहान राजा पृथ्वीराज मुहम्मद गोरी के हाथों से देश की रक्षा करने का यत्न कर रहा था, उसी समय दक्षिण में कल्याण के चालुक्य वंश को यादवों ने नष्ट किया। यादव लोग पहले मथुरा के रहनेवाले थे और किसी समय महाराष्ट्र में आकर उन्होंने एक राज्य तो द्वारसमुद्र में और दूसरा नर्मदा और ताप्ती के मध्य भाग में स्थापित किया था। इस देश का प्रथम प्रसिद्ध पुरुष सेउणचन्द्र हुआ। उसने सेउणपुर शहर बसाया और देश का भी सेउण देश नाम रखा, जो मुसलमानी काल में खानदेश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस वंश में २२ राजा हुए जिन्होंने सन् ७९५ से ११९१ तक राज्य किया।

होयशल यादवों का पहला राजा वित्तिदेव उर्फ़ वित्तिग हुआ जिसने सन् ११११ से ११४१ तक राज्य किया। इसी ने द्वारसमुद्र नगर बसाया था। पहले यह राजा जैन धर्म का अनुयायी था, परन्तु फिर रामानुजी भक्ति मार्ग या वैष्णव धर्म्म से प्रभावित होकर उसका अनुयायी बना। उस समय इसी धर्म्म का प्राबल्य था। वैष्णव धर्म्म के बहुत से मन्दिर उसने बनवाये और अपना नाम विष्णुवर्धन रखा। विष्णुवर्धन और उसके वंशजों ने राज्य का बहुत विस्तार किया। उसके नाती वीर बल्लाल ने चालुक्य वंशी सोमेश्वर चतुर्थ के राज्य का बहुत सा हिस्सा छीन कर उत्तर की ओर अपना राज्य देवगिरि तक

फैलाया, परन्तु आगे चल कर सेउण देश के यादव भिल्लम ने वीर बल्लाल और सोमेश्वर दोनों को हरा दिया और देवगिरि में एक नवीन यादव राज्य की नींव डाली। यहीं चालुक्य वंश का अन्त हुआ, परन्तु होयशल वंश द्वार-समुद्र में राज्य करता रहा। भिल्लम का पुत्र जैत्रपाल बड़ा पराक्रमी था। वह बड़ा भारी विद्वान भी था और उसके दरबार में प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य का पुत्र लक्ष्मीधर और आदि मराठी कवि मुकुन्दराज जैसे पुरुष थे। जैत्रपाल के पुत्र सिंहराज ने कुन्तल देश और पद्मनाल अर्थात् पन्हाला को उसके राजा से छीन लिया और मालवा, गुजरात इत्यादि के राजाओं को भी हराया। इसके बाद कृष्णदेव, महादेव और रामदेव तीन राजा हुए। इसी रामदेव के समय में पहले-पहल दक्षिण पर अलाउद्दीन के नेतृत्व में मुसलमानों की चढ़ाई हुई *।

इस शताब्दी में महाराष्ट्र में भाषा, साहित्य और कला में विशेष उन्नति हो रही थी। इसके अतिरिक्त देश हर प्रकार से सम्पन्न, धन-धान्य से भरपूर और प्रजा परम सुखी थी। इस सुख-शान्ति से आध्यात्मिक और साहित्यिक उन्नति को और भी उत्तेजना मिली। दूसरे यह धार्म्मिक उथल-पुथल का भी युग था। जाति-पाँति के भेद-भाव और अंध-परम्परा इतनी बढ़ गई थी कि उसका सुधार आवश्यक था। विचारशील विद्वान् इसके विरुद्ध आवाज़ उठा रहे थे। रामानुज इत्यादि महात्माओं के प्रचार से इस सुधार प्रगति को उत्तेजना मिल चुकी थी। इसी समय मराठी भाषा की भी बड़ी उन्नति हुई। रामचन्द्र यादव के समय में भाषा और साहित्य को विशेष प्रोत्साहन मिला। उसका मन्त्री हेमाद्रि स्वयं बड़ा विद्वान्, शूरवीर और नीतिनिपुण था। उसने चतुर्वर्ग-चिन्तामणि नामक एक बड़ा भारी ग्रन्थ लिखा। उसके मित्र बोपदेव नामक विद्वान् ने प्राकृत भाषा का मुग्धबोध नामक व्याकरण संस्कृत में लिखा। उसने और भी कई ग्रन्थ लिखे थे। महाराष्ट्र की प्रसिद्ध मोड़ी (मुण्डी) लिपि भी हेमाद्रि ने ही चलाई थी। सारांश यह कि इस समय हर प्रकार की सामाजिक और वैयक्तिक उन्नति हुई, परन्तु इन राज्यों में सैनिक व्यवस्था पर्य्याप्त मात्रा में न थी। हेमाद्रि जैसे चतुर विद्वान और राजनीतिज्ञ ने भी इस ओर ध्यान न दिया। दक्षिणी राज्यों की मुसलमानों से हार होने का मुख्य कारण उनकी सैनिक अव्यवस्था ही थी। इन कारणों की व्याख्या आगे की जायगी।

इन दो बड़े राज्यों के अतिरिक्त दो और राज्य उल्लेखनीय हैं। होयशल

---

* श्री० गो० दा० तामस्कर रचित "मराठों का उत्थान व पतन" के आधार पर।

यादव राज्य के दक्षिण-पूर्व में मदुरा का पाण्ड्य राज्य बड़ा शक्तिशाली था। पहले बहुत दिनों तक यहाँ प्रसिद्ध चोल राज्य था, परन्तु तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस की अवनति हुई और पाण्ड्य राजाओं ने इसे जीत लिया। पूर्वी समुद्र के किनारे यह राज्य उत्तर में पेनर नदी तक फैला हुआ था और नेलोर का छोटा राज्य इसके और उत्तरी काकतीय राज्य के बीच में था।

इन बड़े बड़े राज्यों के सिवा बीच बीच में अन्य छोटे राज्य भी विद्यमान थे। इन सब राज्यों में परस्पर कोई राजनीतिक सम्बन्ध न था। सब अपने अपने रंग में मस्त थे। साहित्यिक, धार्मिक एवं सामाजिक उन्नति और आर्थिक सम्पन्नता यथेष्ट थी। प्राचीन भारत की यह एक विशेषता थी कि देश के समस्त भागों में धर्म्म और संस्कृति के क्षेत्र में परस्पर गहरा सम्बन्ध सदैव बना रहता था और इस सम्बन्ध पर राजनीतिक विभिन्नता का कोई प्रभाव न होता था। यह आवश्यक था कि देश की संस्कृति में साम्य और एकता होने के लिये सारे देश पर राज्य भी एक ही हो। यही अवस्था इन राज्यों की थी। इनमें परस्पर प्रायः कोई विवाद न था। बाहर से इनको किसी आक्रमण की आशंका न थी। फल यह हुआ कि यह लोग निज सैनिक बल को किसी बाहरी शक्ति का मुकाबला करने योग्य बनाये रखने पर ध्यान ही न देते थे। दूसरे इनको यह आशंका न थी कि कोई आक्रमणकारी या विजेता हमारे धर्म्म और संस्कृति पर भी प्रहार करेगा। इन्हें ऐसा अनुभव ही न था। इनके पारस्परिक युद्ध केवल राज्य-विस्तार या आत्म-रक्षा के उद्देश्य से होते थे। धर्म्म और संस्कृति के विषय में पूर्ण उदारता और सहनशीलता का व्यवहार था। ऐसी अवस्था में जब कि उनकी सार्वजनिक और सामान्य सम्पत्ति, अर्थात् उनकी संस्कृति तथा धर्म्म को कोई भय न था, कोई ऐसा प्रयोजन नहीं था जो उनको राजनीतिक दृष्टि से भी एकता के सूत्र में बाँध सकता। जिस समय मुसलमानी हमले शुरू हुए, उस समय इन राज्यों का कोई सामान्य हित नहीं था। एक नष्ट होता था, परन्तु उसके पड़ोसी के कानों पर जूँ तक न रेंगती थी। इसी लिए इन नवीन प्रकार के आक्रमणों ने पहले-पहल इनको विस्मय में डुबा दिया। जब तक इन लोगों की नींद खुली और इन्हें इस सर्वतोमुखी भय की वास्तविकता का ज्ञान हुआ, तब तक शत्रु अपना काम पूरा कर चुका था। दक्षिण के सारे हिन्दू राज्य एक एक करके जीत लिये गये, क्योंकि कभी इन सबने मिल कर शत्रु का मुकाबला न किया।

देवगिरि पर चढ़ाई (सन् १२९४)—देहली से वापस लौट कर अला-उद्दीन ने देवगिरि की ओर चलने की तैयारी की और अलाउल्मुल्क को कड़ा

का प्रबन्ध सौंप कर ८ या १० हजार घुड़-सवार सेना के साथ रवाना हो गया। उसके पीछे सुलतान को सन्तुष्ट रखने के लिये काजी अलाउल्मुल्क आवश्यकतानुसार सूचनाएँ भेजता रहा। बहुत से बीहड़ रास्तों को ठीक करके दो महीने में वह एलिचपुर पहुँचा। वहाँ उसने यह ख़बर उड़ाई कि मैं देहली के सुलतान से लड़कर नौकरी की खोज में निकल पड़ा हूँ। इसलिये वहाँ किसी ने उसे न रोका। दो दिन ठहर कर वह देवगिरि की तरफ बढ़ा। उसके सौभाग्य से देवगिरि राज्य की बहुत थोड़ी सी ही सेना राजधानी में थी। बाकी सब यादव राजा रामचन्द्र के बेटे और रानी के साथ दक्षिण की ओर तीर्थयात्रा पर गई हुई थी। ऐसी विकट अवस्था में बेचारे रामचन्द्र देव पर अकस्मात् यह आपत्ति आ गई। राजा ने जल्दी में दो तीन हजार सेना एकत्र की और लड़ने को निकला, परन्तु हार कर अपने किले में जा छिपा। किले की रक्षा के लिये उस समय उसके चारों ओर खाई भी न थी। किले में खान-पान की सामग्री भी काफी न थी, इसलिये राजा ने कोंकण से आनेवाले एक कारवाँ को पकड़ कर उसके बोरे किले में भर लिये और अब दृढ़ संकल्प किया कि घेरे का पूरी तरह से मुकाबला किया जायगा। इतने में अलाउद्दीन ने शहर में घुसकर लूट-मार की और ब्राह्मणों तथा धनाढ्य व्यापारियों को पकड़ लिया। इसी के साथ साथ उसने एक बड़ी चालाकी खेली। उसने यह खबर उड़ा दी कि मेरा चाचा २०००० फौज लेकर मेरी सहायता के लिये आ रहा है। यह सुनकर रामदेव ने उससे सन्धि की बात-चीत शुरू की। अलाउद्दीन ने भी यह सोचकर कि इतनी दूर और शत्रुओं के देश से लौटना बड़ा भयानक और दुष्कर होगा, ५० मन सोना, ७ मन मोती, ४० हाथी, कई हज़ार घोड़े और बहुत सा माल लेकर यह वादा किया कि मैं १५ दिन में वापस लौट जाऊँगा। इधर रामदेव ने शंकरदेव को बुलवा रखा था। अलाउद्दीन चलने की तैयारी ही कर रहा था कि शंकरदेव आ पहुँचा। यद्यपि रामदेव ने उसे रोकना चाहा, पर वह अलाउद्दीन को इस प्रकार सहज में छोड़ देने के लिए तैयार न हुआ। अलाउद्दीन ने नसरत खाँ को क़िले का घेरा जारी रखने के लिये छोड़ा और आप फ़ौज का एक बड़ा हिस्सा लेकर शंकरदेव से लड़ने चला। लड़ाई में उसकी फ़ौज को हिन्दुओं ने हरा कर छिन्न भिन्न कर दिया। वह भागने को तैयार हो गई। इतने में ही नसरत खाँ क़िले को छोड़ कर अपनी सेना वहाँ ले आया। यह देख कर हिन्दुओं को ख़याल हुआ कि अलाउद्दीन का चाचा सुलतान फ़ीरोज़ अपनी सेना लेकर आ पहुँचा है। बस वे भाग निकले। अब तो अलाउद्दीन ने खूब मार-काट की

और फिर क़िले पर घेरा डाल दिया। उस समय रामदेव को पता चला कि सामान के बोरों में अनाज के बजाय नमक है। उसका धैर्य छूट गया और उसने फिर से सन्धि की प्रार्थना की। अब अलाउद्दीन ने बड़ी कड़ी शर्त्तें लगाईं जो राजा को माननी पड़ीं। फ़रिश्ता ने लिखा है कि उसने ६०० मन सोना, ७ मन मोती, २ मन अन्य प्रकार के जवाहिरात, १००० मन चाँदी, और एलिचपुर प्रान्त की कुल आमदनी वार्षिक कर के रूप में ली। इतनी असंख्य लूट बटोर कर अलाउद्दीन कड़ा को लौट गया।

इस चढ़ाई में अलाउद्दीन का एक मात्र उद्देश्य दौलत जमा करना था, नये देशों को जीत कर सलतनत का विस्तार करना नहीं। वह शीघ्रातिशीघ्र सुलतान बनने को उतावला हो रहा था। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये धन की आवश्यकता थी। दक्षिणी राज्यों की अनन्त सम्पत्ति का हाल उसने सुन रखा था। इसलिये प्रयोजन-सिद्धि की कामना से पागल वह बिना आगा पीछा देखे एक अनजान देश में कूद पड़ा। भाग्य ने यहाँ भी उसका साथ दिया और भविष्य में भी।

जलालउद्दीन का वध और अलाउद्दीन का राज्य—जब सन् १२९५ के अन्त में अलाउद्दीन देवगिरि से माल लेकर वापस लौट रहा था, तब अहमद चप तथा अन्य हितैषियों ने हतबुद्धि जलाल को परामर्श दिया कि अलाउद्दीन को गवालियर के पास ही रोक देना चाहिए, परन्तु उसने एक न सुनी। अलाउद्दीन ने कड़ा पहुँच कर अपनी सेना को खूब तैयार किया और मोहान्ध बूढ़े चाचा को अपने भाई अल्मास बेग की सहायता से बड़े धोखे से बुलवाया। जब वह अलाउद्दीन बेग का बड़े प्रेम से गले लगा रहा था, तब इशारा पाकर उसके एक सैनिक ने बूढ़े सुलतान पर प्रहार किया और उसका गला काट कर अलाउद्दीन को दे दिया। इस दुष्ट दानव ने अपने कृपालु चाचा और श्वसुर का सिर भाले की नोक पर रख कर सारी सेना तथा अवध भर में घुमवाया जिससे सबको उसके मरने का विश्वास हो जाय।

इसके बाद वह देहली की तरफ़ रवाना हुआ। रास्ते में वह सैनिकों, अमीरों तथा अन्य प्रजा को खूब धन लुटाता गया जिससे वे उसका घृणित तथा नृशंसतापूर्ण पाप भूल जायँ। इस प्रकार उसने सेना को अपने पक्ष में रखा। जलाल का बड़ा लड़का अर्कली खाँ मुलतान का सूबेदार था। उसके देहली पहुँचने पर अर्कली खाँ का छोटा भाई और उसकी माँ भाग गई। अलाउद्दीन ने लाल महल (कुश्के-सुर्ख़) में अपना राज्याभिषेक कराया और अर्कली खाँ को सेना भेज कर पकड़वा मँगाया और मार डाला।

अलाउद्दीन के सिंहासनारूढ़ होने के समय देश की स्थिति— दक्षिण की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। उत्तर में बलबन की 'खड्ग नीति' का क्या परिणाम हुआ, इसका दिग्दर्शन भी हम करा चुके हैं। वे समस्याएँ, जिनका निराकरण किये बिना साम्राज्य की नींव दृढ़ नहीं हो सकती थी, पूर्ववत् बनी रहीं। किसी राज्य की नींव सुदृढ़ नहीं कही जा सकती जब तक कि वह प्रजा के सन्तोष, विश्वास और अनुमति पर आश्रित न हो। सुलतानी शासन की मूल त्रुटि तथा निर्बलता का कारण यही था कि सुलतानों ने प्रजा की सहानुभूति और सहयोग प्राप्त करने अथवा उनमें विश्वास उत्पन्न करने की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि उनके शासन का सैन्य एवं विदेशीयतावाला रूप अन्त तक बना रहा।

अलाउद्दीन के सामने भी ठीक वही परिस्थिति थी जो उसके अग्रगामियों के सामने थी। अमीरों के विद्रोह, स्वयं अपने बन्धु-बान्धवों की प्रतिस्पर्द्धा, नौ मुस्लिमों तथा देशी सरदारों का विरोध, तथा मुग़लों के आक्रमण, आन्तरिक तथा बाह्य स्थिति को यथेष्ट संकटमय बनाये हुए थे। बलबन की सैनिक व्यवस्था से मुग़लों के आक्रमण रुक तो न सके, परन्तु उनके विरुद्ध साम्राज्य की रक्षा की जा सकती थी। बलबन की आन्तरिक नीति सर्वथा निष्फल रही। इस प्रकार अलाउद्दीन को ये काम करने थे—

(१) बाहरी हमलों से साम्राज्य की और अपनी रक्षा करना।

(२) आन्तरिक्त विद्रोहों और अराजकता का दमन करके शान्ति स्थापित करना।

(३) साम्राज्य का विस्तार करना। और

(४) शासन को सुव्यवस्थित करना जिससे जनता सुखी एवं समृद्ध हो और उन्नति के साधनों का अभाव न हो।

अलाउद्दीन के सहायक—प्रारम्भ से ही अलाउद्दीन को अपने कुछ सामन्तों से बड़ी भारी सहायता मिली। इसके बिना वह स्वयं कुछ न कर पाता और कई अत्यन्त मूर्खता के तथा उछृंखलतापूर्ण काम कर बैठता। इन सहायकों में से उलुगखाँ (अल्मास बेग) ने उसे जलाल के नष्ट करने में, नसरत खाँ जलेसरी ने देवगिरि में, ज़फ़र खाँ ने कड़ा में अकली के नष्ट करने और मुग़लों को पराजित करने में उसे बड़ी सहायता दी थी। अलप खाँ ने भी इसी प्रकार उसे सहायता दी। क़ाज़ी अलाउलमुल्क बड़ा बुद्धिमान तथा दूरदर्शी नीतिज्ञ था। उसने अपने सत्परामर्श से सुलतान की कदम कदम पर रहनुमाई की और कई बार उसे अत्यन्त मूर्खतापूर्ण कार्यों से बचाया। अला-

उद्दीन निर्बुद्धि था, अनपढ़ था, तुच्छ मस्तिष्कवाला मनुष्य था, किन्तु उसमें एक बड़ा गुण था। वह अपने हितैषियों के परामर्श मान लेता था और तुरन्त अपनी निराधार कल्पनाओं को छोड़ देता था। इसी गुण के कारण कई संकटों से वह बच गया। उसके शासन सम्बन्धी सब कार्य इन्हीं वज़ीरों के परामर्श से होते थे। उनके मरते ही उसके शासन की व्यवस्था तथा संघटन ढीला और अस्त-व्यस्त हो गया। अब हम देखेंगे कि अलाउद्दीन ने उपर्युक्त समस्याओं का कितनी सफलता के साथ निराकरण किया।

उत्तर-पश्चिम सीमा तथा आन्तरिक विद्रोहों की समस्या; मुग़लों के हमले—ख़िल्जी शासन काल के आरम्भ से ही उत्तर पश्चिमी सीमा की समस्या अत्यन्त विकट हो गई। मुग़लों के हमले बहुत जल्दी जल्दी होने शुरू हुए। सुलतान के सिंहासन पर बैठने के थोड़े ही दिन पीछे सन् १२९८ के शुरू में ही मुग़लों की एक भारी सेना जुलन्दर (जलन्धर ?) तक घुस आई। उलुगख़ाँ ने इनको पराजित किया और वे वापस लौट गये, परन्तु दूसरे ही साल सन् १२९९ के अन्त में सल्दी नामी मुग़ल सेनापति एक बड़ी भारी सेना के साथ चढ़ आया। उसको उस समय के सब से बड़े योद्धा ज़फ़र ख़ाँ ने पराजित किया। वह १७०० मुग़लों को उनके नेता सल्दी समेत पकड़ कर देहली ले आया। अगले ही वर्ष इससे भी कहीं अधिक भयानक हमला कतलू ख़्वाजा का हुआ जो दो लाख सेना लेकर आया। इस बार वे देश को विजय करने का संकल्प करके आये थे, लूट-मार करने नहीं आये थे। वे बिना किसी को मार्ग में सताये सीधे देहली आकर रुके। यह बड़े संकट का समय था। अलाउलमुल्क ने अलाउद्दीन को सलाह दी कि मुग़लों से सुलह कर लें, परन्तु उसने इस भीरुतापूर्ण परामर्श का तिरस्कार किया और सेना लेकर उनसे लड़ने निकला। इस समय फिर ज़फ़र ख़ाँ के युद्ध-कौशल ने साम्राज्य को बचाया। वह इतने जोश से लड़ा कि मुग़ल पीछे हट गये और वह उनको मारता काटता अकेला बहुत दूर तक उनके बीच में घुस गया। अलाउद्दीन उसकी सैनिक योग्यता के कारण उससे डरने और ईर्ष्या करने लगा था और उसके नष्ट करने की चिन्ता में था। अब उसे अपनी इच्छा-पूर्त्ति का अच्छा अवसर मिल गया। उसने ज़फरख़ाँ की सहायता के लिए कोई आदमी न भेजा और उसे अकेला पाकर मुग़लों ने मार डाला, परन्तु मुग़ल इतने भयभीत हो गये थे कि वे रात में भाग गये और फिर कुछ काल तक न आये।

सन् १२९९ में सुलतान ने गुजरात को फ़तह कर लिया था और इधर सल्दी आदि के हमलों को दबा दिया था। यद्यपि परिस्थिति इतनी विकट थी

कि राज्य की रक्षा के लिये कोई ऐसा दूरदर्शी सैनिक न था जो सीमान्त प्रदेश को उस प्रकार सुरक्षित कर देता जिस प्रकार बलबन ने किया था, जिसमें मुग़ल अथवा कोई बाहरी आक्रमणकारी देश के अन्दर घुसने न पाता। इसका प्रबन्ध करने का तो अलाउद्दीन को ध्यान ही न आया। वह तो तुच्छ-हृदय मनुष्यों की भाँति अपनी सफलता और धन-धान्य के सन्तोष में ही फूला न समाता था। कोई अच्छा राजनीतिज्ञ और शासक राज्य की गहन समस्याओं के निराकरण की चेष्टा करनेवाला न था। तब अलाउद्दीन को क्या सूझी? सिंहासन पर जमते ही उसे सूझा कि जिस प्रकार हज़रत मुहम्मद के चार साथी (अर्थात् पहले चार ख़लीफ़ा) थे वैसे ही मेरे चार साथी हैं और वे बड़े शूर-वीर भी हैं। तो फिर मैं भी क्यों न एक नया धर्म स्थापित करके हज़रत से भी बढ़ जाऊँ और सांसारिक क्षेत्र में सारी दुनियाँ को जीत कर सिकन्दर ए-आज़म से अधिक नाम क्यों न कमाऊँ? अपने इस संकल्प के सम्बन्ध में क़ाज़ी अलाउलमुल्क से उसने परामर्श माँगा। अलाउलमुल्क को वास्तविक स्थिति का पूरा परिज्ञान था। उसने सुलतान से कहा कि नबी बनना या नया धर्म चलाना बादशाहों का काम नहीं है; और दूसरा अर्थात् संसार को जीतने का विचार तब करना उचित है जब पहले अपने घर को सँभाल लो। पहले आन्तरिक विद्रोहों का दमन करो, भारतवर्ष के शेष भाग को जीतो, तब आगे की सोचना। इससे पहले सारी दुनियाँ को अधिकृत करने का विचार करना हवा में महल बनाना है। यह स्पष्ट बात सुन कर सुलतान चुप हो गया और फिर कभी उसने ऐसा प्रस्ताव न किया।

इसी अवकाश में कई आन्तरिक विद्रोह भी हो चुके थे। गुजरात से लौटते समय उलुगखाँ और नसरत खाँ के अन्याय और कड़ाई के कारण जालौर के पास नौ मुस्लिमों ने बलवा कर दिया था। दोनों सेनापति बाल-बाल बच गये। विद्रोहियों को और उनके परिवार को ऐसे घृणित दण्ड दिये गये जिनकी उपमा इतिहास में कठिनता से मिलेगी। जो बचे, वे भाग कर हिन्दू राजाओं की शरण में चले गये। इसी प्रकार सन् १२०१ में रणथम्भोर को जाते समय तिलपत के पास उसके भतीजे अकट खाँ ने १०९ मुस्लिमों के साथ उसे मार ही डाला होता। इसी समय उसके सम्बन्धियों ने बदायूँ और अवध में विद्रोह कर दिया। साथ ही देहली में हाजी मौला के नेतृत्व में जनता ने विद्रोह करके कोतवाल को निकाल दिया और शहर पर अपना अधिकार जमा लिया। इस विद्रोह को दमन करने में बड़ी कठिनाई पड़ी। इतनी चोटें लगने के बाद अलाउद्दीन को यह सूझ पड़ी कि स्थिति वास्तव में कुछ भयानक है। उसको सँभालने के लिये उसने अपने मन्त्री मण्डल से सलाह ली। उन्होंने इसके चार मुख्य कारण बतलाये—

(१) गुप्तचर विभाग का अभाव, जिसके कारण जनता के कामों का पता ही नहीं चलता ।

(२) दरबार में आम तौर पर मदिरा-पान और बे-लगाम बातचीत का रवाज ।

(३) अमीरों में परस्पर शादी-ब्याह का बहुत अधिक होना जिसके कारण उन्हें षडयन्त्र रचने के अवसर मिलते हैं । और

(४) सामान्य जनता का सुखी होना जिसके कारण उनको राजद्रोही विचारों का अवसर मिलता है ।

रणथम्भोर से लौटते ही उसने कतिपय बड़े-बड़े अमीरों को छोड़ कर सबका माल छीनना शुरू कर दिया। माफ़ीदारों की ज़मीनें ले ली गईं। कर वसूल करनेवालों को आज्ञा हुई कि जितना रुपया किसी के पास मिले, जब्त कर लें । गुप्त चर विभाग इतने विस्तृत रूप से स्थापित किया कि मिनट-मिनट की ख़बरें उसके पास आने लगीं । शराब का बेचना और बनाना तक बन्द कर दिया गया । सुलतान ने अपनी शराब के पीपे शहर के बाहर उलटवा दिये और बर्त्तन तुड़वा डाले । अमीरों का पारस्परिक विवाह सम्बन्ध, पाँच आदमियों से अधिक का बिना आज्ञा के मिलना आदि सब बन्द कर दिये । हिन्दू ज़मींदारों और कर उगाहनेवाले अफ़सरों से सबकी आय के अनुसार इतना कर वसूल करना आरम्भ हुआ कि उनके पास केवल पेट भरने को रह जाता था । अपने इन सब कामों के विषय में उसने क़ाज़ी मुग़ीसउद्दीन बयानवी से पूछा कि क्या ये कुरान के अनुकूल हैं ? क़ाज़ी ने कहा कि कई जगह आपकी सज़ा इत्यादि क़ुरान के ख़िलाफ़ है । तब उसने उत्तर दिया कि मैंने क़ुरान के नियम तो पढ़े नहीं हैं, परन्तु मैं पक्का मुसलमान हूँ । तथापि जब लोग मेरी आज्ञा नहीं मानते, तब मुझे उनको कठोर दण्ड देने पड़ते हैं * । ये उपाय शासन नीति के थे, धार्मिक असहिष्णुता के

---

* अलाउद्दीन के इस कथन में विद्वानों ने एक नवीन शासन सिद्धान्त की कल्पना कर ली है । क़ुरान के नियमों का इस प्रकार उल्लंघन कोई नई बात न थी । बादशाहों के गद्दी पर बैठने में भूमि-कर, न्याय विभाग इत्यादि सभी बातों में सभी सुलतान परिस्थिति के अनुसार परिवर्त्तन करते चले आये थे । बलबन का लखनौती के लोगों को दण्ड देना उतना ही क़ुरान के नियमों के विरुद्ध था। अलाउद्दीन भी अपने बल के ज़ोर में विद्रोहों को दबाने के लिये जो मन में आता था, करता था । उसे किसी शासन सिद्धान्त का ज्ञान तो था ही नहीं, नये सिद्धान्त सोच कर निकालना तो दूर रहा। स्वयं उसके ही कथन से सिद्ध है कि उसने कभी किसी सिद्धान्त पर विचार नहीं किया था । केवल एक बात उसके कथन से प्रकट होती

कारण नहीं। इसके बाद फिर आन्तरिक विद्रोह न हुए। आन्तरिक विद्रोहों को रोकने का उपाय तो अलाउद्दीन ने किया, पर बाहरी हमलों की समस्या की ओर उसका ध्यान न गया। इसके बाद सन् १३०२–३ में उसने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। उसके देहली से दूर चले जाने की ख़बर सुन कर मुग़ल सरदार तरग़ी एक बड़ी सेना लेकर रवाना हुआ। मुग़लों के डर से बलबन तो देहली छोड़ कर कहीं न जाता था, परन्तु अलाउद्दीन अभी इस विपत्ति का अनुभव ही न कर पाया था। सौभाग्यवश तरग़ी के आने से पहले ही वह चित्तौड़ से लौट आया था। इस समय उसकी सेना इतनी बिखरी हुई थी कि सुलतान के लिए सीरी के अन्दर घुस जाने के सिवा और कोई चारा ही न था। मुग़लों ने दो महीने तक शहर को घेरे रखा, सारा यातायात बन्द कर दिया और आस पास के देहातों को खूब लूटा। परन्तु थोड़े दिन बाद वे आप ही घेरा उठा कर लौट गये; शायद इस कारण कि वे घेरा डालना नहीं जानते थे और उन्होंने आसपास के देहातों को बरबाद करके अपने लिये खानपान की सामग्री का साधन भी नष्ट कर दिया था। जो हो, यह भाग्य ही था जिसने सलतनत को उस समय बचा लिया। अलाउद्दीन में देश की राजनीतिक और सैनिक आवश्यकताओं को समझ सकने की कितनी योग्यता थी, यह उसके अब तक के कार्यों से स्पष्ट है।

परन्तु इस भँवर से बचकर उसे फिर सूझा कि सीमा प्रदेश की समस्या आन्तरिक अराजकता की समस्या से भी गहन तथा आवश्यक है। इसके लिये उसने फिर अपने मंत्रियों से परामर्श किया। यहीं से उसके **सेना विभाग के सुधार** का आरम्भ हुआ। मंत्री मण्डल की योजना के अनुसार उसने अपनी स्थायी सेना की संख्या ४५०००० कर दी और उसके सुशिक्षण इत्यादि की भी व्यवस्था की। मुग़लों के मार्ग में जो क़िले थे, उनकी मरम्मत कराई* और उनमें फौजें रखीं। इतनी बड़ी सेना के भरण-पोषण के लिये धन की आ-

---

है। उसके शासन में विद्रोह होते थे और वह अपनी शक्ति से उनको दमन करने का भरसक यत्न करता था। जैसा कि उन दिनों रवाज था, वह अपने कृत्यों के विषय में क़ाज़ी से पूछा करता था। क़ाज़ी के विरोध करने पर उसने कह दिया कि मुझे जो भला सूझता है, वह करता हूँ, कानून मुझे आता नहीं।

* स्पष्ट है कि यद्यपि मुग़लों के इतने हमले हो चुके थे, तब भी अलाउद्दीन ने किलों इत्यादि को रक्षा के योग्य बनाने का यत्न न किया था। अत्यन्त आवश्यक किलों तक को कोई खबर न ली गई थी। (देखो के० हि० ई० पृ० १०९)

वश्यकता हुई, और यह उसकी कृत्रिम आर्थिक योजना के आरम्भ का कारण हुआ। परन्तु हम बड़े आश्चर्य से देखते हैं कि इतनी भारी सेना रखने पर भी तथा अन्य और सब प्रबन्ध करने पर भी छः मास बाद सन् १२०५ के आरम्भ में ही मुग़लों (अलीबेग तरताक़ आदि) का एक भारी आक्रमण होता है और वे हिमालय की तलहटी से होते हुए देहली ही नहीं, दोआब के बीचों बीच अमरोहा तक बिना रोक-टोक पहुँच जाते हैं। पंजाब के क़िलों की सेना को शायद ख़बर भी नहीं होती। उनकी इतनी अक्षम्य असावधानी का या तो यह कारण हो कि सुलतान स्वयं उदासीन या असावधान हो, और इस कारण वे भी ढीले पड़ गये हों अथवा वे सुलतान से असन्तुष्ट हों। जो हो, ऐसे अस्थिर काल में, जब कि सैनिक बल पर ही राज्य आश्रित हो इतना भारी प्रबन्ध करने के बाद भी, किसी बाहरी सेना का सलतनत के केन्द्र से भी आगे तक अज्ञात रूप से घुस जाना एक ऐसी घटना है जिससे शासक की सैनिक योग्यता तथा जागरूकता के अभाव का अनुमान भली भाँति किया जा सकता है। इस पर टीकाटिप्पणी करना व्यर्थ है। सौभाग्य से उस समय भी एक बड़ा योग्य सैनिक गयासउद्दीन तुग़लक़ विद्यमान था जिसने आक्रमणकारियों को पराजित किया। फिर एक बार अलीबेग के नेतृत्व में मुग़लों का आक्रमण सन् १२०७ के लगभग हुआ और फिर 'ग़ाज़ी मलिक' (ग़यास तुग़लक़) ने ही उनको सिन्धु नदी के किनारे नष्ट किया। इसके बाद उसके शासन में मुग़लों का कोई आक्रमण नहीं हुआ।

आर्थिक उपाय—जैसा कि हम ऊपर निर्देश कर आये हैं, जब अलाउद्दीन ने इतनी बड़ी सेना रखने का निश्चय किया, तब यह समस्या उत्पन्न हुई कि इसका भरण-पोषण कैसे किया जाय। ख़ज़ाने में जितना रुपया है, वह तो थोड़े दिन में समाप्त हो जाएगा। यह बात भी उसने अपने सलाहकारों तथा मन्त्रियों से पूछी। उन्होंने इस प्रश्न पर ख़ूब विचार किया और एकमत होकर सुलतान को यह सलाह दी कि सिपाहियों की तनख़ाहें कम कर दी जायँ, परन्तु उनको सन्तुष्ट रखने और उनकी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिये अनाज तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का मूल्य सस्ता करके सबके निर्ख़ निश्चित कर दिये जायँ। सुलतान ने ऐसा ही किया। खाना, कपड़ा, सबज़ी, ऊँट, घोड़े, बकरी, गाय, गुलाम इत्यादि सबकी शरह तय कर दी गई। माल इकट्ठा करने के पूरे उपाय किये गये। देहली में अनाज भरने के लिये खत्तियाँ बनवाई गईं और दोआब और रुहेलखण्ड प्रदेश में किसानों से ५० फ़ी सदी मालगुज़ारी अनाज के रूप में ही लेने की आज्ञा हुई। इसके सिवा उनको यह भी आज्ञा हुई कि अपने खाने भर की

ज़रूरत से अधिक कोई एक दाना भी बचा कर न रखे। ऊपर का सारा सामान सरकार के हाथ एक निश्चित शरह पर बेच दें। ध्यान रखना चाहिए कि ये आज्ञाएँ केवल देहली और आस-पास के देहातों के लिए ही थीं। देहली में एक मण्डी खोली गई और कारखानों तथा व्यापारियों को आज्ञा हुई कि अपना सामान उस मण्डी में ला कर बेचें। अवहेलना करने पर उन्हें बड़े कठोर दण्ड दिये जाते थे। देहली के पासवाले प्रान्तों के शासकों को भी आज्ञा दी गई कि किसानों से ५० फ़ी सदी कर अनाज के रूप में इकट्ठा करें और आवश्यकता पड़ने पर राजधानी में भेजें। परन्तु इन स्थानों पर कोई निर्ख़ निश्चित नहीं किया गया। दूरस्थ सूबों पर इस योजना का कोई असर नहीं था। इस आर्थिक नीति के लाभालाभ का निर्णय करने में पहले तो यह निश्चय है कि इसका अभिप्राय सेना को बनाये रखना था, प्रजा-हित नहीं। अतएव सैनिकों को इससे अवश्य लाभ हुआ, क्योंकि उनको ख़रीदना ही था, बेचना कुछ नहीं। व्यापारियों के हानि-लाभ शायद बराबर हो गये हों, क्योंकि उन्हें क्रय-विक्रय दोनों करना था। तथापि वे इससे अत्यन्त असन्तुष्ट थे, यह निस्सन्देह है। शायद किसानों को इस नीति से सबसे अधिक कष्ट हुआ होगा। उनको ५० फ़ी सदी तो कर ही देना पड़ता था और रहा-सहा सस्ते मूल्य पर। उनकी अन्य आवश्यकताएँ उन दिनों इतनी थोड़ी थीं कि अन्य वस्तुओं के सस्ते होने से उनको कोई लाभ न हुआ होगा। इसलिये इस आर्थिक नीति का न तो उद्देश्य प्रजा-हितकारक था और न परिणाम *।

साम्राज्य-विस्तार—साम्राज्य का विस्तार जितना खिल्जी-काल में हुआ, उतना पहले कभी न हुआ था। सन् १२९९ में उलुग खाँ और नसरत खाँ ने गुजरात और ख़म्बात (Cambay) को अधिकृत किया। गुजरात का बघेल वंशीय राय कर्ण अपने परिवार को छोड़ कर भाग गया और उसकी स्त्री और लड़कियों को सुलतान के दरबार में भेज दिया गया †। खम्बात से उन्होंने एक हिन्दू

---

* अलाउद्दीन के इन आर्थिक नियमों में कुछ लेखकों तथा विद्वानों को आधुनिक साम्यवाद (Socialism) का आभास दिखाई पड़ता है, पर कोई मनुष्य, जो साम्यवाद के तत्त्व और सिद्धान्त को समझता हो और अलाउद्दीन की इस नीति को भी भली भाँति जानता हो, कभी ऐसी उपहासजनक बात न कहेगा।

† दवल रानी या देवल देवी के बचकर अपने पिता के साथ भाग जाने और फिर कई वर्ष बाद काफ़ूर के हमले में पकड़े जाने तथा खिज्र खाँ के उससे प्रेम और विवाह इत्यादि की गाथा अमीर ख़ुसरू की मनगढ़न्त जान पड़ती है। सिवा उसके ग्रन्थ 'दवल रानी' या

गुलाम काफ़र को १००० दीनार में मोल लेकर सुलतान के पास भेजा। सोमनाथ की मूर्त्ति को देहली की मस्जिद के ऊपर रखवाने के लिये भेजा। फिर गुजरात में शासन स्थापित करके लौट आये। सन् १३०१ में रणथम्भोर का किला लेने के लिये एक वर्ष तक घेरा डालना पड़ा। इस बीच में नसरत खाँ और उलुगखाँ दोनों मर गये थे।

सन् १३०३ में अलाउद्दीन ने चित्तौड़ के क़िले पर चढ़ाई की। सुलतान राजा रतनसिंह की अत्यन्त सुन्दरी रानी पद्मिनी के अनुपम रूप-लावण्य की प्रशंसा सुनकर मुग्ध हो गया था। राणा ने बड़ी उदारता से पद्मिनी को सुलतान को दिखलाने का प्रबन्ध किया। पर उसने राणा को धोखे से पकड़ लिया। फिर पद्मिनी ने उसे अपनी चतुराई से छुड़ाया। उसने सुलतान से कहा कि मैं ८०० बाँदियों के साथ डोलों में तुम्हारे पास आ रही हूँ और उनमें ८०० जवान राजपूत लेकर पहुँच गई और बड़ी वीरता से रतनसिंह को छुड़ा लाई। फिर अलाउद्दीन ने बरसों तक घेरा डाल चित्तौड़गढ़ को जीता। पद्मिनी सैकड़ों राजपूतिनियों के साथ जौहर की आग में जल कर भस्म हो गई। सुलतान ने अपने पुत्र खिज्र खाँ को चित्तौड़ का शासक बनाया और उसका नाम खिज्राबाद रखा। परन्तु थोड़े दिन बाद जब अलाउद्दीन की शक्ति कम हुई, तब चित्तौड़ को राणा ने वापस ले लिया।

सन् १३०५ में मुलतान के सूबेदार ऐन उल्मुल्क को मालवे की विजय के लिये भेजा गया। उसने चँदेरी के हिन्दू राजा को बड़ी कठिनाई से पराजित किया। तबसे उज्जैन, धार, माण्डू और चँदेरी सब देहली की सल्तनत में मिला लिये गये।

इसके बाद सुलतान को सेना इत्यादि के सुधार में लगे रहना पड़ा। सन् १३०९ में उसने मलिक काफूर को, जो उसका सबसे प्रिय मन्त्री हो गया था, मलिक नायब की उपाधि दी और दक्षिण को फिर से जीतने के लिये भेजा। डेढ़ साल के अन्दर मलिक नायब देवगिरि और वारंगल को जीत कर और बहुत सा धन लेकर वापस लौटा। फिर सन् १३११ में सुदूर दक्षिण के राज्यों पर मलिक नायब ने चढ़ाई की। एक वर्ष में उसने द्वारसमुद्र के होयशल राजा को पराजित किया, उससे खिराज वसूल किया और रामेश्वरम् तक जा पहुँचा। वहाँ एक मस्जिद बनवाई और लूट का अनन्त माल लेकर लौटा। इन नये प्रदेशों

'आशिक़ा' के यह कहानी और किसी समकालीन लेखक ने नहीं लिखी है। इसकी सत्यता में संशय होने के और भी कई कारण हैं।

पर कोई स्थायी शासन स्थापित नहीं किया जा सका। केवल उनको जीतकर राजाओं से कर वसूल कर लिया गया था।

इसके बाद नौ-मुस्लिमों का फिर एक बड़ा भारी बलवा देहली के पास हुआ, परन्तु उनको बड़ा कठोर दण्ड दिया गया।

अब अलाउद्दीन का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। उसके सब सच्चे हितैषी और सलाहकार मर चुके थे। काफ़ूर ने उसको बिलकुल अपनी मुट्ठी में कर लिया। चित्तौड़, देवगिरि आदि स्वतन्त्र होने लगे और सल्तनत का ढाँचा ढीला पड़ने लगा। काफ़ूर ने खिज्र खाँ के विरुद्ध सुलतान को बहका दिया। फरवरी १३१५ में उसकी मृत्यु हो गई।

काफ़ूर ने खिज्र खाँ और उसके भाइयों को तो गवालियर के क़िले में बन्द कर के अन्धा करा दिया और पाँच वर्ष के एक बच्चे को गद्दी पर बैठाकर स्वयं उसका राज-प्रतिनिधि बनकर शासन करने लगा। वह सुलतान के सारे परिवार को नष्ट करना चाहता था, परन्तु ३५ दिन के अन्दर उसको कत्ल कर दिया गया और अलाउद्दीन का लड़का मुबारक शाह, जो बच गया था, गद्दी पर बैठा। इसने देवगिरि पर चढ़ाई करके हरपाल देव की ज़िन्दा खाल खिंचवाई। फिर वह विलासिता में डूब गया। अवसर पाकर गुजरात के एक अन्त्यज जातीय हिन्दू ने मुबारक को बिलकुल अपनी मुट्ठी में कर लिया। यह नाम के लिये मुसलमान हो गया था और इसने अपना नाम हसन रख लिया था। फिर इसने बड़ी योग्यता से सारे खिल्जी अमीरों को निकलवा दिया और मुबारक को मरवा कर स्वयं खुसरो शाह के नाम से बादशाह बन गया। यद्यपि मुसलमान लेखकों ने हसन* की जी भरकर बुराई की है, तो भी उन्हीं के वर्णन से यह साफ़ सिद्ध हो जाता है कि यह बड़ा योग्य पुरुष था; और जिस प्रकार

---

* हसन (खुसरो) की प्रतिक्रिया (Re-action) उसी हिन्दू प्रतिरोध का एक निदर्शन था जिसका हम वर्णन करते आये हैं। आश्चर्य की बात यह है कि आधुनिक लेखक भी बिना विचार किये उस को कम्बख्त, नीच और राज्य का अपहरण करनेवाला ही कहते चले जाते हैं। उसके अन्त्यज जाति का होने से उसके कार्यों का अनुमान करते समय किसी विद्वान् की दृष्टि पर कोई असर नहीं पड़ना चाहिए। उसे अपहरण करनेवाला इत्यादि कहना स्पष्ट अन्याय है, क्योंकि वह समय ही ऐसा था जिसमें बराबर 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होती चली आई थी। क्या खिल्जी शासक या अन्य सुलतान इसी अपराध के अपराधी नहीं थे ? फिर खुसरो को ही क्यों यह हक़ नहीं था कि वह शासक बन जाता ?

मुसलमानों ने हिन्दू धर्म का अपमान और नाश किया था, उसी प्रकार इसने उनसे बदला लेना चाहा था। उसने मुसलमानों की धर्म-पुस्तकों, पवित्र स्थानों इत्यादि के साथ वही बर्त्ताव करने शुरू किये। परन्तु थोड़े ही दिन बाद उसे सीमा प्रदेश के योग्य सूबेदार ग़यास उद्दीन तुग़लक ने पराजित करके क़त्ल किया और मुस्लिम अधिकार पुनः स्थापित किया।

अलाउद्दीन का चरित्र—इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं रही। उसके कार्यों से सिद्ध है कि वह एक बहुत साधारण कोटि का सिपाही था। हाँ सिपाही के गुण, निर्भीकता, निर्द्वन्द्वता इत्यादि, उसमें पूरी मात्रा में विद्यमान थे। सुलतान का भतीजा होने के कारण और अपने चाचा की मूर्खता के कारण उसे अपनी आकांक्षा-पूर्त्ति का अवसर मिला। पग पग पर भाग्य ने उसका साथ दिया। इसके अतिरिक्त उसमें कोई युद्ध-कौशल या प्रतिभा नहीं थी। महमूद ग़जनवी और बलबन जैसा युद्ध-चातुर्य, दूरदर्शिता अथवा सावधानी का उसमें पता नहीं था। उसे मुग़लों इत्यादि से स्वयं कभी नहीं लड़ना पड़ा और न उसका व्यक्तित्व ही इतना आकर्षक था कि उसके सैनिक उस पर जान देते। वह तो सदा सोना बिखेर बिखेर कर उनसे काम लेता रहा। जब तिलपत में अकट खाँ ने उसे मरा जानकर छोड़ दिया और रणथम्भोर की छावनी में पहुँच कर इसकी सूचना दी, तब बहुतों ने तुरन्त ही उसे सुलतान मान लिया। जो हिचके, वे केवल इस भय से कि कहीं अलाउद्दीन जीता न हो, उसके प्रति प्रेम या आदर से नहीं। भाग्य से उसको सहायक भी बड़े योग्य और सच्चे हितैषी मिलते रहे। जब वे मर गये, तब उसकी योग्यता भी लुप्त हो गई। जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं, उसके शासन-काल में लगभग सभी विभागों में सुधार हुए, परन्तु उनका उद्देश्य वही एक था; अर्थात् प्रजा को दबाये रखना और अपना प्रभुत्व क़ायम रखना। शासन तथा शासक प्रजा का सेवक है, उसे सब कार्य मुख्यतया प्रजा की सुख-समृद्धि के लिये करने चाहिएँ, यह सिद्धान्त अभी मुस्लिम शासकों के मस्तिष्कों से बहुत दूर था। अभी तो "प्रजा शासक के लिये है, शासक प्रजा के लिये नहीं" वाला सिद्धान्त ही प्रचलित था। इसी कारण अलाउद्दीन का राज्य तुरन्त ही छिन्न भिन्न हो गया।

साहित्य और कला—अलाउद्दीन के काल तक मुसलमानों को हिन्दुस्तान में आये हुए सौ वर्ष से ऊपर हो चुके थे। इस अवकाश में सामान्य जनता में मेल-जोल बढ़ने लगा था। बहुत से मुस्लिम दर्वेश, सूफ़ी और फ़क़ीर हिन्दुस्तान में आकर बस गये थे। इनमें चिश्ती सम्प्रदाय के शेख़ निज़ाम-

उद्दीन औलिया, शेख फ़खरउद्दीन, बाबा गंज-शकर, उसका पोता अलाउद्दीन इत्यादि बहुत प्रसिद्ध थे। बहुत से सैयद, जैसे क़ाज़ी सद्रुद्दीन आरिफ़ जो सल्तनत का मुख्य क़ाजी था, बड़े विद्वान् थे। बहुत से बड़े बड़े विद्वान् फारस आदि बाहरी देशों से भी आकर अलाउद्दीन के दरबार में रहते थे। ज़ियाबरनी ने इनके लगभग पचास नाम गिनाये हैं, परन्तु इन सब से प्रसिद्ध अमीर खुसरो था।

कला की उन्नति भी इस एक सदी में काफी हो चुकी थी। वास्तुकला अपनी दूसरी परिधि तक पहुँच गई थी। अलाउद्दीन ने शहर की दीवार के अलावा कुतुब के पास अलाई दरवाज़ा बनवाया जो उस समय की कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। उसने कुतुब मीनार से दूनी ऊँची एक मीनार बनवानी शुरू की, परन्तु उसकी एक मंज़िल भी पूरी न हो सकी। निज़ाम उद्दीन औलिया की क़ब्र के पासवाली मस्जिद भी उसी समय की बनी हुई है जिसे उसके लड़के खिज़्र ख़ाँ ने बनवाया था। मुस्लिम वास्तुकला में मेहराब (वर्त्तुलाकार बनी हुई डाट या Radiating arch) का प्रयोग बलबन के काल से शुरू हुआ था और अलाउद्दीन के काल में गुम्बद के ऊपर कलश रखना आरम्भ हुआ था। उसके ऊपर कलश और अन्य स्थानों पर सजावट के लिये पद्म का प्रयोग भी होने लगा था। कारण यह था कि इन इमारतों के बनानेवाले सब प्राचीन हिन्दू शैली की शिक्षा पाये हुए थे। इस समय का वास्तु अत्यन्त सुन्दर, हलका और अलंकृत है।

तुग़लक़ वंश

कुछ उदार नीति का प्रयोग

ग़यास उद्दीन तुग़लक़—(सितम्बर १३२०–मार्च १३२५) अवनति और उन्नति, पतन और उत्थान के अनिवार्य नियम के अनुसार खिल्जी वंश का शीघ्र ही पतन हुआ। गयास तुग़लक़ के गद्दी पर बैठने के समय वही परिस्थिति थी जो जलाल या फ़ीरोज़ के गद्दीनशीन होने के समय थी। साम्राज्य फिर भँवर में था। जलाल के समान ग़यास ने इसे नष्ट होने से बचाया। दोनों रक्षक वृद्ध थे, परन्तु उनके चरित्रों में ज़मीन आसमान का फ़रक़ था। ग़यास बूढ़ा होने पर भी बड़ा पराक्रमी, कर्त्तव्यनिष्ठ और सच्चा मुसलमान शासक था और साथ ही शूर-वीर तथा युद्ध–कुशल सैनिक भी। जलाल में ये गुण न थे। गयास ने शासन को सुदृढ़ करने और बिलखती हुई प्रजा के घावों पर मरहम

लगाने का भरसक प्रयत्न किया। जलाल को इन कर्तव्यों का ज्ञान ही नहीं था। हाँ, दोनों में एक और समानता है। दोनों को उनके पुत्रों ने बड़ी घृणित नृशंसता से मारकर उनसे गद्दी छीनी थी।

ग़यास उद्दीन ने सबसे पहले तो अलाउद्दीन के परिवार के लिये आराम से रहने का प्रबन्ध किया। फिर उसने तुरन्त जनता को सुखी बनाने के उपाय किये। अलाउद्दीन के समय के सेना तथा शासन सम्बन्धी नियम फिर से जारी किये। इनके अलावा उस काल से किसानों की जो करुणार्द्र अवस्था चली आ रही थी, उसमें सुधार किया। जिन लोगों की जायदादें और माल अलाउद्दीन ने छीन लिये थे, उनको वापस लौटा दिये। शासन की निर्बलता के कारण जो चोरी डकैती शुरू हो गई थी, उसका दमन किया। देहातों की प्रजा की रक्षा के लिये जगह जगह क़िले बनवाये जिससे वे लुटेरों के हमलों के समय इन क़िलों में बन्द होकर अपने को बचा सकें। खेती को समुन्नत करने के लिये उसने विशेष प्रयत्न किया। ५० फी सदी मालगुज़ारी को घटा कर १० फी सदी कर दिया और उसकी वसूली के लिये सरकारी अफ़सर नियत करके ऐसा प्रबन्ध किया जिससे निस्सहाय प्रजा को कोई सता न सके। सब अफ़सरों को यह समझा दिया गया कि मालगुज़ारी बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि हर प्रकार से किसानों की सहायता करके खेती की वृद्धि करें, न कि उनसे बढ़ा बढ़ाकर कर वसूल करें। अकाल अधिक पड़ने के कारण मालगुज़ारी अकसर घटानी बढ़ानी पड़ती थी। इस कारण उसने मापवाली प्रथा के स्थान पर बँटाई की प्रथा फिर से जारी कर दी थी। फलतः बहुत जल्दी देहातों में सुख-सम्पत्ति लौट आई और बहुत सी भूमि, जो बिना जोते-बोये पड़ी थी, फिर से बोई जाने लगी। जागीरदारों आदि को भी इसी नीति के अनुसार कार्य करने की आज्ञा दी गई। ग़यास ने बहुत से बाग़ भी लगवाये।

शासन-प्रबन्ध में उसने योग्य पुरुषों को नियुक्त किया। दण्ड-विधान भी कुछ नरम किया। केवल ग़बन और चोरी को छोड़कर ऋण इत्यादि की वसूली के लिये जो शारीरिक यंत्रणा दी जाती थी, वह बन्द कर दी गई। देश में शान्ति स्थापित करने के लिये उसने अन्य उपाय भी किये। उसने यातायात (Communications) का बहुत सुन्दर प्रबन्ध किया। डाक की व्यवस्था भारत में प्राचीन काल से प्रचलित था। ख़िल्जी शासन के छिन्न भिन्न होने से वह भी नष्टप्रायः हो गई थी। तुग़लक़ शाह ने उसे फिर से सुव्यवस्थित किया। यह विभाग बहुत उत्तम दशा में था। इब्नबतूता ने इसका बहुत विस्तृत वर्णन किया है। डाक दो प्रकार से जाती थी—घोड़ों पर और पैदल

दौड़नेवाले हरकारों के द्वारा, जिनका प्राचीन नाम 'धावन' ही प्रचलित था। इनके द्वारा सरकारी आवश्यक डाक ही जाती थी और एक दिन में २०० मील तक पहुँच जाती थी। घोड़ों पर भारी और शायद सार्वजनिक डाक भी जाती थी। इसके द्वारा सुलतान को साम्राज्य के कोने कोने की ख़बर जल्दी से जल्दी मिल जाती थी। कभी कभी डाक के धावनों के द्वारा फल-फूल तथा गंगा-जल इत्यादि भी हज़ारों मील पहुँचता था। मुहम्मद तुग़लक़ देवगिरि में भी गंगा-जल ही पीता था।

ग़यास तुग़लक़ स्वयं बड़ा कट्टर मुसलमान था और धर्म-पालन में सदा तत्पर रहता था। उसने शराब का बनना-बिकना बिलकुल बन्द कर दिया और यथा-शक्ति मुसलमानों को इस्लाम के सिद्धान्तों पर चलाने का यत्न किया।

हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष उस युग की राजनीतिक परिस्थिति का मुख्य चिह्न था *। उसको स्वयं ही एक हिन्दू के हाथों से मुसलमानी सत्ता को बचाना पड़ा था। दोनों दलों का पारस्परिक अविश्वास अभी तक नहीं मिट सका था। इस कारण उसने आज्ञा दी कि हिन्दुओं के पास केवल इतना धन छोड़ा जाय जिससे वे बिना व्यर्थ कष्ट उठाये हर प्रकार के आवश्यक आराम और सुभीते से रह सकें; परन्तु इतना धन उनके पास न बढ़ने दिया जाय कि उनकी राजनीतिक आकांक्षाओं को उत्तेजित कर दे और उपद्रवों की उत्पत्ति का कारण बने। सर वूल्ज़े हेग का अनुमान है कि इस आज्ञा के कारण बहुत से हिन्दुओं ने अपना धन और रुपये-पैसे गाड़ दिये जिनके आजकल निकलने से इतिहास के अध्ययन में बहुत सहायता मिली है।

चढ़ाइयाँ तथा लड़ाइयाँ—ख़िल्जी वंश के पतन और नये वंश की स्थापना के कारण दूरस्थ सूबे स्वतन्त्र हो गये थे। वारंगल का राजा प्रताप रुद्रदेव इसी प्रकार स्वतन्त्र हो गया था। उसके विरुद्ध गयास ने अपने बड़े लड़के जौना (उलुग़ खाँ) को भेजा। उलुग़ खाँ को स्वयं सुलतान बन जाने की सूझी। परन्तु अमीरों ने उसका साथ न दिया और वह रुद्रदेव को बिना

---

* इस संघर्ष से लेखक का अभिप्राय यह है कि हिन्दुस्तानी सरदार और शासक गण अभी मुसलमानी विजेताओं से सन्तुष्ट नहीं थे। वे बराबर हिन्दू राज्य की पुनः स्थापना का यत्न करते रहते थे। उनकी विफलता के कारण हम बतला चुके हैं। ग्रामीण जनता राजनीतिक वायु-मण्डल से प्रायः उदासीन एवं बाहर थी। तुग़लक जैसे सुयोग्य शासक के राज्य में लोग बहुत सुखी रहते थे। उनका सन्तोष या असन्तोष अच्छे-बुरे शासक के साथ साथ बदलता रहता था।

दबाये वापस लौट आया। पिता ने उसे क्षमा कर दिया और फिर दोबारा भेजा। इस बार वह सफल हुआ। प्रताप रुद्रदेव को देहली का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ा। बंगाल में बलबन के वंशज स्वतन्त्र हो गये थे। इस समय उनमें परस्पर झगड़ा हो गया। तुग़लक़ शाह को अवसर मिल गया। वह स्वयं बंगाल पहुँचा और उसने पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों विभागों को अधिकृत किया। बंगाल जाते समय सुलतान मनायक होता हुआ गया। उसने ज़फ़र खाँ को मनायक का सूबेदार बनाया था। ज़फ़र खाँ उसके साथ बंगाल तक गया। उसने मनायक का नाम बदल कर ज़फ़राबाद * रख दिया।

बंगाल की चढ़ाई से पहले मुग़लों का एक हमला भी हुआ, परन्तु वे फिर पराजित हुए और उनके नेता पकड़ लिये गये।

बंगाल से लौटने पर जौना खाँ ने अपने पिता के स्वागत के लिये बड़ी तैयारियाँ कीं। काठ की एक बारहदरी खास तौर से इस काम के लिये बनवाई। सुलतान और उसके दूसरे लड़के को देहली के अमीरों के साथ दावत दी गई। ज्योंही अन्य सब अमीर खाकर हाथ धोने बाहर आये, त्योंही उस बारहदरी की छत गिर पड़ी। बाप, बेटा दोनों उसके नीचे दब कर मर गये। यह घटना दैवात् ही हुई अथवा इसमें जौना का हाथ था, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। परन्तु पारिस्थितिक प्रमाणों से ऐसा ही जान पड़ता है कि जौना ने ही यह काम कराया होगा †।

ग़यास तुग़लक़ का चरित्र—गयास का चरित्र उसके उन कार्यों से स्पष्ट हो जाता है जिनका हम अभी वर्णन कर आये हैं। दिल्ली के समस्त पठान सुलतानों में वही एक ऐसा आदमी था जिसका चरित्र बहुत कुछ शेर शाह से मिलता है। वह भी शेर शाह की तरह क्रियाशील, कर्त्तव्य-परायण तथा प्रजा-हितकारी था और इन्हीं सब बातों को अपना परम उद्देश्य और आदर्श समझता था। प्रतिभाशाली और उद्दीप्त बुद्धिवाले अकबर सरीखे उन शासकों और नीतिज्ञों की कोटि में उसकी गणना नहीं हो सकती जो शासन के मौलिक सिद्धान्त और नीति में परिवर्त्तन करके एक नये युग और नये वायु-मण्डल की उत्पत्ति कर देते हैं। नैतिक आविष्कार उसके बस के नहीं थे, परन्तु प्रस्तुत शासन-पद्धति का अत्यन्त योग्यता, निर्भीकता और निस्स्वार्थ भाव एवं दृढ़ता के साथ, लोकहित के उद्देश्य से प्रयोग करने में उसका सानी सुलतानों में और

---

* ज़फ़राबाद संयुक्त प्रान्त में जौनपुर से तीन मील दक्षिण-पूर्व में है।

† देखो के० हि० इ०, ३; १३४।

कोई नहीं था। इसी कारण रचनात्मक शासन-प्रबन्ध में उसके बराबर देहली के पठान बादशाहों में और कोई सफल नहीं हुआ। शेर शाह की अपेक्षा उसकी नीति अधिक धार्मिक संकीर्णता से युक्त थी, परन्तु इसमें उस युग का दोष था, ग़यास का नहीं। यदि वह अपनी समकालीन संकीर्णता से ऊपर उठ कर एक नवीन राजनीतिक सिद्धान्त तथा शासन नीति को जन्म दे सकता, तब तो उसकी गिनती सर्वोत्कृष्ट उद्दीप्त-बुद्धि और नये मार्ग के आविष्कर्ताओं में हो जाती। अपने प्रकाण्ड विद्वान् पुत्र मुहम्मद की सी प्रतिभा उसमें नहीं थी, परन्तु एक क्रियाशील और चतुर शासक के रूप में उसका कार्य अत्यन्त सफल और निर्दोष था। यदि उसके उत्तराधिकारी उसी की परिपाटी का अनुसरण करते तो इतनी जल्दी उनको विफलता का मुँह न देखना पड़ता और तुग़लक़ साम्राज्य अधिक स्थायी हुआ होता। यदि तुग़लक शाह कुछ दिन और ज़िन्दा रहता तो शासन को और दृढ़ कर जाता। इसलिये हमारे विचार में एक सफल-प्रयत्न, क्रियाशील शासक की हैसियत से ग़यास उद्दीन तुग़लक का स्थान देहली के पठान सुलतानों में सबसे ऊँचा है।

गयास का व्यक्तिगत जीवन बहुत सादा और बे-बनावटी था। वह धार्मिक कर्त्तव्यों के पालन में पक्का तथा सामाजिक जीवन में बहुत सज्जन था। उसमें अपने रुतबे का घमण्ड बिलकुल नहीं था। वह सबसे बहुत नम्रता से मिलता-जुलता था। शासन की आवश्यकता को छोड़ कर वह हिन्दुओं पर कोई अत्याचार नहीं करता था। वह बहुत कला-प्रेमी भी था, पर उसकी इस संबंध की बातों का वर्णन हम आगे करेंगे। जिस साल उसकी मृत्यु हुई थी, उसी साल निज़ाम उद्दीन औलिया और कवि अमीर ख़ुसरो की भी मृत्यु हुई। अमीर ख़ुसरो उस समय ७२ वर्ष का था। वह शेख़ सादी का मित्र था। दोनों ने एक दूसरे की बड़ी प्रशंसा की है। अमीर ख़ुसरो हिन्दी का बड़ा प्रेमी था और उर्दू तथा हिंदी दोनों भाषाओं को उन्नत करने में उसका बड़ा हाथ है। कहा जाता है कि उसने सब मिलाकर कोई ५ लाख शेर लिखे थे। उसका समकालीन शेख़ नज्मउद्दीन भी बड़ा प्रसिद्ध कवि था। वह 'हसन देहलवी' के नाम से प्रख्यात है।

मुहम्मद बिन तुग़लक़ शाह (१३२५–१३५१)

ससार के इतिहास में मुहम्मद तुग़लक़ एक बहुत विचित्र बादशाह हो गया है जिसके चरित्र का जोड़ कठिनता से मिलेगा। मस्तिष्क के गुणों में भारत के मुसलमान बादशाहों में कोई उसकी बराबरी का नहीं हुआ। उसकी

स्मरण शक्ति, तीक्ष्ण बुद्धि, उत्कृष्ट रुचि तथा विद्या-प्रेम सर्वथा अनुपम थे। श्रेष्ठ कोटि के विद्वानों के सभी गुण एवं व्यसन उसमें विद्यमान थे। गणित, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, चिकित्सा-शास्त्र आदि सभी विद्याओं का वह अद्वितीय विद्वान् था। कोई समकालीन विद्वान् उसकी बराबरी न कर सकता था। वह उच्च कोटि का कवि भी था और लेखक एवं वक्ता भी। सुन्दर लेखन कला में भी वह सिद्धहस्त था। उसका वैयक्तिक जीवन सर्वथा निर्मल और निर्दोष था। नमाज़-रोज़ा आदि धार्मिक विधि-विधानों के पूरा करने में वह अत्यन्त सावधान तथा तत्पर था। परन्तु साथ ही सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में उसका चरित्र ठीक इसका उल्टा था। वह हिन्दुओं के साथ सहन-शीलता का बर्त्ताव करता, और यहाँ तक कि उनकी सती आदि कुप्रथाओं को बन्द करना चाहता था। शासन-नीति में वह न तो कुरान को आज्ञाओं की तनिक भी परवा करता था और न मुल्लाओं के मिज़ाज की। उसका आदर्श बहुत ऊँचा था। वह प्रजा का पालक और रक्षक बनना चाहता था और इसके लिये यत्न भी करता था। हिन्दू-मुसलमानों में वह कुछ भेद-भाव नहीं रखता था। हिन्दुओं को बड़े बड़े पदों पर नियुक्त करता था। सिंध का सूबेदार उसने एक हिन्दू को ही बनाया था। उसका हृदय कभी कभी अत्यन्त कोमल हो जाता था, यहाँ तक कि वह बड़ी दया और उदारता का भण्डार प्रतीत होता था। परन्तु इन सब गुणों के होते हुए भी उसके चरित्र में कतिपय ऐसे गहरे दोष और त्रुटियाँ थीं जिनके कारण वह शासक होने के सर्वथा अयोग्य था। वह निरा आदर्शवादी था। युवा अवस्था में उसका साथ कई स्वतन्त्र विचारवाले विद्वानों (जैसे कि तार्किक साद, कवि उबैयद और तत्त्ववेत्ता अलीमउद्दीन) आदि का रहा था, परन्तु आदर्शवाद के साथ उसका सबसे बुरा अवगुण यह था कि उसमें इतने महान् विद्वानों और विचारकों की सी विरक्ति न थी, प्रत्युत् सांसारिक शक्ति और राज्य करने का पूरा-पूरा मोह था; और साथ ही अपनी योग्यता का इतना घमण्ड था कि वह अपने आगे किसी को कुछ समझता ही न था। उसे अपनी शक्ति का भी बहुत अहंकार था और वह यह चाहता था कि सामान्य जनता भी मेरी विचार-धाराओं के साथ दौड़ लगा सके और मेरे नये से नये कार्यक्रमों और योजनाओं को तुरन्त कार्य-रूप में परिणत कर दे। स्वाभाविक ही था कि प्रजा इतनी जल्दी उसकी आज्ञाओं का महत्त्व न समझ पाती थी, उनका ठीक ठीक पालन करना तो दूर रहा। इस अयोग्यता के प्रति मुहम्मद में सब्र और ताब न था। वह तुरन्त उबल पड़ता था और फिर उसका नृशस रौद्र रूप प्रकट हो जाता था। उसके इस व्यग्र आदर्शवाद के कारण उसमें

अपने पिता जैसी गम्भीरता, दूरदर्शिता, क्रियात्मकता आदि शासकों के आवश्यक गुणों का भी अभाव था। परिणाम यह हुआ कि उसके समस्त अद्वितीय गुणों से लाभ के स्थान पर हानि हुई। अपने उतावलेपन से उसने अपने गुणों को धूल में मिला दिया और उनके साथ ही प्रजा भी पिस गई। उसका शासन काल एक अत्यन्त करुणार्द्र तथा दुःखद कहानी का चित्र है।

परन्तु साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि दैव भी कुछ उसके विरुद्ध ही था। जिस समय में उसने राज्य किया, उस समय में सभी देशों में बड़ी विपत्तियाँ आ रही थीं। एक ऐसी महामारी फैली जिसने यूरोप और एशिया के देशों को तबाह कर डाला। भयानक और बहुकाल-व्यापी दुर्भिक्ष पड़े। कहीं वर्षा बहुत अधिक हुई तो कहीं बिलकुल नहीं। हज़ारों-लाखों आदमी भूखों मर गये, हज़ारों-लाखों बीमारी से। देशों की आर्थिक और व्यावसायिक दशा भी बहुत खराब हो गई। जान पड़ता है कि मानों दैव ने भी जनता की सहन शक्ति की परीक्षा लेने की ठान ली थी।

महम्मद तुग़लक़ के शासन का पहला भाग—(१३२५-४२) मुहम्मद को अपने पिता का भूमिकर सम्बन्धी बन्दोबस्त संतोषप्रद न मालूम हुआ। भूमिकर इतना कम था कि उससे सरकारी आय बहुत कम हो गई थी। अतएव उसने समस्त साम्राज्य की भूमि नपवा कर रजिस्टर तैयार कराये जिनमें आय, व्यय, पैदावार इत्यादि का सविस्तर ब्योरा भरा गया। 'कुश्के-हज़ार-सुतून' में बरसों तक इसी काम के लिये एक बड़ा भारी दफ़तर खुला रहा। सूबों की आय निश्चित करके सूबेदारों को उसका जिम्मेदार बना दिया गया।

इसी समय सन् १३२६ में मध्य भारत में सागर के शासक, सुलतान के फुफेरे भाई गुर्शास्प ने स्वतन्त्र होने का विचार किया। जब दक्षिण के सूबेदार ख्वाज़ा जहान ने उसका पीछा किया, तब वह कम्पिल और द्वारावतीपुर के हिन्दू राजाओं के दरबार में भागता फिरा; परन्तु अन्त को पकड़ा गया और मुहम्मद ने, जो देवगिरि तक स्वयं पहुँच गया था, उसकी जीते-जी खाल खिंचवा कर उसका मांस पकवा कर उसी के बीबी-बच्चों के पास भेजा। फिर कम्पिल के राजा पर, जिसने गुर्शास्प को शरण दी थी, हमला किया। इस वीर ने अपनी स्त्रियों को जौहर की ज्वाला के अर्पण करके बड़ी बहादुरी से युद्ध करते हुए वीरगति पाई। उसके पुत्रों को मुसलमान बनाया गया।

राजधानी का स्थान-परिवर्तन (१३२७)—शायद गुर्शास्प के विद्रोह के कारण ही मुहम्मद को यह सूझा कि दक्षिण के भाग को सुनियन्त्रित रखने के

लिये यह आवश्यक है कि राजधानी के लिए देहली की अपेक्षा कोई अधिक केन्द्रीय स्थान हो। उसने देवगिरि का नाम दौलताबाद रखा और राजधानी वहाँ ले जाने का निश्चय किया। उसके योग्य पिता के सुप्रबन्ध से मुग़लों का भय न रह गया था। उत्तरी सीमा की शंका मिट गई थी। उत्तरी भारत का सुप्रबन्ध तथा शासन-व्यवस्था भी हो चुकी थी। दक्षिण इतना दूर होने से अव्यवस्थित ही था। अतएव आवश्यक था कि राजधानी को दक्षिण ले जाकर साम्राज्य के उस प्रदेश को भी सँभाला जाय। देवगिरि को हर प्रकार से सुसज्जित करने और राजधानी के योग्य नगर बनाने में बादशाह ने कोई कसर न रखी। सरकारी दफ़्तरों के लिये बड़े बड़े भवन तुरन्त बनाये गये। सब दरबारियों तथा सूबेदारों को आज्ञा हुई कि अपने अपने मकान वहाँ बनवावें। बड़े विशाल बाज़ार भी बनवाये गये जिसमें सब आवश्यक वस्तुएँ वहीं प्राप्त हो सकें। व्यापारियों को वहाँ जाकर बसने की आज्ञा हुई। सबसे अधिक उल्लेखनीय कार्य देवगिरि के प्राचीन क़िले की मरम्मत कराने तथा उसे अत्यन्त सुदृढ़ एवं अजेय बनाने का था। यह क़िला एक गगनस्पर्शी चट्टान के ऊपर बना हुआ है। इसके पत्थरों को घिसवा कर उसने इतना चिकना करवा दिया था कि एक लेखक के शब्दों में "उस पर साँप भी रेंग कर नहीं चढ़ सकता था"। उसके अन्दर जाने का कोई रास्ता नहीं था। क़िले के बीच से एक सुरङ्ग उतरती थी और चट्टान की तलहटी तक आती थी। इस सुरंग के मुँह पर लोहे का दरवाजा था। इसी प्रकार के अन्य उपायों से इस क़िले को उसने बिल्कुल अजेय बना दिया।

इस प्रकार शहर को सुरक्षित और सर्वांग-सुन्दर बनाकर उसने दक्षिण का शासन सुव्यवस्थित किया। परन्तु सुलतान के दक्षिण चले जाने से उत्तरी सरकार की अवस्था गिरने लगी। पंजाब प्रान्त तथा सीमा प्रदेश की फिर वही अरक्षित अवस्था हो गई जो अलाउद्दीन के काल में थी। इस समय दो घटनाएँ हुईं जिनके कारण मुहम्मद को तुरन्त उत्तर आना पड़ा—मुलतान के सूबेदार का विद्रोह और तरमाशिरीन मुग़ल का हमला। मुलतान के सूबेदार से अबोहर के पास लड़ाई हुई और मुहम्मद ने धोखे से उसे जीता। सिन्ध और मुलतान को फिर अधिकृत किया और विद्रोही का सिर काटकर मुलतान शहर के दरवाज़े पर लटका दिया।

सन् १३२९ में तरमाशिरीन देहली और फिर बदायूँ तक पहुँच गया। परन्तु थोड़े दिन बाद मुग़ल स्वयं वापस लौट गये। कहा जाता है कि सुलतान ने चुपके से उनको रिश्वत दे दी थी।

देहली से सरकारी दरबार और दफ़्तर चले जाने के कारण शहर की सुख-

सम्पत्ति तथा व्यापार को बहुत हानि पहुँची थी। इससे जनता बादशाह से बहुत रुष्ट थी। लोग बादशाह का मिज़ाज जानते थे, इसलिये उससे साफ़ कहने से डरते थे। परन्तु उन्होंने इस प्रकार अपना रोष प्रकट किया कि उसको बहुत गालियाँ इत्यादि लिखकर गुमनाम चिट्ठियाँ उसके महल में पहुँचा दीं। इस पर मुहम्मद को इतना क्रोध आया कि उसने देहली के बच्चे-बच्चे को देवगिरि जाने की आज्ञा दे दी। हुक्म हुआ कि तीन दिन के अन्दर शहर ख़ाली हो जाय। ग़रज़ सारी जनता को देवगिरि के लिये रवाना होना पड़ा। रास्ते में उनके आराम के लिये प्रबन्ध भी किया गया, परन्तु फिर भी इतने लम्बे सफ़र के कारण बहुत से लोग रास्ते में ही मर गये। देहली को फिर से आबाद करने के लिये उसने आस पास के लोगों को बुलवा लिया कि देहली आकर बसें। परन्तु ऐसी अवस्था में कौन आनेवाला था। शहर बरसों तक वीरान पड़ा रहा और बहुत दिनों तक उसमें पहली सी सुख-सम्पत्ति न आई। यह सब उसने लोगों को दण्ड देने के लिए किया था। इसी समय वह दोआब की जनता से नाराज़ था और वहाँ कर भी बढ़ाना चाहता था। अतएव वहाँ कर बढ़ाने तथा लोगों को सज़ा देने के अभिप्राय से उसने कर तिगुना-चौगुना कर दिया। बेचारे किसान तबाह हो गये और कर न दे सकने के कारण घर छोड़ छोड़कर भागने लगे। इस पर बादशाह ने उनको इतनी कड़ी सज़ाएँ दीं कि देश उजाड़ हो गया।

संकेत मुद्रा (Token Currency) **का प्रयोग** (१३३०)—इस वर्ष उसने संकेत मुद्रा (Token Currency) का प्रयोग किया। इस विषय में विद्वानों में बड़ा विवाद है। कुछ लोग कहते हैं कि दोआब की बरबादी से सरकारी आय कम हो गई थी और वह उसे बढ़ाना चाहता था। परन्तु प्रो० ब्राउन का मत यह है कि बादशाह अन्य एशियाई देशों के इतिहास से भली भाँति परिचित था और चीन, फारस इत्यादि के अपने समकालीन शासकों से मित्रता रखता था। इससे कुछ ही दिन पहले चीन और फिर फ़ारस में कागज़ के नोट चलाये जा चुके थे; और वहाँ उनका इसलिए विरोध हुआ था कि सरकार उनको अपने दबाव से स्वीकृत कराना चाहती थी। दूसरे उस बरस दुनियाँ में चाँदी बहुत कम हो गई थी, क्योंकि युरोप में ज़ेवरों आदि के बनाने में बहुत अधिक व्यय कर दी गई थी। इस कारण बादशाह ने सरकार की आसानी तथा व्यापार की वृद्धि के उद्देश्य से ताँबे की 'संकेत मुद्रा' चलाई। सरकारी इजारा इन पर इसलिये न रखा कि स्वयं लोग इसके लाभ का अनुभव करके इसे ग्रहण कर लें। संकेत मुद्रा कोई तीन साल से अधिक प्रचलित भी रही, परन्तु अन्त को इस

कारण बन्द हुई कि सब लोग अपने घरों में सिक्के बनाने लगे और व्यापारियों ने सोने-चाँदी के सब सिक्के मोल ले लेकर घर में रख लिये। विवश होकर सुलतान ने इसे बन्द कर दिया और बड़ी उदारता से सब को ताँबे के बजाय चाँदी के सिक्के बाँट दिये। इससे यह सिद्ध होता है कि उसके कोष में रुपये की कमी न थी। इसमें सन्देह नहीं कि मुहम्मद को नये नये प्रयोग करने का शौक़ था; परन्तु उसके समकालीन उसके विचारों से अत्यन्त पीछे थे। यह भी उसका एक प्रयोग ही था। परिस्थिति ने यहाँ भी उसका साथ न दिया। मुद्राशास्त्र के प्रकाण्ड पंडित टामस एडवर्ड्स ने मुहम्मद को 'मुद्रा-तत्वज्ञों का राजा' (Prince of Moneyers) कहा है। वह वास्तव में इस प्रशंसा का पात्र था। उसने मुद्रा-विभाग में बड़े उत्तम संशोधन किये। सब मुख्य मुख्य स्थानों पर टकसालें खुलवाईं; और सिक्कों में पहले जो मिलावट होती थी, उसे बन्द करके टकसालों में सिक्के बनने की बड़ी अच्छी व्यवस्था की। सिक्कों की बनावट में अत्यन्त उन्नति की तथा उन्हें सुन्दर बनाया। ये सब संशोधन इतने काफ़ी हैं जिनके कारण उसे "मुद्रातत्त्वज्ञों का राजा" कहना न्याय-संगत ही जान पड़ता है।

इब्नबतूता का आगमन (१३३३)—दोआब में कर बढ़ाने और उसके परिणाम का वर्णन हम अभी कर चुके हैं। सुलतान किसानों को दण्ड देने के लिये क़न्नौज तक पहुँच गया था। इस समय इब्नबतूता नामक एक अफ्रीकन यात्री सिंध, मुलतान और पंजाब होता हुआ देहली पहुँचा। वहाँ नज़ीर ख़्वाजा जहान ने उसका बहुत आदरपूर्वक स्वागत किया। जब सुलतान कन्नौज से लौटा, तब उसने इब्नबतूता की बहुत ख़ातिर की और उसे कई गाँव तथा बहुत सा धन दिया। बाहर के यात्रियों के साथ मुहम्मद सदा अपूर्व उदारता का व्यवहार करता था और उनको ज़रूरत से ज्यादा धन देता था। इब्नबतूता सुलतान के दरबार में कई वर्ष रहा; और उसने जो कुछ देखा-सुना, उसका हाल अपनी पुस्तक में लिखा है। मुहम्मद उसके ऊपर इतना मेहरबान था कि उसे उसने देहली का क़ाज़ी बना दिया। वह हिन्दुस्तान की भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण काम करने के योग्य न था, इसलिये उसे दो सहायक क़ाज़ी भी दिये गये। काम वे लोग करते थे, परन्तु तनख़ाह बतूता को भी मिलती रहती थी।

मदुरा का विद्रोह (१३३५)—देहली लौटने के कुछ ही दिन बाद उसे सूचना मिली की मदुरा के शासक जलालउद्दीन अहसन कैथली ने स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और अपने सिक्के भी बना डाले हैं। सुलतान तुरन्त उसे दमन करने चला, परन्तु देवगिरि के आगे पहुँचने पर उसकी सेना में मरी फैल गई।

सैकड़ों सिपाही मर गये। वह स्वयं बहुत दिन तक सख्त बीमार रहा। अतः उसे बीच ही से लौटना पड़ा और तब से मदुरा (माबर प्रान्त) के स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य का प्रारम्भ हुआ। इस राज्य में बहुत जल्दी शासकों के परिवर्तन हुए। उनमें से दमगान शाह ने द्वारावतीपुर के वीर वल्लाल तृतीय को, जो ८० वर्ष का बूढ़ा था, पराजित करके क़त्ल किया और उसकी खाल खिंचवाई। हिन्दू स्त्री-बच्चों आदि को अत्यन्त निर्दयता से मार डाला। सन् १३७० के लगभग विजयनगर के उठते हुए साम्राज्य के सामने यह मदुरा का राज्य न ठहर सका। विजयनगर के दक्षिणी प्रदेश के सेनापति ने उसका अन्त कर दिया। मुहम्मद थोड़े दिनों तक देवगिरि ठहरा और अब आठ बरस बाद उसने देहलीवालों को आज्ञा दी कि जो चाहे, वह देहली वापस जा सकता है। बहुत से लोग बड़ी खुशी से तुरन्त लौट आये।

दुर्भिक्ष और मुहम्मद की सहायता (१३३५–४२)—सुलतान को अभी तक कोई सन्तोषजनक सफलता नहीं हुई थी। किन्तु सन् १३३५ के बाद दैव के प्रकोप से उसकी रही-सही दशा भी बिगड़ती गई और अन्त को उस के सँभाले न सँभली। उसी समय से साम्राज्य के पतन और विच्छेद का आरम्भ हो गया।

सुलतान अभी दौलताबाद से लौटा भी न था कि उत्तरी भारत में बड़ा भारी अकाल पड़ा। सात बरस तक बराबर वर्षा न हुई। मनुष्य एक दूसरे को मार कर खाने लगे। ऐसी अवस्था देखकर सुलतान ने प्रजा के दुःख निवारण करने का भरसक यत्न किया। छः महीने तक देहली के लोगों को बराबर बना-बनाया खाना बाँटा, गाँववालों को खेती करने के लिये धन से सहायता दी। जगह जगह कूएँ बनवाये। जिन लोगों को खेती की उन्नति करने के लिये तकावी दी गई, उनमें से बहुतों ने वह अपने निजी काम में खर्च कर डाली। इस पर सुलतान ने उनको बड़ी निर्दयता से सजाएँ दीं।

सरगद्वारी (स्वर्गद्वारी) की रचना (१३३६)—जब देहली में अन्न आदि खतम होने लगा और बाहर से लाने में बड़ी कठिनाई जान पड़ी, तब मुहम्मद ने एक और नई योजना की जिससे उसकी विचक्षण बुद्धि का परिचय मिलता है। उसने देहली से कोई १६५ मील दूर गंगा के किनारे क़नौज के ऊपर एक नया नगर बसाया और उसका नाम 'सरगद्वारी' रखा, और देहली के लोगों को एक बार फिर आज्ञा दी कि वहाँ जाकर बसें। इस बार वे उसकी दया के पात्र थे, क्योंकि अवध में अकाल नहीं था और वहाँ का सूबेदार ऐनुल्मुल्क बहुत योग्य था। उसके बाद छः वर्ष तक सुलतान सरगद्वारी में ही रहा और

देहलीवालों को ऐनुलमुल्क और उसके भाई बराबर खाने-पीने की सामग्री भेजते रहे। देहली के लोगों के बुरे दिन इस प्रकार आराम से कट गये।

अन्य देश विजय करने की योजनाएँ (१३३७-३८)—इस दुर्भिक्ष और आपत्ति के काल में भी सुलतान बड़ी बड़ी योजनाएँ तैयार किये बिना नहीं रह सकता था। इन दिनों उसके दरबार में कुछ खुरासानी ठहरे हुए थे। खुरासान के राज्य की दशा बहुत शोचनीय हो रही थी। उस देश के शासक अबू सईद ने अपने योग्य वज़ीर अमीर चौवाँ को मरवा डाला था, क्योंकि उसने अपनी लड़की, जिसे अबू सईद बहुत चाहता था, उसे ब्याहने से इनकार कर दिया था। तबसे राज्य का हाल बे-हाल था। यह देख कर मध्य एशिया का चग़ताई सरदार तरमाशिरीन और मिस्र का बादशाह दोनों खुरासान पर चढ़ाई करने की चेष्टा कर रहे थे। मुहम्मद तुग़लक़ ने अपने मित्र मिस्र के शासक को सहायता देने और स्वयं फारस का कुछ भाग हरण करने के अभिप्राय से एक बड़ी भारी सेना तैयार की और चढ़ाई करने की प्रतीक्षा में एक वर्ष तक उसका पूरा व्यय सरकारी कोष से होता रहा। अन्त को यह काम पूरा न हो सका, क्योंकि मिस्र के शासक से तो अबू सईद ने सुलह कर ली और तरमाशिरीन की सेना को, जो एक वर्ष तक मर्व के पड़ाव पर दूसरे साथियों की प्रतीक्षा में पड़ी रही, चीन के राजा के विरोध के कारण हटना पड़ा, क्योंकि वह नहीं चाहता था कि उसका पड़ोसी तरमाशिरीन इस प्रकार अपनी शक्ति बढ़ा ले। इस योजना में कोई निरी मूर्खता नहीं थी। सारा भारत इस समय देहली के राज्य में था। फिर उस समय मौक़ा भी अच्छा था। परन्तु देश में अकाल इत्यादि विपत्तियों के कारण यहाँ की दशा अच्छी न थी; इससे अवश्य जनता को कष्ट हुआ होगा।

दूसरी चढ़ाई सुलतान ने क़राजल पहाड़ के राजा पर की, क्योंकि उसने सलतनत की भूमि पर क़बज़ा कर लिया था। फ़रिश्ता का यह कहना निराधार है कि यह सेना चीन फ़तह करने के लिये भेजी गई थी। पहाड़ी प्रदेश के रास्तों से अनभिज्ञ होने के कारण सेना को अत्यन्त कष्ट हुआ और बहुत से सिपाही मर गये, परन्तु राजा को सुलतान से सुलह करनी पड़ी।

साम्राज्य के क्षय तथा विच्छेद का आरम्भ—इधर सुलतान अपनी लम्बी योजनाओं के स्वप्न देख रहा था और उधर उसके जर्जर साम्राज्य का ढाँचा टूटता जा रहा था। सन् १३३५ में माबर (मदुरा) के स्वतन्त्र होने का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इसी बीच में विजयनगर का राज्य भी क़ायम हो चुका था जिसका वर्णन आगे किया जायगा। सन् १३३८ में लखनौती (बंगाल) में फ़खरुद्दीन नामक एक सरदार वहाँ के सूबेदार को मार कर स्वयं सूबेदार

बन गया और उसने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। सुलतान इतने झगड़ों में फँसा था कि विद्रोही को दमन करना उसके बस का न था। तबसे बंगाल स्वतन्त्र हो गया।

ऐनउलमुल्क का विद्रोह (१३४०)—सबसे बड़ा विद्रोह इस समय ऐनुल्मुल्क का हुआ। वह बड़ी योग्यता के साथ अवध का शासन कर रहा था। उसका सुप्रबन्ध देख कर बहुत से लोग देहली और दोआब से अवध में जा बसे थे। मुहम्मद को उसकी बढ़ती हुई शक्ति और लोकप्रियता से आशंका होने लगी। उसने तुरन्त आज्ञा दे दी कि वह अवध छोड़ कर दक्षिण चला जाय। ऐनुल्मुल्क को इस अचानक आज्ञा से कुछ संशय हुआ और उसने विद्रोह कर दिया। सुलतान ने बड़ी कठिनाई से इस विद्रोह को दमन किया। उसके सहायकों को बड़े कड़े दण्ड दिये, परन्तु ऐनुल्मुल्क को, उसकी पहली सेवाओं के कारण, क्षमा करके शाही बाग़ों का अफ़सर बना दिया।

अकाल-पीड़ित जनता की रक्षा का प्रबन्ध (१३४२)—इधर तो साम्राज्य के कोने कोने में बराबर विद्रोह हो रहे थे (मुलतान, सिंध इत्यादि में फिर इसी समय बलवे हुए थे), उधर सुलतात सरगद्वारी से लौटने के समय से ही अकाल-पीड़ितों की रक्षा के लिये यथा-साध्य प्रबन्ध कर रहा था। खेती की उन्नति करने के लिये उसने एक नया विभाग स्थापित किया और इसके संचालन के लिये विस्तृत नियम (उस्लूब) बनाये। यह विभाग एक मन्त्री के अधिकार में रखा गया। समस्त भूमि बराबर हिस्सों में बाँट कर ठेकेदारों को दे दी गई कि उसमें खेती करावें और आबादी बढ़ावें। परन्तु उस हतभाग्य बादशाह की यह योजना भी कुछ संतोषजनक सफलता न प्राप्त कर सकी।

दक्षिण के विद्रोह (१३४४)—इस समय दक्षिण में स्वयं मुहम्मद की अदूरदर्शिता तथा नृशंसता के कारण इतना प्रबल विप्लव हुआ कि उसमें सुलतान और सलतनत दोनों ग़र्क हो गये। दक्षिण की मालगुज़ारी ९० फी सदी घट गई थी। सुलतान ने इसके लिए सूबेदारों को सर्वथा दोषी समझा। दक्षिण को चार सूबों (शिकों) में फिर से बाँटा और प्रत्येक शिक़ पर एक नया अधिकारी नियुक्त किया। देवगिरि से उसने वहाँ के सुयोग्य सूबेदार कतलू खाँ को हटा कर उसके अयोग्य भाई को भेजा। इससे जनता में अत्यन्त असन्तोष फैला। मालवे को भी दक्षिण का एक शिक़ बना दिया गया था। वहाँ पर उसके नये सूबेदार ने सैकड़ों 'सादा अमीरों'* को एक दम क़त्ल

---

* सादा अमीर या यूज़बाशी वे अमीर कहलाते थे जो १०० गाँवों की मालगुज़ारी वसूल करने के जिम्मेदार होते थे।

करवा डाला। सुलतान को तो उन पर क्रोध आ ही रहा था। उसने सूबेदार के इस बेहूदे काम का खुल्लम-खुल्ला अनुमोदन किया। इस नीति से गुजरात और दक्षिण के अमीर भी भयभीत हो गये। गुजरात के अमीरों ने तुरन्त बलवा कर दिया। इसकी सूचना पाते ही मुहम्मद ने देहली में ख़्वाज़ा जहान, फीरोज़ और मलिक कबीर की एक राज-प्रतिनिधि समिति बनाकर शासन उसके सपुर्द किया और स्वयं गुजरात को रवाना हुआ। इसके बाद वह फिर देहली वापस न लौटा। भड़ौच (भृगुकच्छ) पहुँच कर उसने देवगिरि के शासक को आज्ञा भेजी कि दक्षिण के सादा अमीरों को तुरन्त मेरे पास भेज दो। वे लोग आज्ञानुसार रवाना हो गये, परन्तु मार्ग में उन्हें सुलतान के बुरे संकल्प की आशंका हो गई और उन्होंने वहीं बलवा करके स्वतन्त्रता का झण्डा खड़ा कर दिया। तुरन्त ही उन्होंने एक बूढ़े अफ़गान इस्माइल मख को अपना नेता बनाया और दौलताबाद पर अधिकार कर लिया। सुलतान उस तरफ़ चढ़ा तो वे शहर छोड़ कर हट गये, परन्तु उसी समय तर्गी ने गुजरात और सिंध में बलवा कर दिया। मुहम्मद उधर गया तो दक्षिणी सरदारों ने लौट कर दौलताबाद के सूबेदार को निकाल बाहर किया और अपने में से एक बड़े योग्य सैनिक हसन को अपना शासक बनाकर स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। १३ अगस्त सन् १३४७ को हसन अलाउद्दीन अबू मुज़फ़्फ़र बहमान शाह के नाम से दौलताबाद की गद्दी पर बैठा। इस प्रकार बहमनी वंश और स्वतन्त्र बहमनी राज्य का आरम्भ हुआ। सुलतान लगभग चार बरस तक गुजरात और सिंध के बलवों को दमन करने की कोशिश करता-करता ही २० मार्च १३५१ को ठट्टा के पास बीमार हो कर मर गया।

सिंहावलोकन—सुलतान मुहम्मद तुग़लक़ का चरित्र हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं। उसके शासन की घटनाओं से यही सिद्ध होता है कि वह बहुत उच्च विचार तथा विचक्षण बुद्धि का व्यक्ति था और साम्राज्य को हर प्रकार से आदर्श बनाने का यत्न करता था, परन्तु उसे न तो अवसर की पहचान थी और न मानव चरित्र की। उसकी उत्कृष्ट बुद्धि और विद्वत्ता ही प्रायः उसके दुर्भाग्य का कारण बन जाती थी। अलाउद्दीन ख़िलजी में यह ख़ूबी थी कि वह अपने सलाहकारों की सलाह से ही सब काम करता था। ग़यास तुग़लक़ स्वयं बड़ा समझदार और परिस्थिति के अनुकूल काम करनेवाला था। पर मुहम्मद में इन दोनों बातों का अभाव था।

मुहम्मद के चरित्र में एक स्मरणीय बात यह थी कि सरकारी मामलों तथा शासन सम्बन्धी कामों में वह धर्माधिकारियों को हस्तक्षेप न करने देता था। दूसरे वह उन्हें कोई विशेष स्वत्व न देता था। यदि बड़े से बड़े क़ाज़ी

और मुल्ला भी कोई अपराध करते थे तो वे भी साधारण मनुष्यों की तरह सज़ा पाते थे। न्याय-विभाग में क़ाज़ियों और मुफ़्तियों को उसने सर्वेसर्वा नहीं रहने दिया। बड़े बड़े अमीरों को दण्ड देने और पकड़ कर उन पर अभियोग चलाने के लिये उसने एक पृथक् अधिकारी 'मीरदाद' नियुक्त किया था, क्योंकि हेनरी सप्तम्, (ट्यूडर बादशाह) के अमीरों की तरह यहाँ के अमीर भी क़ाज़ियों को डरा धमका लेते थे और न्याय नहीं होने देते थे। मीरदाद का यही काम था कि ऐसे बड़े बड़े अमीरों की ख़बर ले। अपने साम्राज्य के अन्दर वह हिन्दुओं को नहीं सताता था और उनकी सती आदि कुप्रथाओं को भी बन्द करने के उपाय सोचता था। रणथम्भोर और चित्तौड़ के राजपूत राज्यों को उसने अजेय समझ कर न छेड़ा। इस नीति से धर्माधिकारी लोग बहुत असन्तुष्ट थे। तत्कालीन इतिहास-लेखक ज़ियाउद्दीन बरनी ने भी इसी कारण उसकी बहुत निन्दा की है। सुलतान की न्यायप्रियता इस हद तक पहुँच गई थी कि कहा जाता है कि कई बार किसी साधारण आदमी के शिकायत करने पर भी वह स्वयं कचहरी में पगड़ी उतार कर गया और क़ाज़ी के फ़ैसले पर उसे जो सज़ा मिली, उसे उसने बड़ी प्रसन्नता से सहन किया*।

इसलिये यद्यपि ऊपरी दृष्टि से मुहम्मद के शासन का चित्र बड़ा भयानक और अँधेरा जान पड़ता हो, परन्तु उसमें उसकी प्रतिभा और गुण छिपे थे। ये गुण थे—उसकी अद्भुत उदार नीति, शासन में धर्माधिकारियों के अनुचित प्रभाव का मर्दन, और मुद्रा-विभाग के संशोधन। यदि उसके उत्तराधिकारी उसकी पहली धरोहर (उदार नीति) की रक्षा करते तो अवश्य साम्राज्य का रूप शीघ्र ही राष्ट्रीय हो जाता।

सुलतान फ़ीरोज़ तुग़लक (१३५१-१३८८)
साम्राज्य का ह्रास और विच्छेद

राजनीतिक स्थिति—फ़ीरोज़ तुगलक़ अगस्त सन् १३५१ में गद्दी पर बैठा। वह ग़यासउद्दीन तुग़लक़ के छोटे भाई रजब का लड़का था। उसकी माता अबोहर के भाटी राजपूत सरदार रणमल की लड़की थी जिसके पिता को रजब और गयास ने उसका राज्य तबाह कर डालने की धमकी दी थी। तब उसने

---

* लेखकों ने सुलतान के बारे में कई ऐसी घटनाओं का ज़िक्र तो किया है, पर हमारी समझ में यह नहीं आता कि ऐसे अस्थिर चित्तवाले और भयानक बादशाह के विरुद्ध अभियोग चलाने का साहस ही किसी को कैसे हो जाता था।

कहा कि प्रजा और राज्य की रक्षा के लिये मैं प्रसन्नता से मुसलमान के साथ शादी करके आत्म-समर्पण करने को तैयार हूँ। एक ऐसी राजपूत माता का पुत्र होते हुए भी फ़ीरोज़ बहुत संकीर्ण-हृदय तथा धर्मान्ध मुसलमान था। उसमें न तो मुहम्मद जैसी बुद्धि थी और न विद्वत्ता। वह एक अत्यन्त साधारण कोटि का शासक था। दूरदर्शिता का भी उसमें नितान्त अभाव था। उसके सिंहासनारूढ़ होने के समय देश की जो स्थिति थी, वह मुहम्मद के राज्य के वर्णन से भली भाँति विदित हो गई है। साम्राज्य का विस्तार आधे से भी कम रह गया था। सारा दक्षिण, गुजरात, सिंध तथा बंगाल आदि स्वतन्त्र हो गये थे। पूरा उत्तरी भारत भी साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं था। जो कुछ था, उसका शासन भी अस्त-व्यस्त हो चुका था। मुहम्मद की अनीतियों और दैव के प्रकोप दोनों ने मानों जनता के विरुद्ध एका कर लिया था। मुहम्मद के प्रजापालन के कार्य तो कभी सफल न हुए; हाँ, उसके क्रोध की ज्वाला से भस्मसात् हुई जनता रह गई। देहली के आस-पास का बहुत सा देश उजड़ गया था। एक काम अवश्य अनुकरणीय तथा अत्यन्त श्रेयस्कर हुआ था। मुहम्मद ने शासन में एक उदार तथा धर्मान्धता से मुक्त नीति का प्रवेश कर दिया था। ऐसी दशा में एक योग्य शासक के सामने ये काम थे कि वह (१) जनता के दुःखों का निवारण करके उनको फिर से सुःख-शान्ति प्रदान करे; (२) शासन को सुसंघटित करे और मुहम्मद की एक मात्र अद्भुत कृति, (शासन में उदार नीति) को नष्ट न होने दे, प्रत्युत् उसे पूर्ण रूप से परिपक्व करके एक राष्ट्रीय शासन का सूत्रपात करे; एवं उसके अन्य लाभकारी संशोधनों को भी नष्ट न होने दे। और (३) साम्राज्य के खोए हुए भागों को फिर से जीते। ये सारे कार्य अत्यन्त कठिन एवं कष्टसाध्य थे और फीरोज़ तुग़लक जैसे साधारण कोटि के शासक की शक्ति से सर्वथा बाहर थे।

शासन-व्यवस्था को ठीक करना—शासन-व्यवस्था को ठीक करके सुख-शान्ति की स्थापना का काम पहले-पहल फ़ीरोज़ ने बहुत योग्यता एवं तत्परता से किया। उसको सब कामों में सहायता देने के लिये एक बहुत योग्य आदमी, मलिक मक़बूल, मिल गया जिसे उसने अपना वज़ीर बनाया। यह एक तैलंग ब्राह्मण था और सारे साम्राज्य में योग्यता तथा स्वामि-भक्ति में अपना सानी न रखता था।

लोगों पर जो सरकारी ऋण थे, फीरोज़ ने सबसे पहले वे सब माफ़ कर दिये। पीड़ित जनता को सन्तुष्ट करने और अपने भाई मुहम्मद के पापों को क्षमा कराने के लिये फ़ीरोज़ ने उन सब लोगों को, जिनके सम्बन्धी निरपराध

मारे गये थे या जिनको किसी अन्य प्रकार से ऐसा ही कष्ट पहुँचा था, उनको हरजाना देकर उनसे इस बात के हस्ताक्षर ले लिये कि वे सन्तुष्ट हो गये। ये सब काग़ज़ात एक सन्दूक में बन्द करके उसने मुहम्मद की कब्र में रखवा दिये जिससे वह ईश्वर के दण्ड से बच जाय। फिर उसने एक योग्य अमीर ख़्वाजा हिसाम उद्दीन जुनैद को भूमि-कर की जाँच-पड़ताल करने के लिये नियुक्त किया। उसने सारे राज्य का भ्रमण करके छः बरस में पूरी रिपोर्ट तैयार करके पेश की। फ़ीरोज़ ने मालगुज़ारी की शरह इतनी हलकी कर दी कि किसान लोग आसानी से अपना काम करते रहें। सूबेदारों से जो सालाना भेंट ली जाती थी, उसे भी फ़ीरोज़ ने बन्द कर दिया (यद्यपि पीछे से उसी के राज्य में यह प्रथा फिर शुरू हो गई), क्योंकि इसका भार भी अन्त को किसानों पर ही पड़ता था। बरनी ने उसकी प्रशंसा करने में बहुत अत्युक्ति से काम लिया है, तथापि यह सत्य ही जान पड़ता है कि शीघ्र ही गाँवों की दशा बहुत सुधर गई। सारा देश हरे-भरे खेतों से लहलहाने लगा। देहली के आस-पास फलों के १२०० बाग़ थे जिनसे सरकार को १८०००० तंका की सालाना आमदनी होती थी। इसी प्रकार खेती-बारी अच्छी होने से तथा अन्य उपायों से आय बढ़ी और लगभग ७ करोड़ तंका के हो गई। सन् १३७५ में फ़ीरोज़ ने कोई २५ प्रकार के कर एक दम मन्सूख़ कर दिये। इससे सरकार को आय की तो काफ़ी हानि हुई, परन्तु चीज़ें बहुत सस्ती हो गईं। ८ जितल की एक मन दाल और ४ जितल का एक मन जौ बिकता था। उसके इन करों को हटा देने का कारण यह भी था कि वह शरीयत में प्रतिपादित चार करों * के सिवा और कोई कर न लेना चाहता था।

इन उपायों के अतिरिक्त खेती के लिये फ़ीरोज़ ने पाँच नहरें बनवाईं जिनके चिह्न अब तक विद्यमान हैं। इनमें से एक नहर १५० मील लम्बी थी जो उसके नये शहर हिसार फ़ीरोज़ा को पानी पहुँचाने के लिये जमना में से काटी गई थी। उसने खेती-बारी और मुसाफ़िरों के आराम के लिये १५० कूएँ भी खुदवाये थे।

वास्तु—फीरोज़ को इमारतें बनवाने का बड़ा शौक़ था। उसने फ़ीरोज़ाबाद या नई दिल्ली, फ़ीरोजपुर, फ़तेहाबाद, हिसार † इत्यादि नगर बसाये थे। बहुत से मदरसे, ३० महलात, चार मस्जिदें, २०० सराएँ, पाँच तालाब, पाँच

* चार कर ये हैं—ख़िराज, ज़कात, जजिया और ख़म्स।

† हिसार का नाम पहले अग्रोहा था। उस स्थान पर फीरोज ने नया शहर बनाकर शायद नया नाम रखा। जौनपुर भी एक प्राचीन नगर के स्थान पर बनाया गया। हिन्दू परम्परा के अनुसार इसका नाम जमदग्नि ऋषि के नाम पर जमनपुर था।

शफ़ाख़ाने, सैंकड़ों कबरें, हम्माम, मीनारें और पुल आदि बनवाये। आश्चर्य की बात है कि फ़ीरोज़-कृत वास्तु में सड़कों का कहीं ज़िक्र नहीं है।

शासन को सुदृढ़ करने तथा साम्राज्य के खोये हुए प्रान्तों को फिर से विजय करने में फीरोज़ को इतनी सफलता न हुई। सौभाग्य से उसके शासन काल में मुग़लों का कोई हमला न हुआ और वह एक बड़ी भारी समस्या से बच गया। दक्षिण के सूबों को तो उसने छेड़ने का विचार ही न किया। हाँ, बंगाल पर सब से पहले चढ़ाई की। सन् १३५३–५४ में बंगाल के सूबेदार शम्सुद्दीन (हाजी इलियास शाह) पर चढ़ाई की। वह इकदला के क़िले में बन्द हो गया। जब फ़ीरोज़ अपनी सेना को थोड़ी दूर हटा ले गया, तब शम्सुद्दीन निकल आया। दोनों दलों में युद्ध हुआ और शम्सुद्दीन फिर भाग कर क़िले में घुस गया। फ़ीरोज़ ने घेरा डाला, परन्तु औरतों और बच्चों के रोने-पीटने की आवाज़ सुन कर उसे दया आ गई और उसने शम्सुद्दीन से सुलह कर ली। देहली लौट कर सन् १३५६ में उसने अपनी नई देहली (फ़ीरोज़ाबाद) और फिर हिसार फीरोज़ा बसाया। सन् १३५९ में फ़ीरोज़ ने बंगाल पर फिर चढ़ाई कर दी। कारण यह था कि इलियास के लड़के सिकन्दर शाह ने पूर्वी बंगाल पर भी अधिकार कर लिया था। उसका दावेदार पहले शासक का एक दामाद, ज़फ़र खाँ था जिसने भाग कर फ़ीरोज़ से फ़रियाद की थी। फीरोज़ ने चढाई की और रास्ते में ज़फ़राबाद के पास एक पुराने शहर के स्थान पर नया शहर बसाया जिसका नाम जौनपुर पड़ा। शायद उसने उसका नाम बदल कर जमनपुर का जौनपुर कर दिया हो। बंगाल पहुँच कर फीरोज़ ने सिकन्दर शाह से फिर सुलह कर ली और ज़फ़र खाँ को देहली में एक वज़ीर का पद दे दिया।

बंगाल से लौटते समय सुलतान ने जाजनगर (उड़ीसा) के राय पर हमला किया और उससे बहुत से हाथी इत्यादि सालाना खिराज भेजने का वादा कराया। साथ ही उसने जगन्नाथ का मन्दिर तोड़ा और मूर्त्तियों को समुद्र में फेंकवा दिया। इस अवकाश में बहुत काल तक उसका कुछ पता न रहा। दरबार में उसकी कोई सूचना न आई। परन्तु योग्य मन्त्री मक़बूल ने शान्ति क़ायम रखी और शासन कार्य में कोई गड़बड़ न होने दी।

सन् १३६०–६१ में उसने नगरकोट पर चढ़ाई की। इस चढ़ाई का मुख्य उद्देश्य ज्वालामुखी देवी के मन्दिर का विनाश करना था, परन्तु छः महीने के घेरे के बाद दोनों दल थक गये। राय ने क्षमा माँग ली और फ़ीरोज़ उसे माफ करके लौट आया।

सन् १३७१–७२ में सुलतान ने ठट्ठा पर चढ़ाई की। इसके लिये उसने

बड़ी भारी तैयारी की। ९०००० घुड़सवार, बहुत से पैदल और ४८० हाथी लेकर वह देहली से रवाना हुआ। ५००० नावों का एक बेड़ा भी भेजा गया। सिंध के सरदार ने भी बड़ी तैयारी की, परन्तु अन्त को उसे युद्ध में पीछे हटना पड़ा। सुलतान की फ़ौज को अकाल, मरी, पानी की कमी आदि से बहुत कष्ट हुआ था और बहुत से लोग मर गये थे; इसलिये फीरोज़ भी गुजरात में आकर फिर से तैयारी करना चाहता था। परन्तु एक विश्वासघातक पथप्रदर्शक ने सारी सेना को कच्छ की दलदल में फँसा दिया। सारी सेना महीने भर तक रास्ता न पा सकी। इस बार फिर देहली तक कोई खबर न पहुँची और स्वामीभक्त मक़बूल ने फिर अपनी चतुराई से शासन को सँभाल रखा। बड़ी कठिनता से सेना गुजरात पहुँची। वहाँ पहुँच कर सुलतान ने सेना को सुसंघटित किया। सब को घोड़े आदि आवश्यक सामग्री दिलवाई। तैयारी करने के बाद सिंध पर फिर हमला किया, और लड़ाई कई महीने चली। सुलतान ने इमाद उल्मुक को भेज कर देहली से कुमक मँगवाई। अन्त को जाम ने हार मानी। उसे सुलतान देहली ले आया और पेन्शन दे दी।

फीरोज का शासन कार्य—हम देख चुके हैं कि फ़ीरोज़ ने सार्वजनिक हित के काम शुरू ही से बड़ी तत्परता से किये और प्रजा को सुखी बनाया। परन्तु वह पक्का मुसलमान और उदार राष्ट्रीय नीति के सिद्धान्तों से बिलकुल अनभिज्ञ था। इसलिये उसने शासन के सिद्धान्तों को फिर संकुचित करके उसमें धर्मान्धता को प्रधानता दे दी। उसने ब्राह्मणों पर भी जज़िया लगाया और एक ब्राह्मण को सिर्फ़ इस अपराध पर जीता जलवा दिया कि वह खुले आम पूजा-पाठ करता था। वह सब काम धर्म के ठेकेदारों से पूछ कर करता था। चार शरई करों के अतिरिक्त नहरों पर भी उसने तब तक कोई कर नहीं लिया, जब तक उनकी स्वीकृति नहीं ले ली।

उसने सारे राज्य को जागीरों में बाँट दिया। प्रत्येक सूबा एक जागीर के रूप में हो गया। फिर वह छोटी छोटी जागीरों में विभक्त किया गया। इस प्रथा को फिर से प्रचलित करके फीरोज़ ने साम्राज्य की शक्ति को बड़ा धक्का पहुँचाया। सेना में भी उसने इसी प्रकार बहुत अदूरदर्शिता से काम लिया। स्थायी सेना को फिर से जागीरें दी गईं और अस्थायी सेना को कोष से तनख्वाहें मिलती रहीं। किसी बूढ़े आदमी को निकाला नहीं जाता था। बूढ़े अफ़सरों को पेन्शन मिलती रहती थी, और उनके पुत्र, चाहे योग्य हों या नहीं, उनके पद पर नियुक्त कर दिये जाते थे। इस नीति में उदारता और कृपालुता तो अवश्य थी, परन्तु सैनिक शक्ति इससे नष्ट हो गई।

न्याय-विभाग में फिर उसने क़ाज़ियों और मुफ़तियों को सर्वोच्च स्थान दिया। मुफ़ती कानून की तशरीह (व्याख्या) करता था और क़ाज़ी फैसला सुनाता था। फ़ौजदारी अपराधों के लिये बड़े कठोर दण्ड थे, परन्तु फीरोज़ ने यातनाओं की प्रथा हटा दी।

उसने ग़रीबों की सहायता के लिये भी एक विभाग खोला था। शहरों के कोतवालों को आज्ञा हुई कि सब दरिद्रों की सूची बनावें। ऐसे सब लोगों को योग्यतानुसार या तो राज-प्रासाद में या कारखानों में नौकरियाँ दिलाईं। जिन्हों ने किसी अमीर का गुलाम बनना पसन्द किया, उनको वहाँ भेज दिया। ग़रीब मुसलमानों को उनकी लड़कियों की शादी करने में सहायता देने के लिये एक 'दीवाने खैरात' (दान-कार्यालय) खोला। इसके अतिरिक्त देहली में उसने एक बड़ा दारउलशफ़ा या औषधालय भी खोला। इसमें मरीज़ों को खाना-कपड़ा भी दिया जाता था। यात्रियों के लिये भी उसने बहुत से सुभीते किये थे।

फ़ीरोज़ को गुलामों से बड़ी दिलचस्पी थी। अतः सूबेदार बराबर उसके पास गुलाम भेजते रहते थे। इनकी तादाद देहली तथा सूबों में मिला कर १८०००० तक पहुँच गई थी। इनको पढ़ना-लिखना और दस्तकारी के काम सीखने पड़ते थे।

टकसाल की व्यवस्था उसके समय में बिलकुल बिगड़ गई। मुहम्मद तुग़लक़ के सब सुधार उसकी नरम नीति ने नष्ट कर दिये। उसका कोई सिक्का ऐसा नहीं मिलता जिसमें मिलावट या धोखा न हो। कारण यह कि टकसाल के कर्मचारियों पर कोई नियन्त्रण ही न था। उसने जनता की सुविधा के लिये केवल एक परिवर्तन किया। सामान उन दिनों बहुत सस्ता था। इस कारण छोटी खरीद बिक्री के लिये आधा (आधा जितल) और बिख (चौथाई जितल) नामक सिक्के बनवाये।

साहित्य को भी फ़ीरोज़ ने बहुत प्रोत्साहन दिया। मुसलमान विद्वानों की वह अपने 'अंगूरी महल' में बड़ी आव-भगत करता था। इतिहास में उसकी विशेष रुचि थी। ज़ियाउद्दीन बरनी और शम्स-ए-सिराज अफीफ़ उसके दरबारी इतिहास-लेखक थे। उसने अन्य विषयों के ग्रन्थ भी लिखवाये। उसने बहुत से मकतब और मठ बनवाये थे जिनमें विद्वान लोग रहते और अध्ययन में अपना जीवन लगाते थे। मौलाना जलालउद्दीन रूमी उसके समय का सब से प्रसिद्ध विद्वान था जो उसके महाविद्यालय में मुस्लिम फ़िक़ः (धर्मशास्त्र) की व्याख्या करता था। काँगड़े के मन्दिर में उसे १३०० संस्कृत के ग्रन्थ मिले थे जिनमें से उसने कई का फ़ारसी में अनुवाद कराया था।

फ़ीरोज़ के शासन के वर्णन में एक बात उसके वज़ीर खाँजहाँ मक़बूल के विषय में लिख देना आवश्यक है। हम पहले बतला चुके हैं कि वह एक तैलंग ब्राह्मण

ा। उसने मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया था। मुहम्मद के शासन में वह
लतान का सूबेदार था। फ़ीरोज़ ने उसे अपना वज़ीर बनाया। जब जब सुलतान
ाजधानी छोड़ कर दूर देशों की चढ़ाइयों पर गया, तब तब मक़बूल ने इतनी
ोग्यता से शासन कार्य्यों का संचालन किया कि किसी प्रकार की गड़बड़ न
ोने पाई। वह एक बड़ा चतुर नीतिज्ञ था। कहा जाता है कि उसके हरम में
 हज़ार औरतें थीं। जब सन् १३७० में मक़बूल की मृत्यु हो गई, तब फ़ीरोज़
 उसके स्थान पर उसके पुत्र जूना शाह को वही खाँ-जहाँ की उपाधि से अलंकृत
रके वज़ीर बनाया।

फ़ीरोज़ का अन्त—पिछले दिनों में फ़ीरोज़ बहुत बूढ़ा हो गया था।
सकी शक्ति बिलकुल शिथिल पड़ गई। उसके लड़के मुहम्मद और वज़ीर खाँ-
हाँ में परस्पर झगड़ा चला जिसमें वज़ीर को भागना पड़ा। राजकुमार
ड़ा विलासी था। उसने अपने सब विलासी साथियों को पदाधिकारी बनाया।
ीघ्र ही उसका विरोध हुआ। थोड़े दिन तक फ़ीरोज़ ने किसी प्रकार फिर राज्य
 सँभाला, परन्तु शीघ्र ही सन् १३८८ में वह मर गया।

फ़ीरोज़ का चरित्र—फ़ीरोज़ की मृत्यु के साथ देहली की सल्तनत की
हत्ता समाप्त हो गई। अपने अग्रगामियों के किये हुए संघटन को नष्ट करने में
सने स्वयं अपनी नीति से कसर न रखी थी। सैनिक दृढ़ता, नियम-पालन, कार्य-
टुता, महत्वाकांक्षा इत्यादि शासक के आवश्यक गुणों का उसमें अभाव
, परन्तु इन त्रुटियों का प्रतिकार तथा समाधान उसके प्रजाहित के कार्यों
था व्यक्तिगत लोकप्रियता से हो जाता था। एक और गुण उसमें था जिसने
से बड़ी सहायता दी। वह मानव चरित्र को ख़ूब पहचानता था और योग्य से
ग्य पुरुषों को चुन चुन कर शासन कार्य उनके सपुर्द करता तथा उन पर पूरा
रोसा रखता था। उसके योग्य मन्त्रियों ने उसके शासन की ठीक देख-भाल
की, परन्तु उसकी नीति का परिणाम यह हुआ कि उसके मरते ही साम्राज्य
लू पर बनी हुई दीवार की भाँति ढह गया। उसके उत्तराधिकारियों में कोई
सा न था जो इस जर्जर संस्था के मृतप्राय शरीर में पुनः जीवन फूँक सकता।

पिछले तुग़लक़ और तैमूर का आक्रमण

फ़ीरोज़ के बाद उसका पोता फतह खाँ तख़्त पर बैठा और उसने अपना
ाम गयासुद्दीन तुग़लक द्वितीय रखा। परन्तु बहुत ही जल्दी उसका वध हुआ
ौर ज़फ़र खाँ नामक एक अमीर का लड़का अबू बक्र गद्दी पर बैठा। इसके
िरुद्ध फ़ीरोज़ के छोटे लड़के शाहज़ादा मुहम्मद ने देहली पर चढ़ाई की।

उमरा दोनों पक्षों में बँट गये। बहादुर नाहर नामक एक मेवाती अमीर ने, जो मुसलमान हो गया था, अबू बक्र का पक्ष लिया। कई बार दोनों दलों में युद्ध हुए जिनमें मुहम्मद हारा; परन्तु एक बार मौक़ा पा कर सन् १३९० में वह अमीरों की सहायता से, अबू बक्र की अनुपस्थिति में, देहली में घुस गया और तख़्त पर अधिकार करके नासिर उद्दीन मुहम्मद के नाम से सुलतान होने की घोषणा कर दी। फिर उसने अबूबक्र और बहादुर नाहर को हराया और अबूबक्र को मेरठ के किले में कैद कर दिया और नाहर को क्षमा कर दिया। सन् १३९४ में नासिर उद्दीन की मृत्यु हो गई और उसका लड़का हुमायूँ भी उसके दो चार दिन बाद ही मर गया। अब मुहम्मद का सबसे छोटा लड़का महमूद बादशाह हुआ। उसने अपना नाम नासिरउद्दीन महमूद तुग़लक़ रखा। इस समय साम्राज्य में चारों ओर विद्रोह हो रहे थे। प्रायः सरदार और जागीरदार अपनी-अपनी जागीरों में स्वतन्त्र हो बैठे थे। जौनपुर, मालवा, गुजरात आदि सूबों के शासक स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर रहे थे। इसी समय फ़ीरोज़ाबाद के अमीरों ने फ़ीरोज़ के एक पोते नसरत को आगे रख कर महमूद का विरोध करना शुरू किया। अब अवस्था यह थी कि महमूद तो देहली में सुलतान होने का दावा कर रहा था और नसरत उससे १० मील के फ़ासले पर फ़ीरोज़ाबाद में सुलतान बना हुआ बैठा था। दोनों पक्षों के समर्थकों में मल्लू इक़बाल, मुक़र्रब ख़ाँ और बहादुर नाहर, ये तीन सबसे प्रबल अमीर थे। कई वर्ष तक घरेलू लड़ाई चलती रही। ये आपस के झगड़े चल ही रहे थे कि तैमूर अपनी भारी सेना लेकर आ पहुँचा।

तैमूर का आक्रमण (१३९८)—तैमूर समरक़न्द का अमीर और एक तुर्की परिवार का था। वह संसार के बड़े विजेताओं में से एक था। ३३ बरस की अवस्था में वह चग़ताई फिरके का नेता हो गया था और उसने फारस, अफ़गानिस्तान, मेसोपोटामिया आदि पश्चिमी एशिया के समस्त देश जीत डाले थे। हिन्दुस्तान में आने के लिये उसे बहाने भी मिल गये, यद्यपि उसे बहानों की आवश्यकता कभी नहीं होती थी। देश-देशान्तर पर चढ़ाई करना उसका पेशा सा ही था। भारत पर चढ़ाई करने का बहाना उसे यह मिल गया कि यहाँ के बादशाह मूर्त्ति-पूजा का अन्त नहीं करते थे।

तैमूर ने सन् १३९६ में ही अपने पोते पीर मुहम्मद को आगे भेज दिया था। उसने उच्च (ओहिन्द) और मुलतान को अधिकृत कर लिया था। पीर मुहम्मद ने दिपालपुर में मुसाफ़िर काबुली को शासक बना दिया था। परन्तु जनता ने उसे मार डाला। तैमूर के आने की ख़बर सुन कर दिपालपुर के लोग

डर के मारे भाग कर भटनेर के क़िले में जा छिपे, परन्तु तैमूर के सैनिकों ने क़िले को नष्ट किया और जनता को मार-काट कर उनका माल असबाब लूट लिया।

तैमूर हिन्दूकुश होता हुआ पहले भटनेर, फिर सिरसुती और तब वहाँ से कैथल पहुँचा। यहाँ उसने देहली पर हमला करने की तैयारी करना शुरू की। फिर वह गाँवों को जलाता, लूट-मार करता, औरतों, बच्चों और मर्दों को पकड़ता हुआ अम्बाले और मेरठ के रास्ते से देहली के पास पहुँचा और शहर से कोई १० मील के फ़ासले पर लोनी के किले के निकट उसने पड़ाव डाला। उसकी छावनी में इस समय १ लाख हिन्दू क़ैदी थे। इनको उसने बलवे के डर से एक साथ ही क़त्ल करा डाला। तब उसने अपनी सेना को युद्ध के लिये तैयार किया। सुलतान महमूद और मल्लू इक़बाल ने एक बड़ी सेना इकट्ठी कर के उसका मुक़ाबला किया और वे वीरता से लड़े, परन्तु अन्त को उनकी हार हुई। तब तैमूर ने देहली को ख़ूब लूटा, हज़ारों नगरनिवासियों को तलवार के घाट उतारा और हज़ारों कारीगरों को पकड़ कर समरक़न्द ले गया। वहाँ उनकी सहायता से उसने अपने प्यारे नगर में बड़े-बड़े प्रासाद और समरकन्द की विख्यात मस्जिद बनवाई। देहली में एक पक्ष ठहरने के बाद तैमूर मेरठ होता हुआ हरद्वार पहुँचा। वहाँ हिन्दुओं से बड़ा घमासान युद्ध हुआ। हरद्वार को लूट कर उसने सिरमूर पहाड़ी (शिवालिक) के राज्य पर हमला किया और उसको बलात् मुसलमान बनाया। इसके बाद वह मुलतान के सूबेदार खिज्र खाँ को लाहौर, दिपालपुर और मुलतान का जागीरदार बना कर वापस लौट गया।

तैमूर का आक्रमण सलतनत के ह्रास का परिणाम ही था। परन्तु उसकी लूट-मार और क़त्ल से देश की अवस्था और भी बिगड़ गई। उस समय कोई शक्ति ऐसी न रही जो शान्ति या सुरक्षित दशा स्थापित कर सकती। देहली में नाम को महमूद सुलतान था, परन्तु अधिकार मल्लू इक़बाल का था। उसके अनुचित आधिपत्य से तंग आकर महमूद ने जौनपुर से सहायता माँगी, पर विफल रहा। तब वह देहली छोड़ कर क़न्नौज चला गया। इकबाल ने गवालियर और इटावा के हिन्दू सरदारों को दमन करने का यत्न किया और फिर खिज्र खाँ पर चढाई की जिसमें वह सन् १४०५ में मारा गया। उसके मरने के बाद महमूद देहली लौटा, परन्तु उसके पतित चरित्र के कारण उसकी शक्ति न बढ़ सकी और वह सन् १४१२ में मर गया। इसके बाद अमीरों ने दौलत खाँ को अपना नेता चुना। परन्तु खिज्र खाँ ने मुलतान से आकर उसे पराजित किया और तब वह सुलतान की गद्दी पर आरूढ़ हुआ।

तीसरा अध्याय

पठान साम्राज्य के पुनरुद्धार का निष्फल प्रयत्न

(१)

सैय्यद वंश

चौदहवीं सदी के पूर्वार्ध में देश को स्थिति—खिज्र खाँ के गद्दी-नशीन होने के समय देश की अवस्था ऐसी थी कि राज्य के पुनरुत्थान के लिये किसी बड़े भारी प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ, शूर-वीर एवं योग्य शासक की आवश्य-कता थी। सैय्यदों को ऐसी विकट और असाध्य समस्या का सामना करना पड़ा जिस को हल करना उनकी सामान्य योग्यता के बाहर था। जिस दिल्लीश्वर का आतंक केवल ५०,६० वर्ष पहले इस विशाल देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैला हुआ था, उसका वास्तविक आधिपत्य अब दिल्ली से ५० मील पर भी नहीं रह गया था। इस पतित, हतशक्ति एवं हत-संघटन ढाँचे को, जिसका आत्मिक प्रभाव बिलकुल मिट गया था, फिर से सशक्त और सजीव बनाने का काम एक नये साम्राज्य की स्थापना से भी कठिन था।

खिज्र खाँ सन् १४१४ से १४२१ तक देहली के डाँवाडोल तख़्त पर रहा। वह अपने को सुलतान कहता हुआ भी घबराता था और केवल तैमूर के राज-प्रतिनिधि के नाम से ही राज्य करता रहा। उसका सारा समय कटेहर, बदाऊँ, कन्नौज, सकीट, इटावा आदि स्थानों के हिन्दू सरदारों के बलवों को दमन करने के यत्न में व्यतीत हुआ। देहली के पास मेवाती स्वतन्त्र हो गये और सीमा पर खोखरों ने लाहौर तक लूट-मार करनी शुरू कर दी। दोआब के सरदारों ने थोड़े समय के लिये ख़िराज देना शुरू कर दिया, पर फिर वही दशा हो गई सन् १४२१ में देहली में खिज्र खाँ की मृत्यु हो गई। खिज्र खाँ बड़े शील स्वभाव का मनुष्य था। वह व्यर्थ रक्तपात करना नहीं चाहता था। शायद वह शासन में कुछ सुधार भी करता, परन्तु परिस्थिति इतनी ख़राब थी कि उसे किसी प्रकार का सुधार करने का अवसर ही न मिला।

खिज्र खाँ का उत्तराधिकारी उसका लड़का मुबारक हुआ। उसको भी वही दृश्य देखना पड़ा। फिर विद्रोह हुए। सब से प्रबल विद्रोह पंजाब में जसरथ खोखर और पौलाद के हुए। मुबारक ने इनको बड़ी कठिनाई से दमन

किया। फिर जब उसने शासन में कुछ सुधार करना चाहा, तब उसके अमीर बिगड़ गये और उन्होंने धोखे से उसको मार डाला (१४३४)। उसके एक समकालीन लेखक ने उसकी प्रशंसा इन संक्षिप्त शब्दों में की है—"बड़ा दयालु एवं उदार तथा सद्गुणों से भरपूर बादशाह"। उसके बाद उसका भतीजा मुहम्मद अत्यन्त अशक्त और अयोग्य शासक साबित हुआ। उसके समय में जौनपुर के शासक इब्राहीम ने दिल्ली के कई परगने अपहरण कर लिये। गवालियर आदि के हिन्दू सरदारों ने ख़िराज देना बन्द कर दिया। मालवे के शासक ने चढ़ाई कर दी थी, परन्तु वह निजी आवश्यकता के कारण लौट गया। लाहौर के सूबेदार बहलोल ने इस समय उसकी सहायता की। इस समय सलतनत का अधिकार देहली और उसके निकट के कुछ देहातों तक ही परिमित था। मुहम्मद के बाद चौथा सैय्यद सुलतान, जो सन् १४४५ में गद्दी पर बैठा, बिलकुल ही निकम्मा था। वह शासन-कार्यों को झंझट समझता था। इससे छुटकारा पाने के हेतु वह सन् १४४७ में अपनी निजी जागीर बदायूँ में जा बसा और शासन का सब काम बहलोल को सौंप गया। थोड़े दिन बाद बहलोल ने उसका नाम खुतबे में से हटा कर अपने को स्वतन्त्र बना लिया। निर्जीव आलम शाह सन् १४७८ तक बदायूँ में जिन्दा रहा।

(२)

लोदी वंश

बहलोल ने बड़ी सावधानी से काम करना शुरू किया। अफ़ग़ान लोगों को सन्तुष्ट रखना बहुत कठिन था। कारण यह कि वे अपनी बिरादरी के सब परिवारों को बराबर समझते थे और यह कभी सहन न कर सकते थे कि उनमें से कोई सुलतान हो कर अपने को उनसे ऊँचा मानने लगे। इसलिये उनको सन्तुष्ट रखने के विचार से बहलोल ने बनावटी नम्रता से काम लिया। वह स्वयं अफ़ग़ान अमीरों के घर मिलने जाता और उनसे बड़े विनीत भाव से व्यवहार करता था। कभी उनसे ऊँचे आसन पर न बैठता था। इस प्रकार अपनी बिरादरी के मुख्य लोगों को सन्तुष्ट करके बहलोल ने उन लोगों को नष्ट किया, जिनसे उसे आशंका थी। सन् १४५१ में मुलतान के सूबेदार को एक दल ने निकाल दिया। बहलोल उसे पुनःस्थापित करने को रवाना हुआ; परन्तु सरहिंद में ही उसे खबर मिली कि जौनपुर का शासक महमूद देहली पर चढ़ आया है। अतएव वह तुरन्त वापस लौटा और महमूद भी वापस लौट गया। बहलोल की इस विजय से उसका प्रभाव बहुत बढ़ गया। फिर उसने गवालियर, इटावा,

सकीट, भौगाँव, चँदवर इत्यादि के सरदारों को दिल्ली का प्रभुत्व मानने और राज-कर देने पर विवश किया।

इस समय देहली के सुलतानों का सब से भयानक शत्रु जौनपुर का शर्की शासक था, क्योंकि अन्य स्वतन्त्र राज्य दिल्ली से बहुत दूर थे। जौनपुर के सुलतान महमूद ने एक और आक्रमण किया, परन्तु सुलह कर ली। फिर उस के उत्तराधिकारी हुसेन ने देहली पर कई आक्रमण किये, परन्तु अन्त को वह हार कर अपना राज्य भी हाथ से खो बैठा। बहलोल ने उसे निकाल कर जौनपुर का राज्य अपने लड़के बारबक के सपुर्द कर दिया। सन् १४८९ में उस की मृत्यु हो गई।

बहलोल के बाद उत्तराधिकार का झगड़ा खड़ा हुआ, परन्तु उसका पुत्र निज़ाम खाँ गद्दी पर बैठने में सफल हुआ। उस ने अपना नाम सिकन्दर लोदी रखा। इस समय सारा राज्य जागीरों में विभक्त था। सिकन्दर बहुत योग्य और बलशाली शासक था। उस ने अफ़ग़ान सलतनत को पुनरुज्जीवित करने का भरसक प्रयत्न किया। उत्तरी भारत का अधिक भाग उस ने फिर से अधिकृत भी किया। साम्राज्य का दायरा फिर विस्तृत हुआ, परन्तु ये सब ऊपरी उद्धार थे। उस का पूर्व-कालीन संघटन वह भी स्थापित न कर सका।

सिकन्दर ने पहले-पहले रिवाड़ी के उद्दण्ड जागीरदार को निकाल कर एक दूसरा शासक नियुक्त किया। फिर उसे अपने भाई बारबक से भुगतना पड़ा। वह सिकन्दर का आधिपत्य स्वीकार नहीं करता था। सिकन्दर ने उसे पराजित किया, परन्तु फिर बहाल कर दिया। पर वह आस-पास के सरदारों के विद्रोहों को न दबा सका, इस कारण सिकन्दर ने उसे हटा कर जमाल खाँ सारखानी को नारनौल से जौनपुर भेज दिया। (१४४९)

उत्तरी भारत में फिर बराबर बलवे होते रहे और सिकन्दर को भी अपना अधिक समय उन्हीं के दमन करने में लगाना पड़ा। विद्रोह के दो बड़े केन्द्र थे, एक कटेहर या रूहेलखण्ड, और दूसरा इटावा और गवालियर के बीच का प्रदेश। कटेहर के विद्रोह को पूरी तरह से दमन करने के उद्देश्य से वह चार साल तक सम्भल में ठहरा और वहाँ उसने बड़ी निर्दयता से विद्रोहियों का संहार किया। फिर उसने उस प्रान्त के शासन को सुव्यवस्थि किया और हिन्दुओं के मन्दिर आदि नष्ट कर के अपनी धर्म्मान्धता का भी परिचय दिया।

इटावा के पास की समस्या का निराकरण करने के लिये उसने सन् १५०४ में आगरा शहर बसाया। जिस प्रकार पंजाब के बाद देहली पहला स्थान है, जहाँ से राजपूताना, दक्षिण तथा पूर्व जाने के रास्ते खुलते हैं, उसी प्रकार आगरा

दक्षिण में वही भौगोलिक महत्त्व रखता है। जयपुर से लेकर गवालियर और बुन्देलखण्ड के प्रदेश को आधिपत्य में रखने के लिये आगरे के स्थान पर छावनी रखना अत्यावश्यक था। उसके इस महत्त्व का सिकन्दर ने अनुभव किया। फिर इस केन्द्र से गवालियर, इटावा, बयाना, कोयल (अलीगढ़), धौलपुर आदि के सरदारों को दमन किया। सन् १५०६ में उसने नरवर पर घेरा डाला। भीषण युद्ध के बाद, जब क़िले में खाने-पीने की समग्री समाप्त हो गई, तब हिन्दुओं ने हार मान ली। नरवर के बाद चँदेरी और नागौर को भी सन् १५१० में अधिकृत किया। सन् १५१७ में आगरे में उसकी मृत्यु हो गई।

सिकन्दर का शासन—शासन को संघटित करने की तो सिकन्दर में योग्यता ही नहीं थी। हाँ, एक काम उसने किया। एक बड़ी हद तक अधिकार अपने हाथमें कर के अफ़गानों को एकाधिकार में रखा। तथापि वे यह सिद्धान्त न भूले कि हम बादशाह के बराबर ही हैं; वह केवल हम लोगों में बड़ा है। शासन के उस धर्मावस्थित सिद्धान्त (Theocracy) को, जिसे फीरोज़ ने फिर से पुनरुज्जीवित किया था, सिकन्दर ने और भी सुदृढ़ किया। सम्भल के बोधन नाम के एक ब्राह्मण के यह कहने पर कि हिन्दू धर्म उतना ही अच्छा है जितना मुसलमानी धर्म, उस पर उलमा की मजलिस के सामने अभियोग चलाया गया और उनके फतवे पर उसे क़त्ल किया गया। हिन्दुओं के धर्म के विरुद्ध कई बड़ी संकीर्ण आज्ञाएँ दी गईं। उनको दाढ़ी और सिर मुँड़ाने से रोका गया। मूर्तियाँ कसाइयों को दे दी गईं जिसमें वे उनसे मांस तौलने के बाट बनावें। इस समय युरोप में भी धार्मिक अत्याचार बड़े वेग से हो रहे थे।

परन्तु सिकन्दर ने शासन-व्यवस्था में कुछ सुधार अवश्य किये। सरकारी आय-व्यय विभाग के हिसाब की जाँच-पड़ताल का बड़ा अच्छा प्रबन्ध किया, क्योंकि उस समय बीच के अफ़सर बड़ा ग़बन और बेईमानी करते थे। ऐसा करनेवालों को कड़ी सजाएँ दीं। न्याय में भी बहुत कड़ाई की और सब के साथ समान व्यवहार करना शुरू किया। किसी बड़े आदमी को केवल उसकी हैसियत के कारण नहीं छोड़ा जाता था। गुप्तचर विभाग भी स्थापित किया गया और बाज़ारों के निरीक्षण का प्रबन्ध किया गया। गाँवों के लोगों की रक्षा के उपाय किये गये। खेती की वृद्धि और उन्नति का प्रबन्ध किया गया, तथा व्यापार वाणिज्य को भी प्रोत्साहन दिया गया। ग़रीब लोगों की हर साल एक सूची बनवाई जाती थी और उनको खाना बाँटा जाता था। दस्तकारियों की उन्नति के लिये कारखाने भी खुलवाये गये। इस प्रकार शासन प्रबन्ध के भिन्न भिन्न विभागों को सुधारने का तो सिकन्दर ने भरसक प्रयत्न किया, परन्तु वह उन

मौलिक त्रुटियों को न दूर कर सका जिनके रहते हुए किसी राज्य का संघटित होना असम्भव होता है।

सिकन्दर कुछ कविता भी करता था। उसका तख़ल्लुस था 'गुलरुख़'। वह कवियों तथा विद्वानों को प्रोत्साहित करता तथा आश्रय देता था। उसकी आज्ञा से मियाँ भुवा नामक एक विद्वान् ने आयुर्वेद की एक संस्कृत पुस्तक का फ़ारसी भाषा में अनुवाद किया था। इस पुस्तक का नाम है–तिब्ब-ए-सिकन्दरी।

सिकन्दर के बाद उस का बेटा इब्राहीम गद्दीनशीन हुआ। इसको भी कभी शान्ति न मिली। परिस्थिति प्रतिकूल थी ही। इब्राहीम उतना चतुर न था। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही एक बाहरी विजेता ने उसका अन्त करके उसके साथ अफ़गान साम्राज्य का भी अन्त कर दिया।

(३)
पठान-कालीन शासन-प्रणाली

मुस्लिम राजसत्ता का आधार ईश-सत्तात्मक (Theocratic) है। उस का मूल सिद्धान्त यह है कि राज्य का सर्वोच्च अधिष्ठाता अथवा सच्चा राजा स्वयं ईश्वर है और सांसारिक राजा केवल उसका प्रतिनिधि रूप है। उसका कर्त्तव्य और धर्म यही है कि वह ईश्वर की आज्ञा का पालन करे और इस उद्देश्य-पूर्त्ति के लिये अपने राज्य की सारी शक्ति का प्रयोग करे। राज्य का उद्देश्य केवल एक है—धर्म्म को संसार भर में फैलाना। अतः राजा तथा उसके कर्मचारियों का मुख्य उद्देश्य धर्म-प्रचार ही है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये दिन रात प्रयत्न करते रहना ही प्रत्येक मुसलमान का कर्त्तव्य है। इसी का नाम "जहाद" है। इस सिद्धान्त के अनुसार इस्लाम धर्म्म के विरोधी समस्त विचारों को नष्ट करना तथा उनके अनुयायियों को या तो मुसलमान बनाना और यदि वे न बनें तो उन्हें नष्ट करना प्रत्येक मुसलमान का कर्त्तव्य है।

इस्लाम की दृष्टि में सबसे बड़ा पाप और कुफ़्र है मूर्त्ति-पूजा, अर्थात् एक से अधिक ईश्वर या देवता मानना, अथवा ईश्वर के बराबर कोई और शक्ति भी मानना। इसलिये मूर्त्ति-पूजा को नष्ट करना और मूर्त्तिपूजकों को किसी न किसी उपाय से मुसलमान बनाना मुसलमानों में परम धर्म समझा जाता है। मुस्लिम राज्य के अन्दर मूर्त्तिपूजकों के लिये दो ही रास्ते हैं, या तो इस्लाम धर्म ग्रहण करना या मृत्यु।

इस्लाम धर्म अथवा राज्य का मूल सिद्धान्त तो यह था; परन्तु जब अरब-वालों ने अन्य देशों को जीतना शुरू किया, तब वे ऐसी जातियों के सम्पर्क में

भी आये जिनकी सभ्यता और संस्कृति उनसे कहीं प्राचीन तथा उच्च थी। उन्होंने देखा कि इनको इस्लाम धर्म स्वीकार कराना किसी प्रकार के उपाय से भी सम्भव नहीं है। ऐसी परिस्थिति में उन्हें अपने धर्म के कट्टर आदेशों को ढीला करना पड़ा। सिंध के अरबी मुसलमान शासकों ने बड़ी नीति और चतुराई से काम लिया। उन्होंने धार्मिक असहिष्णुता की नीति से हर प्रकार की आशंका देख कर हिन्दुओं के धर्म्म पर प्रहार न किये। उनके देवस्थानों तथा मन्दिरों को नहीं तोड़ा और शासन कार्य में भी उनसे पूरी सहायता ली। इसी प्रकार की परिस्थिति के कारण मुस्लिम दण्ड-विधान के एक बड़े भारी पण्डित अबू हनीफ़ा ने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की जिसके अनुसार इस्लाम धर्म ग्रहण न करने-वाले काफ़िरों के लिये एक दूसरा रास्ता भी बतलाया। इस नियम के अनुसार वह कुछ मूल्य देकर अपने जीवित रहने का अधिकार ख़रीद सकता है। इसी मूल्य का नाम जज़िया है।

तुर्क सुलतानों के युग में, एक दो समझदार सुलतानों को छोड़ कर, जिन्होंने कुछ कुछ उदार नीति का प्रयोग किया, प्रायः सभी असहिष्णुता की नीति का पालन करते रहे। राजनीतिक परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के कारण उनको अपनी प्रजा के साथ सहिष्णुता का व्यवहार करना पड़ता था; परन्तु विजित प्रदेशों अथवा अन्य प्रजा के साथ काम पड़ने वे पूर्ण रूप से इस्लाम की शिक्षा का अनुकरण करने का यत्न करते रहे।

तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत के तुर्क मुसलमान विजेताओं के सामने धर्म का यही आदर्श था; परन्तु उनका आदर्श और उद्देश्य केवल धर्म-प्रचार न रह कर कई प्रकार से मिश्रित हो गया था। जैसा कि हम ऊपर एक स्थान पर बतला चुके हैं, उनके आदर्श और उद्देश्य ही नहीं प्रत्युत् उनकी कार्य-प्रणाली पर भी फ़ारस की गहरी छाप लग चुकी थी। इसके अतिरिक्त उनके कार्य-क्रम पर एक और प्रभाव भी पड़ा था। यह था तुर्क जातीय चरित्र एवं रीति-रवाज का। इस प्रकार देहली की मुसलमान सल्तनत के राजनीतिक प्रवाह में तीन मुख्य धाराएँ सम्मिलित हो कर उसकी नीति को प्रेरित कर रही थीं। ये तीन धाराएँ इस प्रकार थीं—(१) अरबी धर्म तथा राजनीति का उद्देश्य तथा कार्य-प्रणाली, (२) फ़ारस की सभ्यता जिसने अरबी विजेताओं के विचार तथा दृष्टि को अधिक विस्तृत तथा उदार बनाया, तथा शासन-प्रबन्ध के कार्य-क्षेत्र एवं पद्धति को बहुत विस्तृत किया। प्रजा की केवल रक्षा करना और उनसे कर उगाहना ही नहीं, बल्कि उसकी उन्नति के उपाय करने और राजा को प्रजा का सेवक मानने का आदर्श अरबवालों ने फ़ारस से ग्रहण किया।

(३) तीसरा प्रभाव तुर्क जाति के चरित्र एवं रीति-रवाज का था। तुर्क जाति की युयुत्सु प्रवृत्तियों को अपने नये धर्म के उद्देश्यों से बड़ी उत्तेजना मिली। उनकी वीरता, युद्ध-कौशल तथा अन्य सामरिक गुणों के सम्मिश्रण से मुस्लिम साम्राज्य तथा राजनीति ने एक नया ही रूप धारण कर लिया। भारतीय मुस्लिम शासन-पद्धति एक ऐसी मिश्रित संस्था थी जिसमें अरबी-फ़ारसी पद्धति को अति प्राचीन तथा पूर्णतया स्थापित भारतीय संस्था के बीच में काम करना पड़ा और इसी कारण वह भारतीय संस्था से अत्यन्त प्रभावित हुई। इसका संचालन प्रायः तुर्कों के हाथ में था। इस परिस्थिति का परिणाम यह हुआ कि भारत में आकर मुस्लिम शासन पद्धति एवं राजनीतिक सिद्धान्तों में बड़े भारी परिवर्त्तन हो गये। उदाहरण के लिये, सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन उत्तराधिकार के सिद्धान्त में हुआ। इस्लाम धर्म के अनुसार ख़लीफ़ा अथवा बादशाह का पद निर्वाचनाधीन है, परन्तु तुर्क बादशाह इसकी अवहेलना करके राजगद्दी को वंशानुक्रमिक बनाने का यत्न करते रहे। इसी प्रकार राजकीय करों और विधर्मियों के साथ सहिष्णुता की नीति इत्यादि अनेक बातों में बड़े परिवर्तन हो गये *।

अब हमें संक्षेप में यह देखना है कि मुस्लिम शासन-पद्धति का वास्तविक स्वरूप भारतवर्ष में कैसा था।

केन्द्रित सरकार—पठान राज्य का सर्वोच्च सांसारिक अधिकारी सम्राट् था। सिद्धान्त रूप से वह राजनीति तथा धर्म दोनों क्षेत्रों का मुख्य अधिपति था। उसकी शक्ति तथा अधिकार किसी सांसारिक शक्ति के अधीन नहीं थे। केवल उन ईश्वरीय नियमों से, जो धर्म्म-ग्रन्थों में वर्णित थे, उसकी शक्ति तथा अधिकार परिमित होते थे। इनके भीतर वह सर्वेसर्वा था। धार्मिक नियमों के अनुसार वह अपने कृत्यों के लिये मुसलमान जन-साधारण के प्रति उत्तरदायी भी था, परन्तु वास्तव में कोई बादशाह इस नियम की परवाह नहीं करता था। उसके कार्यों पर कोई वैध रुकावट नहीं थी; पर हाँ, लोकमत और विद्रोह के भय का अवश्य कुछ अंकुश था।

पठान राज्य में आज-कल के समान कोई वैध सभा या समिति नहीं होती थी, परन्तु सम्राट् अपनी सहायता के लिये एक मन्त्री परिषद् (मजलिस-

---

* आदर्श और वास्तविक स्थिति में इस प्रकार के भेद देख कर एक लेखक ने कहा है—'The laws of the Faith never sufficed to curb the ambitions of kings.'

ए-आम) अथवा मण्डल अवश्य नियुक्त करता था। मन्त्री मण्डल हर प्रकार से सम्राट् के अधीन होता था। वही उसका कर्ता, धर्ता और हर्ता था। मन्त्रियों की कोई निश्चित संख्या नहीं थी। मन्त्री मण्डल को केवल परामर्श देने अथवा बादशाह की आज्ञा पालन करने तथा उसकी नीति का अनुसरण करने के अतिरिक्त अन्य कोई अधिकार नहीं था। मन्त्री मण्डल का एक प्रमुख या प्रधान अवश्य होता था जो सम्राट् की अनुपस्थिति में सभापति होता था तथा अन्य समस्त शासन का संचालन करता था। वह पठान साम्राज्य में वज़ीर-ए-ममालिक कहलाता था। मुख्य मन्त्री तथा मन्त्री मण्डल के वास्तविक अधिकार, शक्ति तथा प्रभाव उनके और बादशाह के परस्पर सम्बन्ध तथा आपेक्षिक योग्यता और व्यक्तित्व पर निर्भर थे। ग़यास और मुहम्मद तुग़लक़ तथा बलबन के मन्त्री कभी अधिक प्राबल्य अथवा महत्व प्राप्त नहीं कर सकते थे, परन्तु उनके निर्बल वंशजों के मन्त्रीगण बड़े प्रभावशाली, और कभी कभी सर्वेसर्वा हो जाते थे। तथापि क्रियात्मक रूप से सम्राटों को अपने मन्त्रियों का बड़ा सम्मान करना पड़ता था। वे उनकी अवहेलना नहीं कर सकते थे। उनके परामर्श का वे बड़ा आदर करते थे। उनके सत्परामर्श ही के कारण अलाउद्दीन ख़िल्जी जैसे सुलतानों को कई बातों में सफलता हुई और कई दुर्घटनाओं से उनकी रक्षा हुई। जब उसने अपनी शक्ति के मद में मन्त्रियों की अवहेलना करना शुरू कर दिया, तबसे उसका पतन शुरू हो गया। बलबन, गयासुद्दीन तुग़लक़ आदि शक्तिशाली सम्राट् भी अपने मन्त्रियों के परामर्श का बड़ा आदर करते थे।

वज़ीर-ए-ममालिक—राज्य में सम्राट् के बाद वज़ीर-ए-ममालिक का स्थान सर्वोपरि था। वज़ीर प्रायः बहुत शक्तिशाली होता था। वह राज्य के समस्त विभागों का निरीक्षण करता था, परन्तु उसका प्रभाव तथा शक्ति भी सम्राट् के भाव पर आश्रित होती थी। राजकीय कोष, आय व्यय, टकसाल तथा सार्वजनिक वास्तु आदि विभागों का प्रबन्ध प्रायः वज़ीर-ए-ममालिक के सपुर्द होता था।

अन्य मंत्री—अन्य मन्त्रियों का वर्ग इसके नीचे होता था। उनको किसी विभाग विशेष के स्वतन्त्र संचालन का अधिकार नहीं दिया जाता था। वज़ीर की आज्ञा और परामर्श के बिना वे कोई कार्य नहीं कर सकते थे। इन मन्त्रियों में से मुख्य के नाम ये हैं—

(१) **दीवान-ए-रिसालत**—बाह्य अथवा अन्तर्जातीय सम्बन्ध विभाग का मन्त्री।

(२) **दीवान-ए-अर्ज़**—प्रार्थनापत्र आदि का निरीक्षण करनेवाला मन्त्री

(३) **दीवान-ए-इन्शा**—राजकीय पत्र-व्यवहार इत्यादि करनेवाला मन्त्री।

(४) **दीवान-ए-वज़ारत**—राजकीय आय तथा कर वसूल करनेवाले विभाग का मन्त्री।

(५) मुगलों के समान राज-प्रासाद तथा अन्तःपुर का भी एक पृथक् विभाग होता था, परन्तु इसके संचालक का नाम अप्राप्य है। इस विभाग के अन्तर्गत कई छोटे विभाग या शाखाएँ होती थीं। जैसे रसोईघर, जिसका अधिकारी चाश्नीगीर कहलाता था; इत्यादि। इसी में शयनागार, हाथी-घोड़ों के अस्तबल, अस्त्र-शस्त्र और वस्त्र विभाग भी सम्मिलित थे।

अस्त्र-शस्त्र, पोशाक, वर्दी इत्यादि बनाने के लिये बड़े बड़े शाही कारख़ाने होते थे। इनके संचालन तथा प्रबन्ध के लिये अलग कर्मचारी होते थे। कारख़ानों का हिसाब रखने के लिये कोष विभाग में एक पृथक् विभाग रहता था।

सेना विभाग—मुस्लिम धर्म के अनुसार राजा ही सेनाध्यक्ष भी होता है। पठान सुलतान प्रायः स्वयं ही अपनी सेना का नेतृत्व करते थे। अपनी सहायता के लिये वे अन्य सैनिकों को भी ऊँचे ऊँचे पदों पर नियुक्त करते थे, परन्तु पठान राज्य में समस्त सेना का कोई स्थायी सेनापति नहीं होता था। प्रत्येक सूबेदार के पास सैनिक होना भी आवश्यक था। सामान्य शासन विभाग (Civil) और सैनिक विभाग (Military) में कोई भेद नहीं था। उत्तर-पश्चिमी सूबों के अध्यक्ष बड़े बड़े सैनिक और योद्धा ही बनाये जाते थे।

सम्राट् की स्थायी सेना प्रायः कम होती थी। अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक़ ने बड़ी-बड़ी स्थायी सेनाएँ तैयार की थीं, परन्तु उनके बाद फिर पूर्ववत् दशा हो गई। स्थायी सेना के अतिरिक्त सूबेदारों और जागीरदारों को अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार सेना भेजनी पड़ती थी। इस प्रकार युद्ध के समय सेना की संख्या काफ़ी बड़ी हो जाती थी।

सेना के दो मुख्य विभाग होते थे। अश्वारोही (घुड़सवार) और पदाति (पैदल)। हाथियों से मुख्यतया बार-बरदारी का काम लिया जाता था। क़िलों पर हमला करने और उनके दरवाजों इत्यादि को तोड़ने में भी हाथी काम करते थे। सड़कें उन दिनों काफी अच्छी नहीं होती थीं और नदियों पर पुल बहुत कम स्थानों पर थे। इस कारण बरसात में स्थल मार्गों से सेना का आवागमन बहुत कठिन हो जाता था। इन दिनों में दूरवाले प्रान्तों पर चढ़ाई करने के लिये जल-मार्गों (नदियों) के द्वारा नावों में सेना पहुँचाई जाती थी।

सेना के लिये अस्त्र-शस्त्र तथा भोजन का प्रबन्ध करने के लिये कोई विभाग उन दिनों नहीं होता था। अस्त्र-शस्त्र, घोड़े तथा वस्त्रादि सबको अपने अपने लाने

पड़ते थे। हर एक सूबेदार या जागीरदार अपनी अपनी सेना को सब सामान देने का जिम्मेवार होता था। खाने-पीने का सामान प्रायः आक्रान्त देशों की लूट से इकट्ठा किया जाता था।

सेना की एक समान शिक्षा, एक समान वस्त्र अथवा अन्य बातों के लिये कोई नियम नहीं था। ये सब बातें सेनापतियों की बुद्धि या इच्छा पर छोड़ दी जाती थीं। माँग आने पर सूबेदार तुरन्त बिना सिखाये हुए आदमियों को भरती करके सेना तैयार कर लेते थे। इसलिये बहुत से सिपाही और उनके घोड़े बिलकुल अयोग्य और युद्ध-कौशल से अनभिज्ञ होते थे। इस प्रकार सेना की सफलता या विफलता प्रायः उसके नेता की योग्यता तथा युद्ध-कौशल पर निर्भर होती थी।

न्याय विभाग—न्याय विभाग का प्रमुख भी सम्राट् ही होता था। राष्ट्र में वही सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। उसके नीचे सदर काज़ी होता था। सदर क़ाज़ी सारी सलतनत के न्याय विभाग का निरीक्षण करता था। जो अभियोग सीधे उसके पास आते थे, उनका वह न्याय करता था और अपीलें भी सुनता था। प्रत्येक सूबे के केन्द्रीय स्थान में सूबे का एक काज़ी होता था। देहली, बदायूँ, ग्वालियर, अवध, मालवा, गुजरात, कड़ा, दक्खिन, बंगाल इत्यादि के लिये पृथक् पृथक् काजी नियुक्त किये जाते थे। सेना के लिये एक अलग क़ाजी होता था।

इन कर्मचारियों के ठीक-ठीक कर्त्तव्य और अधिकार क्या थे, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। न यही ठीक-ठीक कहा जा सकता है कि किस प्रकार के मुकदमे किस न्यायालय में जाते थे। न्याय करने की भी कोई निश्चित पद्धति नहीं थी। कागजी काम बहुत कम होता था। न्याय होने में बहुत देर न लगती थी। फैसले मौखिक ही सुना दिये जाते थे और शायद उनका पालन भी तुरन्त ही करा दिया जाता था। कचहरियाँ रिश्वत आदि के दोषों से खाली नहीं हो सकती थीं, परन्तु जल्दी फैसले होने का एक बड़ा लाभ था। लोगों को वैसे असीम कष्ट नहीं उठाने पड़ते थे जैसे आज-कल की न्याय पद्धति के कारण, जिसमें समय की कोई हद ही नहीं है। आज-कल छोटे छोटे मामलों के तै होने में भी बरसों लग जाते हैं। बेचारे अभियुक्त दुखी हो जाते हैं और उनका व्यय भी बहुत हो जाता है। आजकल के न्याय विभाग के अत्यन्त सुस्ती से कार्य करने से जो अनेक बुराइयाँ निकलती हैं और प्रजा को जो कष्ट होते हैं, उनको आधुनिक लेखकों ने भी माना है।

दण्ड विधान (कानून) का मुख्य स्रोत धर्म-पुस्तकें ही थीं। इनके अति-

रिक्त स्थानीय रीति-रवाज, प्रचलित सामाजिक नियमों और पद्धतियों इत्यादि का भी आवश्यकता पड़ने पर प्रयोग किया जाता था। यदि दोनों पक्ष हिन्दू होते थे तो हिन्दू स्मृतियों के अनुसार फैसले किये जाते थे। परन्तु फौजदारी मामलों में हिन्दू मुसलमान सबका कुरान के विधान के अनुसार ही न्याय किया जाता था। परन्तु गाँवों के अधिकांश झगड़े ग्राम-पंचायतों द्वारा तै कर दिये जाते थे।

आय व्यय—आय का मुख्य स्रोत भूमि-कर (मालगुजारी) था। हिन्दू काल में राजा लोग पैदावार का प्रायः $\frac{1}{6}$ भाग भूमि-कर के रूप में लेते थे। कभी कभी वह उससे भी कम होता था, परन्तु अधिक कभी नहीं होता था। पठान सम्राटों ने सामान्यतया $\frac{1}{3}$ कर लेना आरम्भ किया, परन्तु कइयों ने उसे $\frac{1}{2}$ (५० फी सदी) तक बढ़ा दिया था। इसके अतिरिक्त और भी कई कर लिये जाते थे। (१) **जजिया** जो हिन्दुओं से उनके मुसलमान धर्म अङ्गीकार न करने पर दण्ड-स्वरूप लिया जाता था। (२) **खम्स**, अर्थात् लड़ाई की लूट का $\frac{1}{5}$ भाग। (३) **जकात** जो सम्पन्न मुसलमानों से दरिद्र मुसलमानों के पालनार्थ ली जाती थी। (४) **व्यापार** पर कर। (५) **खिराज** अर्थात् हिन्दू जागीरदारों से और (६) **उश्र**, मुस्लिम जागीरदारों से लिया जानेवाला कर।

प्रान्तीय शासन—साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था। प्रत्येक प्रान्त का एक सूबेदार होता था जिसका दरबार शाही दरबार का एक प्रतिरूप ही होता था। प्रान्तीय अधिकारी वर्ग के शासन कार्य के समुचित निरीक्षण का कोई प्रबन्ध नहीं था। दूरस्थ प्रान्तों के सूबेदार तो प्रायः स्वतन्त्र राजाओं के समान ही व्यवहार करते थे। जब कोई सम्राट् अत्यन्त शक्तिशाली होता था, तब उसके भय से वे लोग कर तथा भेंट भेजते रहते थे। इसके सिवा सूबेदार लोग पूर्णतया स्वतन्त्र शासकों के समान होते थे। सूबेदारों के साथ साथ जागीरदार भी होते थे। जागीरें वंश-परम्परा के अनुसार एक ही वंश में बनी रहती थीं। सूबेदार तथा जागीरदार दोनों का मुख्य कर्त्तव्य यह था कि आवश्यकता पड़ने पर सुल-तान की सहायता के लिये सेना भेजें और स्वयं भी लड़ने को तैयार रहें।

नगरों के शासन का राज्य की ओर से प्रायः कम प्रबन्ध होता था। बड़े बड़े शहरों में एक कोतवाल (City-Magistrate) होता था जिसके बड़े विस्तृत अधिकार होते थे। कोतवाल नगर की रक्षा, सफ़ाई, बाज़ारों में क्रय विक्रय की देख-रेख तथा आवश्यक शासन करता था। वह छोटे छोटे झगड़ों का फ़ैसला भी करता और अपराधियों को दण्ड भी दे सकता था। छोटे क़स्बों और गाँवों में यह सब काम ग्राम पंचायतें करती थीं। भारतीय सामाजिक तथा राज

नीतिक संघटन की इस प्राचीन तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्था को मुसलमान शासकों ने नष्ट नहीं किया था।

सार्वजनिक वास्तु (Public Works)—पठान सम्राट् प्रायः मस्जिदें, क़बरें तथा किले और बावड़ियाँ बनवाते थे। सड़कों पर मुसाफिरों के लिये सराएँ और कूएँ बनवाते, और उनके दोनों ओर फलदार वृक्ष भी लगवाते थे। इस क्षेत्र में सबसे अधिक प्रशंसनीय कार्य गयासउद्दीन और फ़ीरोज तुग़लक ने किया था। फ़ीरोज़ को वास्तु-निर्माण का बड़ा शौक़ था। उसने फ़ीरोज़ाबाद, हिसार फीरोज़ा, जौनपुर आदि कई शहर बनवाये थे। ग़यासउद्दीन तुग़लक ने डाक का अच्छा प्रबन्ध किया था और स्थान स्थान पर डाक चौकियाँ बनवाई थीं।

शिक्षा—उस समय कोई स्वतन्त्र शिक्षा विभाग नहीं था। सामान्य शिक्षा का प्रबन्ध प्रजा अपने लिये स्वयं करती थी। हिन्दू पण्डित पाठशालाएँ चलाते थे जिनका निर्वाह दान के द्वारा होता था। मुसलमानों के मदरसे और मकतब मस्जिदों में होते थे। इनमें मुख्यतया कुरान की शिक्षा दी जाती थी। इनकी सहायता के लिये बादशाह लोग भूमि दान दे देते थे जिसकी आमदनी से उनका व्यय चलता था। बड़े बड़े शहरों जैसे देहली, बदाऊँ आदि में, उच्च शिक्षा के लिये महाविद्यालय और चिकित्सा के लिए शफ़ाख़ाने भी बनवाये जाते थे।

सिंहावलोकन—उपर्युक्त वर्णन से विदित हो गया होगा कि पठान साम्राज्य की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं थी। राजा की शक्ति को परिमित रखने का भी कोई उपाय नहीं था। प्रान्तीय शासन को सुसंघटित रखने के लिये कोई उपाय राजा के हाथ में नहीं था। सड़कों आदि के ख़राब होने के कारण दूरस्थ प्रान्त तो प्रायः स्वतन्त्र ही रहते थे। पठान शासन का विशेष प्रभाव शहरों पर ही देखने में आता था। वे देहातों में अपना कर वसूल करने के सिवा और कुछ न करते थे। शासन का आधार जनता की श्रद्धा और प्रेम पर नहीं वरन् केवल सैनिक बल पर था। पठान सुलतान तथा उनके साथी मुसलमान अपने को विदेशीय मानते थे और हिन्दुस्तानियों को घृणा एवं तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने यह कभी न समझा कि राज्य का आधार राष्ट्रीय अथवा जातीय एकता होनी चाहिए। इस सिद्धान्त को न समझ पाने के कारण ही पठान सल्तनत की बुनियाद कभी दृढ़ न हो सकी। उसकी निर्बलता का एक और भी कारण था। उनमें उत्तराधिकार का कोई सर्वमान्य नियम नहीं था। कुरान के निर्वाचन के सिद्धान्त का भी पालन करने के लिये कोई तैयार नहीं था। फलतः परस्पर मारकाट और झगड़े होते रहते थे। इससे राज्य की बहुत हानि होती थी।

चौथा अध्याय

पठान साम्राज्य का विच्छेद

मुहम्मद तुग़लक़ के राज्य-काल के उत्तरार्ध में विशाल पठान साम्राज्य के टुकड़े होने शुरू हो गये। ५०-६० बरस के अन्दर दिल्लीश्वर का राज्य राजधानी के इर्द गिर्द १०-२० मील से अधिक न रहा। इसके मौलिक कारणों पर हम यथास्थान विचार कर चुके हैं। तथापि यहाँ उनका सारांश दे देना अनुचित न होगा।

पठान साम्राज्य के ह्रास और नाश के कारण उसकी अन्तरात्मा में ही निहित थे। जिस राज्य का मूल आधार प्रजा की अनुमति और सहयोग पर आश्रित न हो, वह स्थायी नहीं रह सकता। एक अंग्रेज़ विद्वान् ने कहा है कि हम भाले की नोक से और सब कुछ कर सकते हैं, परन्तु उस पर बैठ नहीं सकते। सैन्य बल से किसी देश या जाति को जीता तो जा सकता है, परन्तु जीत लेना एक बात है, और उस पर एक स्थायी सुदृढ़ राज्य की स्थापना करना दूसरी बात है। दिल्ली के पठान सुलतानों ने सुव्यवस्थित और सुदृढ़ राज्य का यह मौलिक सिद्धान्त समझा ही नहीं कि जिस देश या जाति पर राज्य करना हो, राजा को उसी का एक अंग हो कर रहना और बरतना चाहिए। वे सदैव इसके विपरीत चलते रहे। उन्होंने भारतीय प्रजा के आदर्शों और आकांक्षाओं से सहयोग और सहानुभूति कभी न की, प्रत्युत् उसके प्रति विद्वेष का भाव ही रखते रहे। भारतीय जनता को वे विदेशी भी जान पड़ते थे और विधर्मी भी। उनकी आँख सदा ख़ैबर के उस पार लगी रहती थी। हिन्दुस्तानियों से वे विदेशियों की भाँति अलग ही रहना चाहते थे और उनके धर्म पर प्रहार करने का कोई अवसर हाथ से न जाने देते थे। इस नीति को छोड़ कर कम से कम अपने राज्य की सीमा के अन्दर ग़यासउद्दीन और मुहम्मद तुग़लक़ ने एक उदार नीति का श्रीगणेश किया था, परन्तु दैव उनके प्रतिकूल था। ग़यास को कार्य करने का बहुत थोड़ा अवकाश मिला। मुहम्मद तुग़लक़ के शुभ संकल्पों को कुछ तो दैव के प्रकोप ने और कुछ उसके उतावलेपन ने नष्ट कर डाला। दिल्ली के सुलतानों में इन दो को छोड़ कर और कोई शासक ऐसा न हुआ जिसने अपने विदेशी दृष्टिकोण या संकीर्ण धर्मान्धता को छोड़ा हो। मुहम्मद तुगलक़ के काल में

साम्राज्य चरम सीमा को प्राप्त हुआ। पंजाब से रास कुमारी तक और बंगाल से सिंध तक दिल्लीश्वर का ही दौर-दौरा था। इतने विस्तृत साम्राज्य को सँभालने, तथा सुव्यवस्थित रूप से उसका शासन करने के लिये आवश्यक है कि ऐसे विश्वसनीय मन्त्रियों, प्रान्ताधिकारियों और सैनिकों का एक मण्डल हो जिन्हें केवल शासन नीति के मौलिक सिद्धान्तों से बद्ध करके अपना कार्य करने के लिये पूरी स्वतन्त्रता से छोड़ दिया जाय और उन्हें अवसर दिया जाय कि वे अपने शासन को आदर्श और जनता को सुखी बना कर दिखलावें। इस प्रतिकेन्द्रीकरण (Decentralisation) की नीति का पालन एक इतने बड़े साम्राज्य के शासन की सफलता के लिये अत्यावश्यक था। परन्तु मुहम्मद की नीति इसके बिलकुल विपरीत थी। साम्राज्य जितना विस्तृत होता जाता था, उतना ही उसके केन्द्रीकरण की नीति बढ़ती जाती थी। उसके शक्कीपन और क्रोधी स्वभाव के कारण कोई बड़े से बड़ा राज-कर्मचारी भी निःशंक नहीं रह सकता था। न वह किसी पर पूरा विश्वास ही करता था। स्वाभाविक ही था कि प्रजा उसके रौद्र रूप को ही देख पाती। उसके शुभ प्रस्ताव उनकी समझ के भी परे थे और उसके नृशंस कामों की काली चादर के नीचे ढँक जाते थे। उसके अनुगामियों ने अपने धर्म के अनुसार प्रजा-हित के चाहे जितने कार्य किये हों, परन्तु वे उन सिद्धान्तों को न समझते थे जिनके आधार पर एक स्थायी राजनीतिक भवन का निर्माण हो सकता था।

अब हम उन मुख्य-मुख्य राज्यों का संक्षिप्त वर्णन नीचे देते हैं जो इस साम्राज्य के नष्ट होने से प्रादुर्भूत हुए—

(१) उत्तर भारत में जौनपुर और बंगाल।

(२) मध्य भारत में मालवा, गुजरात, सिन्ध और खानदेश। और

(३) दक्षिण में बहमनी और विजयनगर राज्य।

जौनपुर—आधुनिक जौनपुर की नींव सन् १३६० में बंगाल से लौटते समय सुलतान फीरोज़ ने डाली थी। सन् १३७६ में जौनपुर और जफ़राबाद का एक बहुत बड़ा सूबा बनाया गया और मलिक बहरोज़ सुलतान को उसका शासक बनाया गया। बहरोज़ ने बहुत ही जल्दी विद्रोह को दमन करके शान्ति स्थापित की और सूबे को संघटित किया। सन् १३९४ में मलिक सरवर को सुलतान महमूद तुग़लक़ ने उस प्रान्त का शासक बनाया और मलिक-उश्शर्क की उपाधि से अलंकृत किया। उसने केवल अवध पर ही अपना अधिकार नहीं जमाया, बल्कि पूरब में बिहार और तिरहुत तक और पश्चिम में कोइल तक का प्रदेश भी अधिकृत किया तथा लखनौती और जाजनगर से कर वसूल किया।

तैमूर के आक्रमण से फ़ायदा उठा कर उसने अपने को स्वतन्त्र बना लिया और अताबक़-ए-आज़म की उपाधि धारण की। जौनपुर को उसने अपनी राजधानी बनाया। सन् १३९९ में उसके बाद उसका दत्तक पुत्र क़रनफ़ाल, (करनफूल) मुबारक शाह के नाम से गद्दी पर बैठा। उसने अपना सिक्का भी चलाया। तैमूर के लौट जाने के बाद सुलतान महमूद के वज़ीर मल्लू इक़बाल ने जौनपुर पर चढ़ाई की, परन्तु सुलह करके लौट आया। सन् १४०२ में मुबारक की मृत्यु हो गई और उसका भाई इब्राहीम शाह गद्दी पर बैठा। उसने अपना नाम शम्सुद्दीन इब्राहीम शाह शर्क़ी रखा। इब्राहीम बड़ा चतुर तथा गुणवान था। सुलतान महमूद तुग़लक़ ने मल्लू इक़बाल के विरुद्ध उससे सहायता माँगी थी, परन्तु उसने इनकार कर दिया। सन् १४०७ में इब्राहीम ने देहली पर चढ़ाई की, परन्तु गुजरात के सुलतान मुज़फ्फर शाह के चढ़ आने के कारण उसे लौटना पड़ा। फिर मालवा के सुलतान होशंग शाह के साथ मिलकर उसने काल्पी पर चढ़ाई की, पर वहाँ से भी बिना कुछ लिये लौट आया।

सन् १४१४ से खिज्र खाँ सैयद के सुलतान हो जाने के बाद देहली की तरफ़ से कोई आशंका न रही और उसने बड़ी शान्ति से राज्य किया। उसने शासन को व्यवस्थित किया। मुसलमान लेखक लिखते हैं कि वह उदार बादशाह था, परन्तु धर्म का पक्षपात उसमें भी कम न था। हिन्दुओं के सैकड़ों मन्दिरों को तोड़ कर उनकी सामग्री से उसने अटालादेवी मस्जिद बनवाई। इस स्थान पर पहले अटाला देवी का मन्दिर था। तथापि वह बड़ा गुणग्राही और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके दरबार में बड़े बड़े विद्वान् तथा कलावन्त रहते थे। उसने जौनपुर को एक बड़ा प्रसिद्ध विद्यापीठ बना दिया था। देहली निवासी क़ाज़ी शहाब-उद्दीन ने, जो अपने समय का सबसे प्रसिद्ध विद्वान् था, उसी के दरबार में जा कर शरण ली थी। उसने शरह-ए-हिन्दी और ईशार-उल-नह्व इत्यादि कई ग्रन्थ रचे थे।

इब्राहीम सन् १४३६ में मर गया और उसका लड़का महमूद शाह सुलतान हुआ। महमूद ने कई बार दिल्ली पर चढ़ाई की, परन्तु बहलोल लोदी ने उसे पीछे हटा दिया। वह भी बड़ा योग्य था। कला और साहित्य को उसने भी पर्याप्त प्रोत्साहित किया। महमूद शाह की मृत्यु सन् १४५७ में हुई। उसका लड़का मुहम्मद बड़ा क्रूर हुआ। उसने अपने एक भाई को बड़े धोखे से मरवा डाला और बाक़ी भाइयों को भी मरवाने की चेष्टा करने लगा, परन्तु उनको ख़बर हो गई। सब अमीर उससे अलग हो गये और वह बच कर भागना चाहता था कि उसके भाइयों ने उसे मरवा डाला। फिर उसका भाई हुसैन

बादशाह हुआ। यह जौनपुर के स्वतन्त्र बादशाहों में अन्तिम हुआ। देहली पर चढ़ाई करने पर बहलोल लोदी ने उसको पराजित किया और सन् १४८६ में अपने लड़के बारबक को जौनपुर का शासन सपुर्द कर दिया। हुसैन भाग कर बंगाल चला गया और फिर कभी उसने जौनपुर को वापस लेने की चेष्टा न की।

जौनपुर की कला और साहित्य—जौनपुर की बादशाहत केवल ८० वर्ष के क़रीब रही, परन्तु इस अवकाश में वहाँ पर कला और साहित्य की काफ़ी उन्नति हुई। इब्राहीम के काल में जौनपुर शीराज़-ए-हिन्द कहलाने लगा था। हुसैन संगीत का बड़ा प्रेमी था, परन्तु उसका सबसे अधिक स्थायी कार्य वास्तु-कला के क्षेत्र में हुआ। शर्क़ी बादशाहों ने कई बड़ी बड़ी मस्जिदें तथा महल बनवाये। उनके महलों को तो लोदियों ने नष्ट कर दिया, परन्तु मस्जिदें अब तक बाक़ी हैं। इन मस्जिदों की रचना शैली बिलकुल निराली है। इनमें मीनारों के बजाय बीच के दरवाज़े के सामने दो बड़े भारी सूच्यग्र (Fylon) बनाये गये हैं और उनको स्तम्भ रूप मान कर उनके बीच में एक बड़ी ऊँची मेहराब दी गई है। इस प्रकार की रचना और कहीं नहीं पाई जाती। पाइ-लनों के अत्यन्त भारी और सूच्याकार होने से ग़यासउद्दीन तुग़लक़ के मक़बरे का आभास उनमें जान पड़ता है और वे मिस्र के पिरेमिडों की याद दिलाते हैं। इन पाइलनों की कई मंज़िलें हैं और उनके अन्दर जीना भी है। ये मस्जिदें बहुत सुन्दर खुदाई के काम से सुसज्जित हैं। इनके बनानेवाले प्रायः हिन्दू कारीगर थे।

बंगाल—इख्तियार उद्दीन की विजय के बाद बंगाल में उसके वंशज राज्य करते रहे। यह सूबा प्रायः स्वतन्त्र ही रहता था। बलबन ने १३ वीं सदी के अन्तिम भाग में इसे जीत कर अपने लड़के बुग़रा को उसका शासक बनाया। तबसे बलबनी वंश के बादशाह उस पर राज्य करते रहे। इसके बाद बंगाल के तीन विभाग हो गये थे। लक्ष्मणावती (लखनौती), सुवर्णग्राम (सुनारगाँव) और सप्तग्राम (सातगाँव या चटगाँव)। तुग़लक़ शाह ने बंगाल पर फिर अधि-कार दृढ़ कर लिया था, परन्तु मुहम्मद तुग़लक़ के काल में वह फिर स्वतन्त्र हो गया। सन् १३५६ में फ़ीरोज़ तुग़लक़ ने इलियास शाह को समस्त बंगाल का स्वतन्त्र शासक मान लिया। मुसलमान लेखकों के कथन से मालूम होता है कि इलियास बड़ा अच्छा शासक था। उसके राज्य में प्रजा सुखी थी और देश धन-धान्य से भरपूर था। इलियास के बेटे सिकन्दर ने सन् १३५८-८९ तक राज्य किया। उसका शासन भी अच्छा रहा। वह बहुत कलाप्रेमी था। उसने पाण्डुआ में अदीना मस्जिद बनवाई जो बंगाल के मुस्लिम वास्तु में

सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। सैयद और लोदी वंश के काल में बंगाल के बादशाहों की शक्ति और भी बढ़ गई। इसके बाद हुसैन शाह (१४९३–१५१८) बड़ा प्रतापी हुआ। जौनपुर का अन्तिम राजा हुसैन उसी की शरण में जा कर रहा था। हुसैन का शासन भी बहुत उन्नतिशील तथा शान्तिमय रहा। नुसरत शाह (१५१८–३३) ने तिरहुत को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। जब बाबर ने बंगाल पर चढ़ाई की, तब उसने संधि कर ली। बाबर की मृत्यु के बाद लोदी अफ़गानों ने बिहार और बंगाल में फिर ज़ोर पकड़ा और अपना प्रभुत्व स्थापित किया। फिर शेर शाह ने बंगाल को अधिकृत किया। उसके बाद बंगाल में करारानी वंश स्थापित हुआ। सन् १५७६ में सम्राट् अकबर ने इस वंश के अन्तिम बादशाह दाऊद को निकाल कर बंगाल को साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

बंगाल में कई शासक बड़े कला-प्रेमी तथा विद्याव्यसनी हुए। उन्होंने गौड़ में बहुत सी इमारतें बनवाईं जो अब तक विद्यमान हैं। बंगाल की इमारतें ईंटों की बनी हुई हैं, कारण कि वहाँ पत्थर मिलता न था। अदीना मस्जिद के अतिरिक्त गौड़ में और भी कई इमारतें बनवाई गईं जो अत्यन्त सुन्दर हैं। ये इमारतें भी अधिकांश हिन्दू मन्दिरों के मसालों से बनवाई गईं थीं।

मालवा—सबसे पहले अल्तमश ने मालवे पर हमला किया था। परन्तु सन् १३१० में उसे खिल्जी साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। सन् १४०१ में सुलतान फीरोज का जागीरदार दिलावर खाँ गोरी, जो मुहम्मद गोरी का वंशज था, स्वतन्त्र हो गया। उसने धार को राजधानी बनाया। उसके लड़के उल्प खाँ ने दिलावर को सन् १४०६ में विष दे दिया और स्वयं होशंग शाह की उपाधि धारण करके सुलतान हुआ। होशंग ने माण्डू को राजधानी बनाया और वहाँ बहुत से महल बनवाए। मालवे की राजनीतिक स्थिति बहुत संकटमय थी। वहाँ भूमि बहुत उर्वरा और हरी-भरी थी। वह चारों ओर बड़े-बड़े राज्यों से घिरा हुआ था। पश्चिम में गुजरात, उत्तर में चितौड़ का सीसोदिया राज्य और दक्षिण में बहमनी राज्य था, और इन सब से मालवे के सुलतानों की लड़ाई होती रहती थी। सन् १४०७ में गुजरात के राजा मुजफ्फर खाँ ने उस पर हमला किया और उसे पकड़ ले गया। उसके स्थान पर वह अपने भाई नसरत खाँ को मालवे का शासक बनाता गया। नसरत के अत्याचारों के कारण सेना ने उसे निकाल दिया और होशंग के भाई को राजा चुन लिया। तब मुज़फ्फर ने अपने मान की रक्षा के लिये अपने पौत्र अहमद खाँ को भेज कर माण्डू में बहाल करा दिया।

सन् १४३५ में होशंग की मृत्यु हुई। उसका लड़का ग़ज़नी खाँ अत्यन्त

विलासी और अधम था। उसके वजीर महमूद खाँ खिल्जी ने उसे कत्ल करके राज्य छीन लिया और सन् १४३६ से १४६९ तक राज्य किया। फरिश्ता ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है। उसके शासन काल में मालवे की बड़ी उन्नति हुई। उसकी शक्ति बढ़ी और जनता सुखी हुई। महमूद खिल्जी बड़ा गुणवान था। वह एक चतुर शासक, शूर वीर सैनिक, विजेता, न्यायप्रिय और उदारचरित मनुष्य था। वह बड़ा विद्वान भी था। उसने गुजरात, बहमनी राज्य तथा राजपूतों से कई लड़ाइयाँ लड़ीं। उसने अपने राज्य को बहुत विस्तृत किया। दक्षिण में सत्पुड़ा तक, पच्छिम में गुजरात की सीमा तक, पूरब में बुन्देलखण्ड तक और उत्तर में मेवाड़ तक अपना राज्य बढ़ाया। सीसोदिया वंश की प्रधानता का प्रवर्तक राणा कुम्भकरण (कुम्भा) उसका समकालीन था। दोनों में कई बार बड़े युद्ध हुए। एक बार दोनों ने अपने अपने को विजेता मान लिया और राणा कुम्भा ने चितौड़गढ़ में और महमूद ने माण्डू में अपना विजयस्तम्भ बनवाया। माण्डू का स्तम्भ तो कभी का नष्ट हो गया, परन्तु राणा कुम्भा का विजय-स्तम्भ आज तक चित्तौड़गढ़ में विद्यमान है और दर्शकों को अपने निर्माता की महत्ता का स्मरण दिलाता है। सन् १४४० में गुजरात के बादशाह अहमद शाह प्रथम ने गजनी खाँ के लड़के मसऊद खाँ को तख्त पर बैठाने के बहाने से मालवे पर हमला किया, परन्तु उसे पराजित होकर लौटना पड़ा। महमूद खाँ के बाद उसके लड़के गयासुद्दीन ने सन् १४६९ से १५०० तक राज्य किया। उसके लड़के नासिर ने उसे जहर दे दिया। यह बड़ा निर्दय और विचित्र प्रकृति का मनुष्य था। नमाज का बड़ा पक्का पाबन्द था, परन्तु साथ ही अत्यन्त विलासी और पतित भी था। कहते हैं कि उसके हरम में ८५००० स्त्रियाँ थीं जिनसे वह दस्तकारी कराता था। सन् १५१० में वह झील में डूब कर मर गया। उसके बाद उसी वर्ष अलाउद्दीन शाह महमूद द्वितीय गद्दी पर बैठा। वह मालवे का अन्तिम मुसलमान राजा था। उसकी निर्बलता के कारण उसके अमीर लोग अत्यन्त प्रबल और भयानक हो गये। उसने अपने पिता के हिन्दू वजीर वसन्त राय को उसके पद पर फिर से आरूढ़ कर दिया। इसको मुसलमान अमीर न सह सके। उन्होंने वसन्त राय को कत्ल कर दिया और बादशाह के खिलाफ बलवा कर दिया। तब उसने मालवे के एक छोटे से प्रान्त के शासक मेदिनीराव राजपूत को अपनी सहायता के लिये बुलाया और उसे वजीर बनाया। मेदिनी राव ने उसके शत्रुओं को तो दबाया, परन्तु स्वयं बादशाह पर हावी हो गया। तब इस निःशंक बादशाह ने गुजरात के मुजफ्फर शाह से सहायता माँगी। उसने आकर मेदिनीराव को निकाला।

महमूद द्वितीय ने एक बार राणा साँगा से लड़ाई की, परन्तु पराजित हुआ। राणा साँगा ने उसे कैद कर लिया, परन्तु पीछे से मुक्त करके वापस भेज दिया। महमूद ने चित्तौड़ पर फिर चढ़ाई कर दी, परन्तु उसे पीछे हटना पड़ा।

सन् १५३१ में गुजरात के बादशाह बहादुर शाह ने उसपर चढ़ाई करके उसे सपरिवार कत्ल कर दिया और मालवे का राज्य गुजरात में सम्मिलित कर लिया।

परन्तु १५३५ में हुमायूँ ने बहादुर शाह को मालवे से निकाल दिया। इतने में हुमायूँ को उत्तर की ओर जाना पड़ा। उसके पीछे एक अमीर कादिर खाँ ने अन्य अमीरों को दबा कर अपना स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिया। इसका राज्य १५४२ में शेर शाह ने नष्ट किया और शुजाअत खाँ को मालवे का शासक बनाया। जब हुमायूँ १५५५ में फिर से देहली का बादशाह हुआ, तब शुजाअत खाँ ने उसका आधिपत्य स्वीकार न किया। उसी वर्ष उसकी मृत्यु हो गई और उसका लड़का बायज़ीद (बाज बहादुर) उसका स्थानापन्न हुआ। उसने गोंडवाना की रानी दुर्गावती पर आक्रमण किया जिसने उसको बुरी तरह हराकर अपने देश से भगा दिया। १५६१ में अकबर की सेना ने मालवे को विजय कर लिया। बाज बहादुर और उसकी प्रेमिका रूपमती की कहानी प्रसिद्ध है।

मालवे के मुसलमान राजाओं ने माण्डू में बड़े-बड़े महल और मसजिदें बनवाईं। इनको देखकर सम्राट् जहाँगीर बड़ा प्रभावित हुआ था और उसने इनकी मरम्मत पर कई लाख रुपये व्यय किये थे। परन्तु मालवे का वास्तु देहली की शैली की नकल ही है। उसके भग्नावशेष अब तक विद्यमान हैं।

गुजरात—गुजरात को पहले-पहल अलाउद्दीन खिल्जी ने सन् १२१७ में जीतकर देहली की सलतनत में सम्मिलित किया था। तभी से वह उसका एक प्रान्त रहा। तैमूर के हमले के बाद वहाँ का सूबेदार ज़फर खाँ स्वतन्त्र हो गया। उसके लड़के तातार ने उसे कैद कर दिया। इस अनुचित कार्रवाई पर अमीरों ने तातार को पकड़कर मार डाला और जफ़र खाँ को फिर गद्दी पर बैठा दिया। उसने मुजफ्फर खाँ (प्रथम) के नाम से राज्य करना शुरू किया। उसकी मालवे के राजा होशंग पर चढ़ाई इत्यादि का वर्णन हम कर चुके हैं। सन् १४११ में मुजफ्फर के पोते अहमद ने उसे विष दे दिया और स्वयं बादशाह बन गया। अहमद शाह इस वंश का पहला प्रसिद्ध बादशाह था। उसने पहले ही साल प्राचीन नगर कर्णावती के स्थान पर साबरमती नदी के बायें किनारे एक नया शहर बसाया। यही आधुनिक अहमदाबाद है। अहमद शाह बड़ा वीर और प्रतापी बादशाह था और साथ ही अपने धर्म का बड़ा पक्षपाती भी था। उसने

जन्म भर हिन्दू धर्म को नष्ट करने का प्रयत्न किया, मन्दिरों को तोड़ा फोड़ा, पवित्र तीर्थस्थानों को अपवित्र किया एवं हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाया। अपने राज्य का विस्तार करने के लिये वह इर्द-गिर्द के बादशाहों से बराबर लड़ता रहा। सन् १४१४ में उसने गिरिनार के राय मण्डलीक से जूनागढ़ छीना और सन् १४१५ में सिद्धपुर का मन्दिर तोड़ा। सन् १४२१ तक दो बार माण्डू पर हमले किये, परन्तु होशंग ने क्षमा माँग ली और सुलह कर ली। फिर तीन वर्ष तक वह शासन-संघटन में लगा रहा। सन् १४२४ में उसने ईडर के राव को पराजित किया और उसे मारकर उसकी जागीर उसके बेटे को दी जिसने कर देने का वादा किया। सन् १४३७ में उसने होशंग के पोते मसऊद को माण्डू की गद्दी पर बैठाने के लिये महमूद खिलजी पर हमला किया। परन्तु सेना में बीमारी फैल जाने के कारण उसे लौटना पड़ा। सन् १४४१ में उसकी मृत्यु हो गई। शासन करने में वह बहुत न्यायप्रिय था। किसी को केवल उच्च कुलोत्पन्न होने के कारण या बिना योग्यता के पद नहीं देता था। न्याय करने में वह इतना पक्का था कि एक निरपराध मनुष्य को वध करने के कारण उसने अपने दामाद को सबके सामने फाँसी पर चढ़वा दिया। उसके बाद मुहम्मद शाह जरबख्श ने सन् १४५१ तक राज्य किया। उसने चाँपानेर के हिन्दू राजा को पराजित किया। उसके पुत्र कुतुबुद्दीन ने व्यर्थ कई बार चित्तौड़ पर चढ़ाई की। वह सन् १४५९ में मरा और राज्य में कुछ झगड़ों के बाद अहमद (प्रथम) का एक पोता महमूद शाह बीगड़ के नाम से गद्दी पर बैठा। यह इस वंश का सबसे प्रसिद्ध तथा महान् राजा था। इसने बावन बरस (१४५९-१५११) तक राज्य किया। यह बहुत ही असाधारण मनुष्य था। इसकी मूँछ दाढ़ी बहुत लम्बी थी। भूख इसकी इतनी थी कि २० सेर अन्न रोज खाता था। इसके अलावा वह रात को पाँच सेर पके हुए चावलों का हलवा सा बनवा कर अपने पलंग के दोनों तरफ आधा आधा रखवा लेता था, ताकि जिस तरफ आँखें खुल जायँ, उसी तरफ फौरन खाने लगे। सुबह वह एक कटोरा शहद, एक कटोरा मक्खन और १०० या १५० केलों का नाश्ता करता था।

बीगड़ के शासन-काल की घटनाएँ—सन् १४६१ में उसने महमूद ख़िल्ज़ी (मालवा) के दबाव से निजाम शाह बहमनी को बचाया। सन् १४६७ में उसने सूरत (सोरठ, सौराष्ट्र) लिया और जूनागढ़ के राय को फिर से हराया। कच्छ को भी उसने अपने राज्यान्तर्गत कर लिया। समुद्र-तट के राज्यों के समुद्री लुटेरों को उसने दमन किया। सन् १४८४ में उसने चाँपानेर के हिन्दू राव को मार करके उसका राज्य छीन लिया। इसी समय

पुर्तगालियों का आगमन पश्चिमी किनारे पर शुरू हुआ था। उनके आने से अरबी देशी व्यापारियों की बड़ी हानि हुई। उसने एक जलसेना तैयार की और तुर्किस्तान (टर्की) के सुलतान ने भी उससे संधि करके एक सेना भेजी; परन्तु बड़े घोर युद्ध के बाद सन् १५०९ में मुसलमानों की हार हुई और एशियाई जातियों का समुद्री व्यापार बन्द हो गया। वह सन् १५११ में मर गया। वह बड़ा न्यायशील, शूर-वीर और प्रतापी राजा था।

इसके बाद तीसरा प्रसिद्ध राजा बहादुर शाह (१५२६–३७) हुआ। इसने मालवे को अपने राज्य में मिला लिया था तथा चँदेरी, चित्तौड़ आदि पर हमले किये थे। १५३६ में उसे हुमायूँ ने गुजरात से निकाल दिया। हुमायूँ के पतन के बाद गुजरात के सरदार और अमीर आधिपत्य के लिये लड़ते रहे। सन् १५७२ में अकबर ने उसे विजय कर लिया।

खान्देश—यह छोटा सा राज्य ताप्ती नदी की घाटी में था। इसकी स्थिति भी बहुत महत्वपूर्ण थी। इसके उत्तर में विन्ध्याचल, दक्षिण में बहमनी राज्य, पूरब में बरार और पच्छिम में गुजरात था। यह देश दो नदियों के बीच में होने के कारण बहुत हरा-भरा था। इसकी भूमि बहुत उर्वरा थी। यहाँ खनिज पदार्थ (जैसे टीन इत्यादि) भी बहुत पैदा होते थे और इसके बन्दरगाहों के द्वारा समुद्री आयात-निर्यात का व्यापार होता था। इस राज्य का प्रवर्त्तक मलिक अहमद था जो मलिक राजा फ़ारुकी के नाम से प्रसिद्ध है। पहले वह बहमनी राज्य में एक सरदार था। वहाँ सन् १३६५ में उसने विद्रोह किया और भाग कर ताप्ती के किनारे थालनेर में आकर बसा। यहाँ सन् १३८२ तक उसने इर्द-गिर्द के प्रदेशों को जीत कर स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। उसके लड़के नसीर ने हिन्दू सरदार आसा से धोखे से आसीरगढ़ का किला छीन लिया। वह सन् १४३७ में मर गया। नसीर के उत्तराधिकारियों ने सन् १५१० तक अपने राज्य का कोई विस्तार नहीं किया, परन्तु वे शान्ति से राज्य करते रहे। इस अवकाश में देश के व्यापार और दस्तकारी आदि की बहुत उन्नति हुई। वहाँ के सोने-चाँदी के तार (कलाबत्तू) तथा बारीक मलमल प्रसिद्ध थी। परन्तु इसके बाद उसके शासक निर्बल और अयोग्य हुए। इस कारण राज्य में लड़ाई-झगड़े शुरू हो गये। सन् १६०१ में अकबर ने खानदेश को विजय करके मुगल साम्राज्य में मिला लिया।

सिन्ध—अरबी राज्य का अन्त हो जाने के बाद से सिन्ध पर एक राजपूत वंश राज्य करता था। १३ वीं सदी में उससे देहली के दास वंशीय सुलतानों ने सिन्ध छीन लिया था। परन्तु सन् १३३६ में एक नये जाम वंशीय राजपूतों ने

अपने देश को स्वतन्त्र किया। सन् १५२० में जाम को कन्धार के शासक ने पराजित करके भगा दिया। फिर थोड़े दिन बाद उसने मुलतान को भी अधिकृत कर लिया। सन् १५९० में सिन्ध अकबर के साम्राज्य में आ गया। सिंध का छोटा सा राज्य, बीच में एक बड़े बीहड़ रेगिस्तान के आ जाने के कारण, शेष हिन्दुस्तान से इतना पृथक् सा था कि भारतीय राजनीति पर उसका कोई विशेष प्रभाव न पड़ा।

बहमनी राज्य—बहमनी राज्य की स्थापना का वर्णन मुहम्मद तुगलक के प्रकरण में ऊपर किया जा चुका है। इस वंश के प्रवर्त्तक हसन ने अपना नाम अबुलमुजफ्फर अलाउद्दीन हसन बहमान शाह रक्खा। वह फारस के प्राचीन बादशाह बहमान शाह का वंशज होने का दावा करता था *।

दक्षिण के इन राज्यों की स्थापना की परिस्थिति समझने के लिये वह की तत्कालीन राजनीतिक प्रगतियों को स्पष्टतया समझ लेना आवश्यक है। पहले तो यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि दक्षिण में दिल्ली की सल्तनत का संघटन अथवा आधिपत्य कभी दृढ़ नहीं हो सका था; और दूसरे वहाँ के हिन्दू राज्य बिलकुल नष्ट नहीं हुए थे। दक्षिण की हिन्दू जनता में इस समय एक राष्ट्रीय जाग्रति उत्पन्न हो गई थी। वे स्वाधीनता के लिये सचेष्ट हो गये थे। तीसरे दक्षिण की मुसलमान जनता में एक बड़ा भाग विदेशी अमीरों का था जो प्रायः फ़ारस के थे। ये लोग शीया थे और बड़े चतुर, सभ्य और बुद्धिमान होते थे। फलतः ये लोग स्वाधीन होने की आकांक्षा भी रखते थे और किसी प्रकार का अन्याय अथवा धार्मिक पक्षपात भी सहन न कर सकते थे। देहली के सम्राट् सुन्नी थे, इस कारण भी वे इन अमीरों को पसन्द न करते थे। मुहम्मद तुग़लक की नीति ने इनको स्वाधीन होने का जल्दी ही अवसर दे दिया।

दक्षिण की राजनीति में कुछ और भी ऐसी बातें थीं जिनका प्रभाव बराबर दक्षिण के राज्यों पर पड़ता रहा। बहमनी और विजयनगर दोनों राज्य शुरू ही से बराबर रायचूर दोआब के लिये लड़ते रहे। विजयनगर राज्य के कारण

---

* फरिश्ता के आधार पर पहले आधुनिक लेखकों ने यही मान लिया था कि हसन बचपन में गंगू नामी ब्राह्मण का नौकर या गुलाम था, और अपने स्वामी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये उसने अपना नाम 'ब्राह्मनी' या 'बाहमनी' रखा था। परन्तु मेजर हेग ने सिद्ध किया है कि यह बात बिलकुल निराधार है। हसन ने कभी अपना नाम 'ब्राह्मनी' नहीं रखा। उसके सिक्कों पर, एक मस्जिद के शिला-लेख पर, तथा अन्य पुस्तकों में भी उसका राजकीय नाम बाहमान शाह है। इसी कारण उसके उत्तराधिकारी 'बहमनी' कहलाये।

बहमनी राज्य का दक्षिण की ओर तो विस्तार रुक ही गया, परन्तु इससे भी अधिक प्रभाव यह हुआ कि बहमनी शासक उत्तर की ओर भी अपना विस्तार न कर पाये। दोनों राज्य लगभग समान शक्ति के थे, इसलिये दोनों में बराबर संघर्ष होता रहा। दूसरी विशेष बात बाहमनी राज्य में यह थी कि वहाँ के विदेशी मुसलमान अमीर लोग हर प्रकार से हिन्दुस्तानी छोटे दर्जों के मुसलमानों तथा हबशी लोगों से (जो वहाँ आ बसे थे) सामान्यतया अधिक चतुर और बुद्धिमान होते थे। राज्य में ऊँचे ऊँचे पद इन्हीं लोगों को मिलते थे। परन्तु इनकी संख्या थोड़ी थी। देशी मुसलमान इनसे बहुत ईर्ष्या करते थे। कई बार इन बाहरी अमीरों को शत्रु-दल ने कत्ल कर डाला। काले हबशी लोग भी सुन्नी थे और हिन्दुस्तानियों के साथ मिल जाते थे। यही वैमनस्य इस राज्य के नाश का एक बड़ा कारण हुआ।

हसन बहमान शाह ने सन् १३४७ में गुलबर्ग (कुलबर्गा) को राजधानी बनाया। उसका राज्य उस समय बरार ज़िले के अन्दर ही परिमित था। चारों ओर स्वाधीन हिन्दू राज्य विद्यमान थे। हसन ने सब से पहले राज-विस्तार करना शुरू किया और आस-पास के कई क़िले अधिकृत कर लिये। तब उसने शासन को सुव्यवस्थित किया। अपने राज्य को चार 'तरफ' या प्रान्तों में विभक्त किया। इनके मुख्य नगर थे गुलबर्ग, दौलताबाद, बरार और बीदर। गुलबर्ग प्रान्त की सीमा पच्छिम में घाट के पहाड़ों तक और बाद में समुद्र तक पहुँच गई। दौलताबाद गुलबर्ग के उत्तर में था। उसकी उत्तरी सीमा पर खान्देश और बगलान के राज्य थे। दौलताबाद के उत्तर-पूरब में बरार था, और बीदर उसके नीचे तैलिङ्गाना के भाग में स्थित था। सन् १३५८ में उसकी मृत्यु के बाद उसका लड़का मुहम्मद (प्रथम) गद्दी पर बैठा। सन् १३६१ में मिस्र के खलीफ़ा ने उसका दक्षिण का बादशाह होना स्वीकार किया। मुहम्मद ने शासन-प्रबन्ध को बहुत ही नियमित तथा उन्नत किया। उसकी शासन-पद्धति इतनी अच्छी थी कि बहमनी राज्य के टुकड़े हो जाने पर भी उनमें प्रचलित रही। उसने केन्द्रीय सरकार में आठ मन्त्रियों को नियुक्त किया—(१) प्रधान मंत्री, (२) निरीक्षण मन्त्री, (३) अर्थ मन्त्री, (४) परराष्ट्र मन्त्री, (५) उप अर्थ मन्त्री, (६) पेशवा, प्रधान मन्त्री का सहायक, (७) कोतवाल, अर्थात् पुलिस विभाग का अधिपति और (८) न्यायाधीश जो धर्म-विभाग का भी अधिकारी था। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से छोटे बड़े अधिकारी नियुक्त किये गये। इनमें सरे-नौबत या सेनाध्यक्ष का नाम उल्लेखनीय है। प्रान्ताधिकारी लोगों की शक्ति बहुत अधिक थी।

वे अपने प्रान्त में सर्व-शक्तिमान् से थे। सेना का संघटन करना, कर उगाहना, न्याय करना इत्यादि सभी काम उनके अधिकार में थे। मुहम्मद के समय में विजयनगर से युद्ध छिड़ गया, जो बराबर तब तक चलता रहा जब तक दोनों वंश विद्यमान रहे। तीसरे सुलतान मुजाहिद (१३७५–७८) ने रायचूर दोआब पर पूरी तरह से अधिकार कर लिया। फिर पाँचवें बादशाह मुहम्मद द्वितीय (१३७८–१३९७) के शासन-काल में बड़ी शान्ति रही। कोई लड़ाई नहीं हुई। साहित्य और कला की उन्नति हुई। सुलतान बहुत विद्याप्रेमी था और स्वयं कविता करता था। उसने फ़ारिस के प्रसिद्ध कवि हाफ़िज को आमन्त्रित किया था, परन्तु वह समुद्र में तूफ़ान आने से डर कर शीराज़ लौट गया। इतना विद्याप्रेमी होते हुए भी अन्य सुलतानों की तरह वह धार्मिक पक्षपात से बरी नहीं था।

उसके बाद आठवें सुलतान ताजउद्दीन फीरोज़ (१३९७–१४२२) के समय में विजयनगर के राय से फिर लड़ाई शुरू हुई। यह लड़ाई बराबर देवराय के काल तक जारी रही। जान पड़ता है कि इस संग्राम में विजय-नगर को कई बार हारना पड़ा और बहमनी राजा ने उसे बड़ी क्षति पहुँचाई। फरिश्ता कहता है कि देवराय को अपनी लड़की बहमनी सुलतान को देनी पड़ी। यह उसकी सरासर गढ़न्त जान पड़ती है, क्योंकि बुरहान-ए-मआसिर का समकालीन लेखक, जो फ़रिश्ता से कहीं अधिक विश्वसनीय है, कहीं इसका ज़िक्र तक नहीं करता। न शिलालेखों में ही इसका कोई जिक्र पाया जाता है।

नवाँ सुलतान अहमद (१४२२–३५) था जिसने तिलंगाना के राजा को मार कर उसका राज्य अपने अधिकार में कर लिया। दसवाँ बादशाह अलाउद्दीन अहमद (१४३५–५८) था। इसके समय में विजयनगर की फिर इतनी बुरी हार हुई कि राजा ने बहमनी सुलतान को कर देने का वचन दिया और उसका आधिपत्य स्वीकार किया। १२ वें सुलतान निज़ाम के समय में विदेशी और हिन्दुस्तानी अमीरों में झगड़े शुरू हो गये। निजाम ने सन् १४६१ से १४६३ तक राज्य किया। १३ वें बादशाह मुहम्मद तृतीय ने सन् १४६३ से १४८२ तक राज्य किया। ये बादशाह पतित और निर्बल होते जा रहे थे। प्रान्तीय अमीर इतने प्रबल होते जा रहे थे कि बादशाह से कोई न दबता था। सलतनत के टुकड़े होने में देर न थी। सौभाग्य से बहमनी सुलतानों को एक अत्यन्त चतुर नीतिज्ञ और सच्चा हितैषी राजमन्त्री मिल गया था जिसने सलतनत को खण्डित होने से बचा रखा था। इसका नाम महमूद गावान था और यह ईरानी (फ़ारसी) था। गावान ने शासन के

प्रत्येक विभाग में सुधार किये और बड़ी योग्यता से उसका संचालन दो पीढ़ियों तक किया। उसने सेना की सब बुराइयों को दूर करके फिर से उसमें नियम-पालन और कार्य-कौशल इत्यादि गुणों को प्रोत्साहन दिया। परन्तु दक्षिणी अमीर उससे डाह करते थे। उन्होंने उसके विरुद्ध एक षड्यन्त्र रचा और एक बनावटी चिट्ठी के द्वारा बादशाह को यह विश्वास दिला दिया कि गावान, विजयनगर के राय से मिलकर उस (बादशाह) को नष्ट करके स्वयं सुलतान बनने की चेष्टा कर रहा है। बादशाह ने शराब के नशे में बिना कुछ सोचे-समझे गावान को कत्ल करा दिया। इस प्रकार उस समय का सर्वोत्कृष्ट मनुष्य, गावान ईर्ष्या के हाथों नष्ट हुआ। उसके साथ ही बहमनी राज्य का सितारा भी डूब गया। उसका संघटन, दृढ़ता तथा व्यवस्था सब ढीले पड़ गये और शीघ्र ही सब सूबेदार स्वतन्त्र होने लगे। बहमनी राज्य के पाँच टुकड़े हो गये। इनका वर्णन करने से पहले महमूद गावान के चरित्र के बारे में दो शब्द कहना आवश्यक है।

गावान केवल अच्छा नीतिज्ञ और शासक ही न था, बल्कि उसका निजी जीवन भी अत्यन्त उत्तम एवं उच्च था। वह बहुत सादा जीवन व्यतीत करता था। उसका चरित्र अत्यन्त पवित्र था। उस समय के अमीरों और सरदारों की सामान्य बुराइयाँ उसमें न थीं। वह बड़ा वीर, साहसी, उदार, एवं न्यायशील था। वह स्वयं बड़ा विद्वान् था और अपना अधिक समय विद्वानों की संगत में व्यतीत करता था। उसने बीदर में एक महाविद्यालय खोला था जिसमें एक बड़ा भारी पुस्तकालय था। इसमें ३००० पुस्तकें थीं। दिन भर शासन का काम करने के बाद वह अपने महाविद्यालय में जाता और वहाँ विद्वानों के साथ बात-चीत तथा अध्ययन करने में समय लगाता। वह गणित तथा चिकित्सा-शास्त्र का विद्वान था और सुन्दर अक्षर लिखने की कला का तो वह बहुत बड़ा ज्ञाता माना जाता था। उसने कई पुस्तकें भी लिखी थीं। पर एक पक्के मुसलमान के समान हिन्दुओं के मन्दिरों और मूर्तियों का वह भी बहुधा नाश ही करता था।

बहमनी राज्य में से निम्नलिखित राज्य निकल कर अलग हुए थे—

(१) इमादशाही वंश, बरार में।

(२) निज़ामशाही, अहमदनगर में।

(३) आदिलशाही, बीजापुर में।

(४) कुतुबशाही, गोलकुण्डा में। और

(५) बरीदशाही, बीदर में।

सब से पहले बरार के सूबेदार फतहउल्लाह इमादशाह ने अपने को बरार में स्वतन्त्र बनाया। उसके वंश ने कोई ७४ वर्ष राज्य किया। फिर वह निज़ाम-शाही राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

आदिलशाही वंश का प्रवर्त्तक यूसुफ़ आदिल शाह एक ग़ुलाम था जिसे गावान ने ख़रीदा था। गावान ने उसको एक उच्च पद पर नियुक्त किया था। उसने सन् १४८९ में स्वाधीनता प्राप्त कर ली। यूसुफ़ आदिल ने निकटवर्ती सरदारों से लड़ाइयाँ कीं और अपनी शक्ति खूब बढ़ाई। वह बहुत ही योग्य और उदार मनुष्य था। उस समय वही एक ऐसा मनुष्य था जिसमें धर्म का कुछ भी पक्षपात न था। धर्म-भेद के कारण वह कभी किसी को ऊँचा पद देने में संकोच न करता था। वह देखने में बहुत सुन्दर, सुवक्ता, विद्वान् तथा अत्यन्त उदार था।

उसके बाद इस्माइल, केवल ९ बरस की अवस्था में, बीजापुर का सुलतान हुआ। उसकी चतुर माँ ने उसके धोखेबाज़ वजीर कमाल से उसकी रक्षा की और कमाल को मरवा डाला। जब इस्माइल युवा हुआ, तब उसे अहमदनगर और विजयनगर से लड़ाइयाँ करनी पड़ीं, और सब में वह जीता। उसने रायचूर का दोआब विजयनगर के राय से छीन लिया। वह सन् १५३४ में मर गया। उसके बाद इब्राहीम आदिल शाह ने पहले तो सुन्नी धर्म फिर से स्थापित किया और बाहरी अमीरों को बड़े बड़े पदों से हटा कर उनके स्थान पर दक्षिणियों तथा हबशियों को रखा। उसने अहमदनगर और गोलकुण्डा से लड़ाइयाँ कीं। परन्तु पीछे से वह विलासिता में पड़कर पतित हो गया। उसके उत्तराधिकारी अली आदिल ने विजयनगर के साथ अहमदनगर पर हमला किया और हिन्दुओं ने वहाँ की जनता पर बड़े अत्याचार किये। फल यह हुआ कि सब मुसलमान राज्यों ने मिलकर सन् १५६५ में टेलीकोटा की लड़ाई में विजयनगर साम्राज्य का नाश कर दिया। अली आदिल शाह का सन् १५७९ में वध हो गया। उसके बाद इब्राहीम आदिल शाह द्वितीय ने सन् १६२६ तक राज्य किया। शुरू में जब वह छोटा था, तब लोकप्रसिद्ध चाँद बीबी ने उसकी संरक्षिका के रूप में राज्य का कार्य किया था।

निजाम शाही वंश का प्रवर्त्तक दक्षिणी दल का नेता निज़ामुल्मुल्क बहरी था। उसका पुत्र मलिक अहमद ज़ुन्नेर का सूबेदार था। निज़ामुल्मुल्क को तो बादशाह ने मरवा डाला; परन्तु अहमद सन् १४९८ में स्वतन्त्र हो गया और उसने अहमदनगर को अपना केन्द्र बनाया। सन् १४९९ में उसने दौलताबाद पर कब्जा कर लिया। शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई और उसका नाबालिग पुत्र

बुरहान निज़ाम शाह गद्दी पर बैठा। जब वह बड़ा हुआ तो उसने पहले तो बीजापुर के राय से सन्धि की और बीजापुर पर सन् १५५३ में घेरा डाला। इसके बाद निजाम शाही बादशाह इसी प्रकार अपने पड़ोसियों से लड़ते रहे। १६ वीं शताब्दी के अन्त में मुग़ल साम्राज्य का विस्तार उनके राज्य की सीमा तक पहुँच गया। फिर थोड़े दिनों में अहमदनगर मुग़ल साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

गोलकुण्डा—कुतुब शाही वंश का संस्थापक कुतुबुलमुल्क था जो बहमनी राज्य में तिलंगाना का सूबेदार था। उसने सन् १५१८ में अपनी स्वाधीनता की घोषणा की। गोलकुण्डा के अन्य सुलतान कुछ योग्य न हुए, परन्तु उनके यहाँ कई हिन्दू मन्त्री बड़े योग्य और नीतिज्ञ थे। इन लोगों के कारण गोलकुण्डा राज्य औरंगज़ेब के समय तक कायम रहा।

बीदर—क़ासिम बरीद के पुत्र अमीर बरीद ने, जो बहमनी वंश के अन्तिम शासक का मन्त्री था, उसके बीजापुर की शरण में चले जाने पर, सन् १५२६ में स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। परन्तु उसके उत्तराधिकारी बड़े अयोग्य हुए। उसने सन् १६०९ में बीजापुर के सुलतान से छीनकर बीदर को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

विजयनगर—विजयनगर साम्राज्य का आरम्भिक इतिहास अब तक अनिश्चित और विवादास्पद है। इसके विषय में कई दन्त-कथाएँ हैं। इनमें से जो आज-कल सब से अधिक सम्भाव्य मानी जाती है, वह यह है कि इस राज्य के संस्थापक दो भाई, हरिहर और बुक्काराय थे जो वारंगल के काकतीय राजा प्रतापरुद्र देव के कोष-विभाग में पदाधिकारी थे। जब सन् १३२३ में वारंगल पर मुसलमानी आक्रमण हुआ, तो वे वहाँ से भाग कर रायचूर प्रदेश में आणेगुण्डी के राजा के यहाँ आकर नौकर हो गये। जान पड़ता है कि यहीं पर किसी समय उन्होंने होयशल वंशीय, अन्तिम राजा वीर बल्लाल तृतीय के शुरू किये हुए नगर को पूरा किया। इनका परम सहायक तथा नेता उस समय का प्रकाण्ड पण्डित विद्यारण्य था जिसने इस वंश की उसी प्रकार सहायता की जिस प्रकार चाणक्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य की की थी। कहा जाता है कि इन भाइयों ने नगर का नाम अपने गुरु के स्मारक स्वरूप विद्यानगर अथवा विजयनगर रखा। इतना निश्चित जान पड़ता है कि सन् १३३६ तक यह नगर पूरा हो चुका था। यह तुंगभद्रा के किनारे पर बसा हुआ था। इस नगर तथा राज्य की स्थापना उस हिन्दू जाग्रति तथा प्रतिक्रिया का परिणाम थी जो उस समय दक्षिण में मुसलमानों के आक्रमण और धार्मिक अत्याचारों के कारण उत्पन्न हो गई थी।

इस राज्य का पहला राजा हरिहर था जिसने लगभग सन् १३५३ तक राज्य किया। परन्तु यह होयशल राजाओं के सीमा प्रान्त के सेनाध्यक्ष के रूप में कार्य करता रहा। सन् १३४४ में वारंगल के राजा प्रताप रुद्रदेव के लड़के कृष्णनायक ने मुसलमानों को दक्षिण से निकालने के लिये एक संघ बनाया था। इसमें इन भाइयों ने बहुत सहयोग दिया था। सन् १३४६ में अन्तिम होयशल राजा विरूपाक्ष बल्लाल की मृत्यु के बाद इन लोगों को राज्य-विस्तार का अवसर मिला। होयशल राज्य की समस्त भूमि उन्होंने अपने राज्य में मिला ली। विजयनगर साम्राज्य उत्तर में कृष्णा नदी तक, दक्षिण में कावेरी नदी तक, और पूरब-पच्छिम में समुद्र के एक किनारे से दूसरे किनारे तक फैल गया। जैसा कि हम बहमनी वंश के वर्णन में कह आये हैं, उत्तर की ओर विजयनगर का विस्तार बहमनी राज्य के कारण रुक गया। दोनों राज्य नये और शक्तिशाली थे। दोनों आजीवन एक दूसरे को नष्ट करके सारे दक्षिण पर आधिपत्य जमाने का प्रयास करते रहे।

हरिहर के बाद उसका भाई बुक्क महीपति सम्राट् हुआ जिसने साम्राज्य की सीमा को और भी बढ़ाया एवं विजयनगर को भी पूर्ण तथा अधिक विस्तृत किया। ये लोग शैव मतावलम्बी थे, परन्तु अन्य मतों के प्रति बड़े उदार तथा सहनशील थे। एक बार वैष्णव और जैन धर्म के अनुयायियों में बड़ा भारी झगड़ा हो गया। बुक्क ने अत्यन्त चतुराई से दोनों दलों को सन्तुष्ट करके उनका फैसला कर दिया और दोनों दलों को शान्त तथा सन्तुष्ट कर दिया।

बुक्क की मृत्यु सन् १३७९ में हुई। उसका उत्तराधिकारी हरिहर द्वितीय हुआ। उसने पहले-पहले महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। हरिहर बहुत शान्त तथा शान्तिप्रिय था। उसने मुसलमानों आदि से कोई संग्राम नहीं किया; प्रत्युत् अपना समय एवं शक्ति राज्य का शासन संघटित करने में लगाई। दक्षिण में उसके सेनाध्यक्ष ने कई नये प्रदेशों को जीत कर साम्राज्य में सम्मिलित किया। हरिहर की मृत्यु सन् १४०४ में हुई। उसका लड़का शीघ्र ही मर गया। उसके बाद देवराय प्रथम उत्तराधिकारी हुआ। उसे बहमनी वंश से जीवन भर लड़ना पड़ा और इसमें विजयनगर को क्षति भी उठानी पड़ी।

इसके बाद छठा राजा देवराय द्वितीय (१४१९—४६) बड़ा शूर-वीर हुआ। उसने भी बहमनी राज्य से लड़ाइयाँ कीं और अपनी सेना में मुसलमान अश्वारोहियों को भरती किया। परन्तु उसे कभी सफलता न हुई। उसके शासन काल में दो बाहरी यात्री एक इटली-निवासी निकोलो कोंटी नामक और दूसरा फ़ारस का दूत अब्दुर्रज्जाक विजयनागर में आया। इन दोनों ने

अपने अपने यात्रा-विवरण लिखे हैं जिनसे उस राज्य एवं तत्कालीन दक्षिण के इतिहास पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। निकोलो कोण्टी सन् १४२० के क़रीब भारत में आया था। वह लिखता है—"बाइज़ें गेलिय (विजयनगर) बड़े सीधे पहाड़ों के निकट बसा हुआ है। शहर का घेरा छः मील है। कहा जाता कि इसमें ९० हज़ार मनुष्य ऐसे हैं जो हथियार चला सकते हैं। इस मुल्क के लोग कई ब्याह कर सकते हैं। यहाँ का राजा भारत में सब से अधिक शक्तिशाली है। उसके प्रासाद में १२००० औरतें हैं जिनमें ४००० उसके साथ हर जगह जाती हैं। ये सब रसोई के काम में लगी रहती हैं। इतनी ही संख्या घोड़ों पर उसके पीछे चलती है। बाक़ी डोलियों में जाती हैं। इनमें से २००० या ३००० उसकी स्त्री बनने के लिये पसन्द कर ली जाती हैं। इन सबको उसके मरने पर उसके साथ सती होना पड़ता है।"

"वर्ष में एक बार वे अपने देवता (प्रतिमा) को रथों में रख कर शहर में सवारी निकालते हैं। इन रथों में सुसज्जित स्त्रियाँ इन देवताओं को प्रसन्न करने के लिये गायन करती हैं। बहुत लोग जोश में रथ के सामने लेट कर मर जाते हैं, क्योंकि यह माना जाता है कि ऐसी मौत से देवता बहुत प्रसन्न होते हैं।" इत्यादि। उसने यह भी लिखा है—"साल में ये लोग तीन त्योहार मनाते हैं। एक पर वे दीपक जलाते हैं, दूसरे पर केसर का रंग एक दूसरे पर छिड़कते हैं।"

निकोलो के २० बरस बाद सन् १४४२ में अब्दुर्रज़ाक आया। उसने शहर का सविस्तर वर्णन किया है। उसने राज-दरबार का हाल भी लिखा है। उसने राजा को देखा कि वह ४० खम्भों के मण्डप में साटन का चोगा पहने हुए बैठा था और गले में इतने बहुमूल्य मोतियों की माला पहने था कि उसकी कीमत का अनुमान करना कठिन होगा। उसका रंग गन्दुमी, क़द लम्बा और शरीर पतला था। वह अत्यन्त अल्प-वयस्क प्रतीत होता था। अब्दुर्रज़ाक को राज्य की ओर से रोज़ खाने-पीने की इतनी सामग्री मिलती थी—२ भेड़ें, ४ जोड़ी मुरगे, ५ मन चावल, एक मन मक्खन, एक मन शकर और सोने के दो वाराह। सप्ताह में दो बार उसे दरबार में बुलाया जाता था। हर बार उसे पानों का बीड़ा, फनम की एक थैली और काफ़ूर के मिस्काल मिलते थे।

नगर के बारे में अब्दुर्रज्जाक ने लिखा है—"सारी दुनिया में ऐसा शहर न देखा गया है, न सुना गया। उसके चारों ओर ७ दीवारें हैं। बाहर की दीवार के चारों तरफ कोई पचास गज़ की चौड़ाई में आदमी की ऊँचाई के बराबर पत्थर जमीन में बराबर बराबर गड़े हैं, जिससे कोई घोड़ा या सवार शहरपनाह के ६० गज के अन्दर नहीं जा सकता।"

"शहर के अन्दर हर पेशेवालों का बाजार अलग है। जौहरी लोग खुले-आम हीरे, मोती, माणिक, पन्ने आदि बेचते हैं। इस बाजार में तथा राजा के प्रासाद के आस-पास पत्थर की बनी हुई पानी की छोटी छोटी नहरें बहती हैं।"

"राजा का दीवान-खाना इतना विशाल है कि एक प्रासाद जान पड़ता है। उसके सामने एक बड़ा कमरा है जो मुहाफ़िज़-खाना है। इसमें पुराने दस्तावेज़ सुरक्षित रहते हैं और यहीं बहुत से लेखक बैठते हैं।" देवराय द्वितीय की मृत्यु लगभग सन् १४४९ में हुई। उसके बाद उसके लड़कों से तिलंगाना के शक्तिमान जागीरदार सलुवा नरसिंह ने गद्दी छीन ली। परन्तु उसके उत्तराधिकारी से फिर उसके शूर-वीर सेनापति तुलुव वंशीय नरेश नायक ने गद्दी छीन ली। इस तुलुव वंश का सबसे प्रसिद्ध तथा तेजस्वी राजा कृष्णदेव राय था। कृष्ण-देव राय सन् १५०९ के लगभग सिंहासनारूढ़ हुआ। उसके शासन में विजय-नगर उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। उसने बहमनी राज्य से युद्ध किये और उनसे खूब बदला लिया। कृष्णदेव राय बहुत शूर-वीर होने के अतिरिक्त बड़ा दृढ़ एवं उदार शासक था। वह स्वयं बैष्णव था, परन्तु अपनी प्रजा को उसने पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता दे रखी थी। उसके समय में भी कई बाहरी यात्री आये थे। उन सबने उसकी उदारता, उत्कृष्ट शिक्षा-दीक्षा तथा आकर्षक व्यक्तित्व की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। बाहरी यात्रियों के प्रति उसका व्यवहार बहुत उदार तथा कृपापूर्ण होता था। वह स्वयं बड़ा विद्वान था और संस्कृत तथा तैलगू भाषा के साहित्यों का बड़ा पोषक था। उसके दरबार में 'अष्ट दिग्गज' अर्थात् आठ बड़े बड़े कवि थे। युद्ध विद्या में भी वह बहुत कुशल एवं चतुर था। उसके समान कोई शासक दक्षिण के इतिहास में नहीं हुआ है। समस्त दक्षिण पर उसका गहरा प्रभाव था। वह बड़ा प्रभावशाली था। जो कोई उससे मिलता, बिना प्रभावित हुए न जाता।

कृष्णदेव राय ने उड़ीसा के राजा को हराया और वहाँ की एक राजकुमारी से शादी की थी। फिर उसने बीजापुर के आदिल शाह को सन् १५२० में पराजित किया। इस समय हिन्दू विजेताओं ने इतना अनुचित और उद्दंड व्यवहार किया कि समस्त मुस्लिम राज्य भयभीत हो गये और विजयनगर से घृणा करने लगे। पुर्तगालियों से भी कृष्णदेव राय का सम्बन्ध था। उसे उनके घोड़ों आदि के व्यापार से बड़ा लाभ होता था। पुर्तगालियों ने गोवा इसी के शासन काल में लिया था। कृष्णदेव की विजयों से साम्राज्य इतना विस्तृत हो गया कि कटक से सालसीट तक और दक्षिण में मैसूर तक पहुँच गया। यह

विस्तार देखकर उत्तरी मुस्लिम रियासतों को बहुत डर लगा और उनमें एका होने लगा।

तालीकोटा की लड़ाई-(सन् १५६५)—कई मुस्लिम रियासतों ने मिल कर बड़ी भारी तैयारी की और सन् १५६४ में विजयनगर पर धावा बोल दिया। कृष्णा नदी के किनारे तालीकोटा के पास सेनाएँ आकर ठहरीं। कृष्णदेव राय को बड़ा घमण्ड हो गया था। उसने पहले तो इनकी परवा न की, परन्तु शीघ्र ही उसकी आँखें खुलीं। फिर उसने तुरन्त तीन सेनाएँ तीन ओर भेजीं ताकि शत्रु को नदी पार न करने दें। उसी मैदान में बड़ा भारी युद्ध हुआ। अन्त को विजयनगर की सेना पराजित हुई और उसकी शक्ति नष्ट हुई। विजेताओं ने बड़ी मार-काट की। स्वयं कृष्णदेव राय भी मारा गया। फिर उन्होंने विजयनगर को लूटा और उसका नाश किया। विजयनगर की जनता के साथ जैसा नृशंस और घृणित व्यवहार शत्रुओं ने किया, वह अकथनीय है।

इसके बाद विजयनगर का ह्रास आरम्भ हुआ। फिर सन् १५७० में तिरूमल ने एक नया राजवंश चलाया। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा वेंकट प्रथम हुआ। उसने राज्य को फिर से दृढ़ किया। परन्तु उसके उत्तराधिकारियों के समय में राज्य शीघ्र ही दुर्बल हो गया। उत्तर में बहुत सा भाग मुसलमानों ने अपहरण कर लिया और दक्षिण में मदुरा तथा तंजौर आदि के नायकों ने राज्य के टुकड़ों से स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये।

शासन-प्रबन्ध—विजयनगर की शासन-व्यवस्था में जागीरदारी प्रथा तथा एकात्मक सत्ता का मिश्रण था। राजा की सहायता के लिए एक मन्त्री-मण्डल था जिसके सदस्य कतिपय मन्त्रियों के अतिरिक्त प्रान्तीय शासक, सेनापति, विप्रगण और विद्वान् होते थे। शासन अत्यन्त केन्द्रित था। राजा सर्वशक्तिमान था। सामान्य शासन का संचालन, सेना विभाग की देख-रेख, तथा न्यायाधीश का कार्य इत्यादि वह स्वयं ही करता था। उसे सब मामलों में मन्त्रणा तथा परामर्श देनेवाला प्रधान मंत्री होता था। उसके अतिरिक्त कोष-मंत्री और रक्षा विभाग का अधिष्ठाता आदि पदाधिकारी भी थे। विजयनगर का राज-दरबार बड़ा आलीशान था।

साम्राज्य दो प्रकार के विभागों में विभक्त था; अर्थात् प्रान्त या 'मण्डल' तथा जागीर-दारियाँ अथवा चोल, चेर, पाण्ड्य इत्यादि अर्ध-स्वतंत्र रियासतें। प्रान्तों के शासक राजा की ओर से नियत किये जाते थे और महामण्डलेश्वर कहलाते थे। जागीरदार वंश-परम्परागत होते थे। प्रान्त कई नाडुओं (जिलों) में बँटे थे। तैलगू प्रदेश में सीमा को नाडू कहते थे। नाडू या सीमा में कई स्थल

होते थे। इन शासन-विभागों के अधिकारियों को केन्द्रीय सरकार नियुक्त करती थी। साम्राज्य के प्रान्तों की संख्या अनिश्चित है। एक बाहरी यात्री पेज (Paes) के लेख के अनुसार आधुनिक लेखकों ने यह मान लिया है कि साम्राज्य में २०० प्रान्त थे। यह भूल है। साम्राज्य के प्रान्तों की तादाद बहुत थोड़ी थी। महा-मण्डलेश्वरों को भी काफी अधिकार थे। वे स्थानीय शासन के प्रत्येक विभाग के मालिक होते थे। राजा की ओर से समय समय पर उनका निरीक्षण होता था।

स्थानीय शासन का अन्तिम विभाग गाँव ही था। ग्राम-समिति गाँव का सब प्रबन्ध करती थी। राज-कर उगाहना, प्रजा की रक्षा करना, छोटे मामलों में न्याय इत्यादि काम ग्राम-समिति के द्वारा निपट जाते थे।

राजकीय आय का मुख्य साधन भूमि-कर ही था; परन्तु उसकी दर का प्रश्न बहुत विवादास्पद है। पुर्तगाली इतिहास-लेखक ने लिखा है कि पैदावार का ९/१० भूमि-कर के रूप में लिया जाता था। जान पड़ता है कि यह अनुमान करने में उसने भूल की है। तत्कालीन ग्रन्थ पराशर माधवीयम् में लिखा है कि भूमि-कर कुल पैदावार का १/६ होना चाहिए। एक और प्रमाण यह भी मिलता है कि १९ वीं सदी के शुरू में एक यात्री मि० बुशानन को उत्तरी कनाड़ा के एक पटेल से मालूम हुआ था कि चावल पर कर कृष्णदेव राय की पद्धति के अनुसार पैदावार का १/६ होता था। इससे जान पड़ता है कि भूमि-कर १/४ के लगभग रहा होगा। आय के अन्य कई द्वार भी थे।

सैनिक विभाग का प्रबन्ध भी प्रायः प्रान्तीय शासकों के हाथ में था। राजा स्वयं भी एक बड़ी स्थायी सेना रखता था। बाकी सेना प्रान्तीय शासक भरती करते तथा उसे सुव्यवस्थित एवं युद्ध के योग्य रखते थे। यह ठीक है कि कृष्णदेव राय की सेना ६० हजार पैदल और ३२ हजार सवारों की थी।

पाँचवाँ अध्याय

सामाजिक अवस्था तथा संस्कृति

सामाजिक स्थिति—हर्ष के बाद भारतवर्ष की सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था पर जिन जिन बातों का प्रभाव पड़ा, उनका दिग्दर्शन हम पहले खण्ड के पहले अध्याय में करा आये हैं। धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से सारे देश में एक प्रकार की समानता पाई जाती थी। जात-पाँत के भेद-भाव, खान-पान के बन्धन, मूर्ति-पूजा तथा उसके साथ अनेक रूढ़ियाँ, कर्म-काण्ड का विकृत रूप और इसी प्रकार की अन्य परिपाटियाँ प्रचलित थीं। समाज का संघटन परिवार-संस्था पर आश्रित था। मनुष्य अपने नैतिक एवं सामाजिक जीवन में बड़े कड़े नियमों से जकड़े हुए थे। किसी को स्वतन्त्र विचार अथवा तर्क करने का अधिकार नहीं था। समाज का मानसिक, नैतिक एवं धार्मिक नेतृत्व ब्राह्मण धर्म्माधिकारियों के हाथ में था। यद्यपि सम्प्रदाय अनेक थे, परन्तु मूर्ति-पूजा आदि की रीति सब में एक समान थी। भेद केवल इतना था कि कोई विष्णु की पूजा करता था, कोई शिव की और कोई दुर्गा की, इत्यादि। इसी प्रकार सारे देश में जात-पाँत के भेद एक समान फैले हुए थे। धर्म-ग्रन्थों के पढ़ने—पढ़ाने का अधिकार शूद्रों तथा अन्त्यजों को न था। धर्म-ग्रन्थ केवल संस्कृत में थे और उनका अनुवाद करना वर्जित था। मन्दिर बनवाना, उनमें चढ़ावे चढ़ाना, देवी—देवताओं की पूजा करना, उपवास करना, तीर्थ-यात्रा करना, देवी भागवत आदि किसी पुस्तक का पाठ कराना, आदि कार्य धर्म के मुख्य अंग माने जाते थे। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक यही अवस्था थी। परन्तु राजनीतिक दृष्टि से पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता थी। यदि राजा एक सम्प्रदाय का होता और प्रजा दूसरे की, तो वह उनके धर्म-पालन में हस्तक्षेप नहीं करता था। बौद्ध मत लगभग विलुप्त हो चुका था। वैष्णव और शैव सम्प्रदायों का विशेष विस्तार हो रहा था। इस युग के साहित्य एवं कला पर धर्म तथा समाज के उपर्युक्त तत्त्वों की अमिट छाप पड़ी। सहस्रों मन्दिर और देवालय, राज-प्रासाद, दुर्ग आदि बनाये गये। मूर्त्ति-कला, शिल्प, चित्र-कला, गायन-वादन और नृत्य आदि की अत्यन्त उन्नति हुई और इन सब विषयों पर संस्कृत भाषा में अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे गये जिनका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं।

स्त्रियों की स्थिति भी एक दृष्टि से संतोषजनक न थी। उनमें उच्च शिक्षा का अभाव था। तथापि इस काल में कतिपय देवियाँ अत्यन्त विदुषी हुईं जिनके

नाम इतिहास में अमर रहेंगे। इस बात से कुछ आधुनिक विद्वान् यह परिणाम निकालते हैं कि उस समय सामान्यतया स्त्री जाति में शिक्षा का प्रचार था। परन्तु उक्त विदुषी देवियाँ इनी-गिनी और अपवाद मात्र हैं, जिससे यही प्रमाणित होता है कि सामान्यतया स्त्री-शिक्षा का प्रचार उस समय नहीं था। घर में स्त्रियों का बड़ा मान होता था। स्त्री के सतीत्व की रक्षा करना मनुष्यों के लिए गौरव का काम समझा जाता था। परन्तु लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की कम क़द्र थी। लड़की के पैदा होने पर खुशी नहीं मनाई जाती थी। सती प्रथा भी जारी थी। कुछ जातियों, जैसे मद्रास के नायरों में, बहुपति, (एक स्त्री के कई पति) की प्रथा थी। नीच जातियों में परदा कम था। जनता अंध-विश्वासों से ग्रस्त थी। जादू-टोने, जन्तर-मन्तर आदि बहुत प्रचलित थे। हिन्दू लोग दान बहुत करते थे। परन्तु इसका बहुत सा भाग निकम्मों और मुफ़त-खोरों के पास जाता था और दुराचार तथा कुरीतियों के बढ़ने का कारण होता था।

मानसिक दासता तथा कुप्रथाओं के विरुद्ध आन्दोलन— क्रियात्मक दृष्टि से समाज की यह दशा सन्तोषप्रद नहीं थी। उसमें बहुत कुछ परिवर्त्तन तथा परिशोधन की आवश्यकता थी। दक्षिण में १३ वीं शताब्दी से ही इस अवस्था के विरुद्ध जाग्रति के चिह्न देख पड़ते थे। उस समय बहुत से समाज-सुधारक सन्त उत्पन्न हुए और उन्होंने समाज की कुरीतियों के विरुद्ध आवाज़ उठाई। इस सुधार के आन्दोलन में ज्ञानदेव, जो सब से पहला है, देवगिरि के राजा रामचन्द्र यादव का समकालीन था। उसके बाद कोई २०० वर्ष तक ५० के लगभग सन्त और सुधारक समाजोद्धार का प्रयत्न करते रहे। इनमें कई स्त्रियाँ भी थीं और कई शूद्र एवं अत्यन्त नीच-जातीय लोग भी। इन सबने ब्राह्मणों के एकाधिकार तथा उनकी धर्म की ठेकेदारी पर प्रबल आक्रमण किये, जात-पाँत के भेदों को मिथ्या बतलाया और यह भी कहा कि सब को धर्म-पुस्तकों के अध्ययन का समान अधिकार है। धर्म-ग्रन्थों के सर्व-साधारण की भाषाओं में अनुवाद और सारांश लिखे गये और स्वयं अपने विचार तथा उपदेश जनता की भाषा द्वारा व्यक्त किये गये। धर्म और तत्त्व के गहन विषयों की सामान्य भाषाओं द्वारा व्याख्या करने का कार्य बारहवीं सदी में ही मुकुन्दराज ने प्रारम्भ कर दिया था। उसने ब्रह्मविद्या तथा वेदान्त पर मराठी भाषा में विवेक-सागर नामक एक ग्रन्थ लिखा था*। इसी प्रकार उत्तर से मनुष्य

* 'थीइज्म इन मेडीवल इण्डिया', (जे कार्पेण्टर) पृ० ४५१.

मात्र के समानाधिकारों तथा सामाजिक और मानसिक स्वतन्त्रता का आन्दोलन शुरू हुआ। हिन्दू जाति के विधायक सुधारकों के सामने दो समस्याएँ थीं—एक आन्तरिक और दूसरी बाह्य। आन्तरिक समस्या तो यह थी कि उच्च जातीय हिन्दुओं, विशेष कर ब्राह्मण-क्षत्रियों के दुर्व्यवहारों तथा अन्यायों से छोटी जातियों को छुड़ाना और उन्हें धर्म तथा समाज में समान अधिकार प्राप्त कराना। दूसरी समस्या थी हिन्दू मात्र को मुसलमान शासकों के अत्याचारों से मुक्त करना तथा हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक भेद-भाव, एक दूसरे के प्रति घृणा, तिरस्कार अथवा शंका, भय शौर धार्मिक पक्षपात के भावों को निकाल कर दोनों जातियों में परस्पर प्रेम, विश्वास तथा सहनशीलता के भाव उत्पन्न करना जिससे दोनों एक दूसरे की उन्नति में बाधक नहीं, बल्कि सहायक हो सकें। हिन्दुओं की सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों से, मनुष्य और मनुष्य के बीच ऊँच-नीच के भावों से, तथा मुसलमानों की सङ्कीर्ण धार्मिक और राजनीतिक नीति से जनता अत्यन्त दुःखी हो गई थी। समाज की आत्मा पुकार पुकार कर कह रही थी कि इन कुरीतियों का अन्त होने पर ही शान्ति तथा स्वतन्त्रता का राज्य स्थापित हो सकता है। जाति की अन्तरात्मा की इस मूक ध्वनि को प्रतिध्वनित करनेवाले महात्माओं में सबसे पहला नाम रामानन्द का है। रामानन्द ने १४ वीं शताब्दी में अर्थात् तुग़लक़ साम्राज्य के युग में काशी में वैष्णव (भागवत) धर्म का प्रचार किया। उनका मूल सिद्धान्त यह था कि एक ईश्वर की सच्ची भक्ति करने और राम नाम जपने से जात-पाँत के सब बन्धन टूट जाते हैं और मनुष्य मात्र एक समान हो जाते हैं। उनके शिष्यों में जाट, नाई, चमार, मुसलमान तथा स्त्रियाँ भी थीं। वे सब पूजा-पाठ तथा भोजन आदि साथ साथ करते थे। रामानन्द ने हिन्दी भाषा में ग्रन्थ लिखना तथा प्रचार करना शुरू किया और इस प्रकार केवल दलितों का ही उद्धार नहीं किया, बल्कि हिन्दी भाषा का भी बड़ा उपकार किया। रामानन्द के शिष्यों में कबीर सब से प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि कबीर का जन्म सन् १३९८ के लगभग बनारस में हुआ था और मृत्यु मगहर में सन् १५१८ के लगभग। इसके अनुसार कबीर की आयु १२० वर्ष की हुई। कबीर एक मुसलमान जुलाहे के घर पले थे, परन्तु उन्होंने रामानन्द जी से वैष्णव धर्म की दीक्षा ली थी। कबीर ने तत्कालीन कुप्रथाओं, जात-पाँत के भेदों, मूर्ति-पूजा, मन्दिर-मस्जिदों के झगड़ों आदि के विरुद्ध बड़े ज़ोर से आन्दोलन किया और एकेश्वर वाद का प्रचार किया। हिन्दू-मुसलमान के भेद-भाव और छूआछूत को मिटाने में बड़ा भारी काम किया। वे निर्गुण और निराकार ब्रह्म की उपासना का प्रचार करते थे। इसी प्रकार

बंगाल में चैतन्य देव (१४८६–१५३४) ने वैष्णव धर्म का प्रचार किया और कृष्ण-भक्ति को परम कर्त्तव्य बतलाया। चैतन्य ने भी व्यर्थ पूजा-पाठ आदि को छोड़कर आध्यात्मिक भक्ति पर जोर दिया और दलितों का उद्धार किया। गुरु नानकदेव (१४६९–१५३६) ने पंजाब में मनुष्य मात्र में भ्रातृ भाव तथा एकेश्वर वाद का प्रचार किया। इस प्रचार का प्रभाव मुसलमानों पर भी पड़ा। बहुत से मुसलमान फ़क़ीरों और सूफियों आदि ने तो दोनों जातियों को मिलाने का प्रयत्न किया ही, पर साथ ही मुसलमान शासकों ने भी कहीं कहीं बड़ी उदारता दिखलाई। १५ वीं सदी के अन्त में बंगाल के अरबी सुलतान अला-उद्दीन हुसेन (१४९३–१५१८) और उसके बेटे नसरत ने बड़ी उदारता तथा समदर्शिता से राज्य किया और दोनों जातियों में मेल कराने का प्रयत्न किया। हुसेन ने पहले-पहल महाभारत और भागवत का अनुवाद बँगला भाषा में कराया। रामायण का अनुवाद कृत्तिवास नामक विद्वान द्वारा रामानन्द के समय में ही हो चुका था। कहा जाता है कि हुसेन ने हिन्दू मुसलमानों को मिलाने के लिये 'सत्य पीर' नामक एक पन्थ की स्थापना की थी।

मुस्लिम शासन का प्रभाव—मुसलमान बादशाहों की संकीर्णतापूर्ण तथा दमनवाली नीति का हिन्दुओं की सभ्यता पर बड़ा हानिकारक प्रभाव पड़ा। देवालयों, मठों और मन्दिरों को नष्ट करने से भी कहीं अधिक एवं अपूरणीय क्षति साहित्य ग्रन्थों को नष्ट करने से पहुँची। इसके अतिरिक्त उनकी दमन नीति का यह प्रभाव हुआ कि हिन्दू जाति की मानसिक शक्ति नष्ट हो गई और उच्च कोटि के विद्वानों का अभाव हो गया। इस युग में पूर्व काल के समान कोई उत्कृष्ट साहित्य या दर्शन आदि के ग्रन्थ न लिखे गये। न इस युग में कोई प्रतिभा-शाली विचारक अथवा विद्वान् हुआ। हाँ, कतिपय प्राचीन ग्रन्थों के अनुवाद हुए और उन पर भाष्य तथा टीकाएँ लिखी गईं। परन्तु जब इस निश्चल स्थिति के विरुद्ध फिर से प्रतिक्रिया आरम्भ हुई, तब मानसिक विकास दूसरे रूप में प्रकट हुआ। भक्ति सम्प्रदाय के सन्तों ने प्रायः बोल-चाल की भाषाओं द्वारा गूढ़ से गूढ़ सिद्धान्त व्यक्त किये और उनका प्रचार किया जिस के फल-स्वरूप हमारी आधुनिक देशी भाषाओं का विकास भी हुआ।

मुसलमानों की सामाजिक अवस्था—भी बहुत दिनों तक अच्छी न रही। वे बड़े विलासी हो गये। साम्राज्य के प्रायः सभी बड़े बड़े पद उनको दिये जाते थे। वे कोई कमाई का पेशा नहीं करते थे। आर्थिक चिन्ता न होने तथा भोग-विलास की विपुलता के कारण उनकी शक्ति नष्ट हो गई। उनमें दासत्व प्रथा भी प्रचलित थी। परन्तु दासों के साथ बुरा व्यवहार न किया जाता था। दास

कभी-कभी ऊँचे से ऊँचे पद प्राप्त कर लेते थे। उनको वज़ीर तक बना दिया जाता था। स्त्रियों की दशा कुछ सन्तोषजनक न थी। उनको किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी। परदे का रवाज बढ़ता जा रहा था।

आर्थिक स्थिति—मुस्लिम शासन में भारत की प्राचीन ग्राम-संस्था बनी रही; कारण कि मुसलमान शासक ग्रामों के प्रबन्ध आदि के झगड़े में नहीं पड़ना चाहते थे। वे अपना कर लेकर सन्तुष्ट हो जाते थे और ग्राम-पंचायतों के हाथ में ग्राम का शासन छोड़ देते थे। इसलिये जब तक कर की मात्रा बहुत नहीं बढ़ जाती थी, तब तक गाँवों की दशा जैसी की तैसी बनी रहती थी। यातायात के साधनों या सड़कों आदि में सुलतानों ने कोई कथनीय उन्नति नहीं की थी। तुग़लक़ काल में इन बातों पर अवश्य ध्यान दिया गया था। परन्तु अलाउद्दीन ख़िल्जी जैसे शासकों के राज्य में जनता को अवश्य असह्य कष्ट हुए। उसके आर्थिक नियमों का क्या प्रभाव हुआ होगा, इसका हम ऊपर विचार कर ही चुके हैं। व्यापार प्रायः नदियों और नहरों के द्वारा होता था। विदेशों से व्यापार बहुत कम होता था। उत्तर में खुरासान और फ़ारस आदि देशों से घोड़ों का व्यापार होता था। दक्षिण में भड़ोच (भृगुकच्छ) तथा कालीकट आदि बन्दरगाहों के द्वारा फ़ारस, मिस्र आदि देशों से व्यापार होता था। व्यापार की उन्नति या अवनति भी शासन के दृढ़ या निर्बल होने पर निर्भर थी। सामाजिक जीवन में बड़ी अस्थिरता थी।

यद्यपि बाहरी देशों से व्यापार तथा व्यवसाय नहीं होता था, तथापि जनता सामान्यतया सन्तुष्ट रहती थी, क्योंकि खाने-पहनने की किसी को कमी न होती थी। दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएँ अत्यन्त सस्ती थीं। दुर्भिक्ष पड़ने पर निर्बल शासकों के समय में अवश्य कष्ट होता था, परन्तु योग्य सुलतान उसके निवारण का प्रबन्ध कर लेते थे। मुहम्मद तुग़लक़ के समय में बहुत बड़े और लम्बे अकाल पड़े थे। सुलतान ने प्रजा के कष्ट दूर करने के बड़े उत्तम उपाय किये थे, परन्तु उसकी नीति ने उनका शुभ फल नष्ट कर दिया था।

धार्मिक स्थिति—आठवीं शताब्दी के बाद राजपूत युग में शैव और वैष्णव धर्मों की वृद्धि हुई जिससे बौद्ध धर्म का लोप हो गया। उसके अनेक तत्त्वों को नवीन हिन्दू धर्म ने ग्रहण कर लिया और वे शैव या वैष्णव धर्मों में मिलकर एक नये नाम से प्रचलित हुए। महायान धर्म के ध्यान तथा योगादि के सिद्धान्त शैव मत में सम्मिलित हो गये और भक्ति तथा लोक-सेवा आदि के सिद्धान्त वैष्णव मत में। हिन्दू धर्म का योगेश्वर शिव महायान धर्म के ध्यानी बुद्ध का रूपान्तर मात्र है। वैष्णव धर्म की भक्ति तथा

ईश्वर-प्रेम, दरिद्रों की सेवा, साधु-सन्तों का प्राबल्य आदि सब महायान धर्म के ही अंग थे जिनमें हिन्दू धर्म ने नया जीवन फूँक दिया और निःशक्त बौद्ध धर्म पर विजय पाई। शैवों ने बौद्ध विहारों में अपने मठ बना लिये और वैष्णवों में बौद्ध श्रमणों का स्थान वैरागियों ने ले लिया। फल यह हुआ कि सर्व साधारण को इस परिवर्त्तन का पता भी न चला। बात वही थी, केवल नाम का परिवर्त्तन हुआ था। फिर इसी समय बुद्ध भगवान को भी हिन्दुओं ने विष्णु का आठवाँ अवतार स्वीकार करके हिन्दू धर्म का एक अंग बना लिया। इस प्रकार हिन्दू धर्म न केवल बौद्ध धर्म को ही समूचा हड़प कर गया, बल्कि स्वयं बुद्ध महाराज को भी हज़म कर गया।

तान्त्रिक मत—महायान धर्म ने हिन्दू धर्म को तान्त्रिक मत भी उपहार स्वरूप दिया। तान्त्रिक मत का प्रादुर्भाव इस प्रकार हुआ कि तिब्बत, मध्य एशिया और चीन आदि देशों की अविकसित जातियाँ बौद्ध धर्म्म के गूढ़ तत्त्व, अध्यात्म दर्शन तथा आचार शास्त्र को समझने के सर्वथा अयोग्य थीं। उनमें प्रेत-पूजा आदि प्रचलित थी। यह देखकर बौद्ध धर्म के उन प्रचारकों को, जो उन देशों में गये थे, स्थानीय प्रचलित मत-मतान्तरों के साथ समझौता करना पड़ा। उन्होंने प्रचलित प्रेत-पूजा इत्यादि पर केवल बौद्ध मत का मुलम्मा चढ़ा दिया और उनके पूजा-पाठ को बौद्ध धर्म का अंग मान लिया। तान्त्रिक मत का उद्देश्य था तपस्या तथा यन्त्र-मन्त्र के द्वारा भूत-प्रेतों पर अधिकार प्राप्त करना और फिर विषय-वासनाओं की तृप्ति, लोहे आदि धातुओं से सोना बनाना, जादू से दवा तैयार करना इत्यादि। इसी को वे मुक्ति का साधन समझते थे। इस तान्त्रिक बौद्ध मत के देवी-देवता शैव मत में अवतरित हो गये। शैव मत की देवी 'शक्ति' अथवा काली तान्त्रिक मत की तारा का ही रूपान्तर है। तान्त्रिक मत ८वीं सदी से १२ वीं तक उत्तरी और पूर्वी बंगाल में बहुत फैला। बंगाल के अन्य भागों में भी इस मत का कुछ कुछ प्रचार हुआ।

इस्लाम धर्म का प्रभाव—हिन्दू धर्म की पुरानी पाचक प्रवृत्ति नष्ट हो गई थी, इसलिए वह मुसलमान धर्म को न पचा सका। इसका कारण यह था कि मुसलमान धर्म का आधारभूत एक मात्र सिद्धान्त यह था कि ईश्वर एक ही हो सकता है, अनेक नहीं। अतः मुसलमान यह कभी न मान सकते थे कि उनका अल्लाह भी हिन्दुओं के लाखों देवी-देवताओं में से एक है। दूसरे पठान साम्राज्य के काल में मुसलमानों की धारणा अन्त तक यही बनी रही कि हम विदेशी हैं और वे इसी प्रकार यहाँ व्यवहार करते रहे। हिन्दुओं ने तो उनके अल्लाह को एक अवतार बनाने का पूरा प्रयत्न किया और एक अल्लोपनिषद्

तक बना डाला; परन्तु उन्हें सफलता न हुई। मुसलमानों के हिन्दू जाति में न मिल सकने का सबसे बड़ा कारण यह था कि हिन्दुओं ने अपना जातीय क्षेत्र बहुत संकुचित कर दिया था, जिसके अन्दर कोई बाहरी आदमी दाख़िल ही न हो सकता था।

साहित्य और कला—साहित्य और कला के क्षेत्र में पठान साम्राज्य के काल में काफ़ी उन्नति हुई। देहली तथा अन्य बड़े बड़े शहरों में बड़े नामी मुसलमान विद्वान् और लेखक हुए जिन्होंने स्वतन्त्र पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त संस्कृत ग्रन्थों के फ़ारसी भाषा में अनुवाद भी किये। बहुत से मुसलमान बादशाह बड़े साहित्यप्रेमी तथा विद्वानों के पोषक होते थे। उनके दरबार में बड़े बड़े साहित्यिकों, कवियों तथा पंडितों को आश्रय मिलता था। उस समय के मुसलमान लेखकों में सबसे प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरू हुआ है जो बलबन, खिल्जी तथा तुग़लक़ बादशाहों के दरबार में था। सन् १३२६ के लगभग उसकी मृत्यु हुई। कहा जाता है कि खुसरू ने कोई पाँच लाख शेर लिखे थे। उसकी पहेलियाँ और गीत आज तक गाँवों में प्रचलित हैं। खुसरू का साथी हसन देहलवी भी ऊँचे दर्जे का कवि था। मुहम्मद तुग़लक़ के समय में बद्र उद्दीन (बद्र-ए-चच) भी बड़ा प्रसिद्ध कवि हुआ। इस युग में कई बड़े प्रसिद्ध इतिहास-लेखक हुए। इनमें से कतिपय अधिक प्रसिद्ध नाम हम यहाँ देते हैं—मिन्हाज-उस्सिराज, गुलाम सुलतान नासिरउद्दीन के काल में, ज़िया उद्दीन बरनी, खिल्जी और तुग़लक़ काल में, शम्से सिराज आफ़ीफ़, तुग़लक़ काल में, इत्यादि। १५ वीं सदी में जौनपुर विद्या तथा कला का सर्वोत्कृष्ट केन्द्र हुआ, यहाँ तक कि शीराज़-ए-हिन्द कहलाने लगा। जौनपुर के विद्वान लेखकों में क़ाज़ी शहाबुद्दीन दौलताबादी और मौलाना शेख़ इलाहदाद के नाम प्रसिद्ध हैं। इस काल में अरबी और फ़ारसी भाषाओं में बहुत से संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद भी हुए। अलबेरूनी ने, जो महमूद ग़ज़नवी के काल में भारत में आया था, स्वयं संस्कृत पढ़ कर बहुत से ग्रन्थों के अरबी में अनुवाद किये। फीरोज़ तुग़लक़ ने कोट काँगड़ा के पुस्तकालय की कई संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद कराया, और उसका नाम दलायल ए-फीरोज़शाही रखा। सिकन्दर लोदी ने आयुर्वेद के एक ग्रन्थ का फ़ारसी में अनुवाद कराया था।

इस युग के हिन्दुओं के साहित्य को अनुवादों और टीकाओं का युग कहना अनुचित न होगा। कोई स्वतन्त्र दर्शन अथवा विज्ञान शास्त्र इस युग में नहीं लिखा गया। रामानुज से रामानन्द पर्यन्त भागवत वैष्णव धर्म के पहले नेता अपने अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने के हेतु वेदान्त, उपनिषदों तथा गीता पर

टीकाएँ लिखते रहे। इस समय में जैन विद्वानों ने अध्यात्म तत्त्व पर बड़े गूढ़ ग्रन्थ लिखे। दूसरे और कवियों ने संस्कृत में गेय काव्य के अत्यन्त मधुर ग्रन्थों की रचना की। जयदेव का गीत गोविन्द गेय काव्य ग्रन्थों में अतुलनीय है। इसके अतिरिक्त बहुत से वीर काव्य (Epics) तथा नाटक भी इस काल में रचे गये। बीसल देव चौहान का हरिकेलि नाटक तथा उसके राजकवि सोमेश्वर का ललित विग्रहराज नाटक, जयसिंह सूरी का हम्मीर-मद मर्दन इत्यादि नाटक बहुत प्रसिद्ध हैं। व्याकरण, न्याय, दण्डनीति इत्यादि विषयों पर भी बहुत से ग्रन्थ रचे गये। दक्षिण में इस काल में विद्या की उन्नति और भी अधिक हुई। हम पहले बतला आये हैं कि देवगिरि के यादव राजाओं के काल में ज्ञानदेव ने अपनी प्रसिद्ध गीता की टीका ज्ञानेश्वरी लिखी। उसी के समकालीन राजा रामचन्द्र का यादव मन्त्री हेमाद्रि मोड़ी लिपि का जन्मदाता और बहुत बड़ा विद्वान् था। उसने अपने मित्र व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित बोप देव से कई ग्रन्थ लिखवाये और स्वयं चतुरंग चिन्तामणि की रचना की जिसमें अनेक विषयों का संग्रह है। १४ वीं सदी में दक्षिण का सर्वोत्कृष्ट विद्वान् और राजनीतिज्ञ मध्व या विद्यारण्य हुआ। उसके भाई सायणाचार्य ने वेदों का भाष्य किया। हरिहर और उसके भाइयों ने विजयनगर राज्य की स्थापना विद्यारण्य के परामर्श से ही की थी। इसी काल में हिन्दी साहित्य का भी उदय एवं विकास हुआ। आल्हा खण्ड, जिसमें महोबे के चन्देल राजा परमाल के वीर सैनिक आल्हा और ऊदल आदि की वीरता के कारनामों का बड़ी उत्तमता से वर्णन किया गया है, १२ वीं शताब्दी में लिखा गया था। कवि अमीर खुसरू ने भी हिन्दी की बड़ी प्रशंसा की है और उसकी पहेलियाँ प्रायः हिन्दी भाषा में ही पाई जाती हैं। इसके बाद सन्त मण्डल ने बराबर हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में लिखना शुरू किया। इसी समय उर्दू का भी उदय हुआ। इस भाषा का भी सब से पहला कवि अमीर खुसरू ही है। उर्दू में हिन्दी, फ़ारसी, तुर्की और अरबी के शब्दों का सम्मिश्रण है, क्योंकि यह पड़ाव की भाषा है। इसका व्याकरण हिन्दी के समान है।

कला—जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, मुसलमान शासकों की दमन नीति के कारण गणित, ज्यौतिष, रसायन, आयुर्वेद आदि विद्याओं की उन्नति रुक गई थी, परन्तु कला के कुछ अंग जैसे चित्रण, तक्षण, मूर्तिनिर्माण आदि तो नष्टप्रायः ही हो गये। कारण कि इस्लाम धर्म में किसी जीव का किसी प्रकार का चित्र बनाना वर्जित था। परन्तु इस समय में वास्तु कला तथा संगीत इत्यादि की बहुत प्रशंसनीय उन्नति हुई।

वास्तु कला के क्षेत्र में मुसलमान बादशाहों ने प्राचीन हिन्दू शिल्पियों को नये प्रकार, नये रूप-रंग और नये ढंग के भवन बनाने में लगाया और इस प्रकार उनके हुनर और चातुर्य को नवीन क्षेत्रों में अपना चमत्कार दिखलाने का अवसर मिला। पठान कालीन भारतीय मुस्लिम वास्तु कला की विशेषता यह है कि यद्यपि उसके प्रायः सभी मुख्य मुख्य अंग पूर्व-कालीन हिन्दू कला से लिये गये हैं, तथापि उसमें अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व और रूप-रेखा विद्यमान है और ये गुण भिन्न भिन्न शैलियों में स्थानीय परिस्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न रूपों में पाये जाते हैं। भारत में मुस्लिम वास्तु कला की लगभग १० शैलियाँ हैं। इनमें देहली की शैली मुख्य तथा सबसे पुरानी है। यहाँ पर पहले हिन्दू मन्दिरों को तोड़ कर उन्हीं के स्थान पर मस्जिदें बनाई गईं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण देहली की जामा मस्जिद अथवा कूवतुल इस्लाम मस्जिद में मिलता है। १२ वीं सदी में अर्थात् दास वंश के समय में वास्तु की निर्माण पद्धति में कोई विशेष भेद न हुआ। पुराने हिन्दू मन्दिरों को बदल कर मुसलमान धर्म के उपयुक्त बना लिया गया। हाँ, बलबन के काल में सबसे पहले निर्माण पद्धति में एक उल्लेखनीय परिवर्त्तन हुआ, अर्थात् डाट बजाय टोड़ों के त्रिज्याकार (Radiating) प्रणाली पर बननी शुरू हुई। इस काल में बाहरी खुदाई आदि में भी स्पष्ट परिवर्तन हो गये थे। खिल्जी काल में सुलतानों की वास्तु कला अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की हो गई थी। उसकी सजावट, रचना-शैली, अंग-विन्यास, गुम्बद इत्यादि सब बड़े उत्तम एवं सुन्दर या कोमल हो गये थे। तुग़लक़ काल में फिर से कोमलता को त्याग कर भवनों को बहुत भयावह, सादा, और अजेय तथा अभेद्य रूप धारण करना पड़ा। अलाउद्दीन ख़िलजी के बनाये हुए अलाई दर्वाज़े और ग़यास तुग़लक़ के मक़बरे तथा क़िले की तुलना करते ही पता चल जाता है कि दोनों वर्गों की इमारतों में कितनी भिन्नता है। फ़ीरोज़ तुग़लक़ ने बहुत सी इमारतें बनवाईं। इनमें उसने फिर कुछ कोमलता, सरलता एवं विशालता के गुण लाने का यत्न किया। इसके बाद सुलतानों के वज़ीरों ने अठपहलू ढंग की मस्जिदें और मक़बरे बनाने शुरू किये। सिकन्दर लोदी के समय में दोहरे गुम्बद का निर्माण होना शुरू हुआ। यह एक अत्यन्त प्रशंसनीय एवं अद्भुत नवीन मार्ग था।

प्रान्तीय शैलियों में जौनपुर, गुजरात, मालवा, बंगाल, गोलकुण्डा और बीजापुर के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सब की शैलियाँ अपना अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व लिये हुए हैं। जौनपुर शैली की विशेषता मस्जिदों में मीनारों के स्थान पर बीच के भारी भारी द्वार (Propylon) हैं जो और कहीं नहीं पाये जाते।

गुजरात में आबू के प्राचीन मन्दिरों की कला का रूपान्तर तथा विस्तार है। मालवे की कला तो केवल देहली की नक़ल है। परन्तु गुजरात तथा मालवे की इमारतें विशालता तथा दृढ़ता में किसी से कम नहीं हैं। बंगाल में पत्थर की कमी होने से मुख्यतया ईंटों की इमारतें बनाई गईं। दक्षिण में गुम्बद तथा डाट का अत्यन्त विकास हुआ। भावी मुग़ल कला इसी पठान-कालीन कला के आधार पर इतनी उन्नति को प्राप्त हुई।

इस समय में गायन-वादन की भी यथेष्ट उन्नति हुई। अमीर खुसरू ने सामान्य जनता के मनोविनोदार्थ बहुत सी पहेलियाँ तथा गीत बनाये जो अब तक घर घर में गाये जाते हैं। उसने "फूलवालों की सैर" नामक एक मेले की स्थापना की जो आज तक देहली में श्रावण मास में बड़े समारोह के साथ होता है और जिसमें बहुत से गाने-बजानेवाले इकट्ठे होते हैं। कहा जाता है कि अमीर खुसरू ने रागों में भी कुछ नई बातें पैदा की थीं।

दूसरा भाग

पहला अध्याय

मुग़ल कालीन भारत

बाबर के आक्रमण के समय भारत की स्थिति

मुग़ल साम्राज्य की स्थापना का काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसका महत्व भली भाँति समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले तत्कालीन राजनीतिक तथा अन्य परिस्थितियाँ सम्यक् रूप से समझ लें। पठान सल्तनत के छिन्न भिन्न होने पर जितने मुसलमानी राज्य भिन्न भिन्न प्रान्तों में स्थापित हुए थे, उनका संक्षिप्त विवरण हम ऊपर दे आये हैं। इनके अतिरिक्त जो राजपूत राज्य पठान काल में नष्ट नहीं हुए थे, वे पठान शक्ति के ह्रास के समय फिर से अपनी शक्ति बढ़ाने लगे थे। इस काल में राजपूतों के बड़े बड़े राज्य प्रायः उस मरुभूमि में, जिसका नाम उनके कारण राजपूताना पड़ गया है, और मध्य भारतीय अधित्यका में स्थापित थे। इन दोनों प्रदेशों की भौगोलिक परिस्थिति का इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है।

महमूद ग़ज़नवी के आक्रमणों के समय समस्त उत्तराखण्ड में राजपूत राज्य विद्यमान थे। मुहम्मद गोरी और उसके उत्तराधिकारियों ने थोड़े ही दिनों में लगभग सारे उत्तरी भारत को जीत लिया और राजपूतों को पीछे हटना पड़ा। इस समय केवल मध्य भारत की अधित्यका और राजपूताने में कतिपय स्वतन्त्र राजपूत राज्य रह गये थे। इसका कारण इन प्रदेशों की भौगोलिक स्थिति थी। मेवात, बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड ऐसी पर्वतमालाओं से सुरक्षित थे जिनको अधिकृत करना सुगम न था। इनके राजा लोग लगातार बलवे करते रहते थे। गवालियर, कालिंजर और रणथम्भोर के किलों पर बार बार चढ़ाई करनी पड़ती थी। उत्तर-पश्चिम की तरफ जमना नदी इसकी सीमा थी। उस तरफ़ से जयपुर और अजमेर इत्यादि को और फिर मालवे को जीतना कठिन था। इसी कारण तेरहवीं शताब्दी में इन प्रदेशों को मुसलमानों से आसानी से जीत लिया

गया था। चित्तौड़ में वे सहज में न घुस सकते थे, क्योंकि उसके चारों ओर पहाड़ियों का एक प्राकृतिक दुर्ग है।

आड़ावला (अरावली) पर्वत राजपूताने की रक्षा करता है। यह राजपूताने के बीच उत्तर-पूर्वी कोण से, देहली के पास से, आरम्भ होता है और अजमेर होता हुआ दक्खिन-पच्छिम में आबू तक पहुँचता है जहाँ इसकी सब से ऊँची चोटी है। इस प्रकार यह पर्वत राजपूताने को आड़ी रेखा की भाँति दो त्रिभुजों में बाँट देता है। इसके पूरब में जयपुर, कोटा, चित्तौड़ आदि राज्य थे और पच्छिम में जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि। देहली से जयपुर और अजमेर आदि पहुँचने का मार्ग सुगम था, परन्तु पच्छिम के राज्यों तक पहुँचना बहुत कठिन था। इसी लिये जयपुर, अजमेर, कोटा आदि राज्य शुरू से ही मुसलमानों के हाथ में आ गये थे, परन्तु जोधपुर आदि पर उनका अधिकार कभी न हो सका।

राजपूत राज्य—मुहम्मद ग़ोरी के आक्रमणों के बाद कन्नौज के राठौड़ वंशीय राजा जोधपुर चले आये और वहाँ उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया। इसी वंश की एक शाखा बीकानेर में जा बसी और उसने उस राज्य की स्थापना की। जैसलमेर के भाटी राजपूतों की उत्पत्ति यादवों से मानी जाती है। जयपुर के कछवाहे अपनी उत्पत्ति श्रीरामचन्द्रजी के पुत्र कुश से बतलाते हैं। परन्तु अन्य राजपूतों की भाँति इस वंश का प्राचीन इतिहास भो अनिश्चित है। दसवीं सदी में वे गवालियर में राज्य करते थे। बारहवीं सदी में उन्होंने अम्बर (आमेर) की स्थापना की। शायद यह लोग अजमेर के चौहान वंश के अधीन थे। दूल्हा राय कछवाहा पृथ्वीराज के साथ मुहम्मद ग़ोरी की लड़ाई में मारा गया था। अकबर के समय में जयपुर राज्य ने सब से पहले देहली के सम्राट् का आधिपत्य स्वीकार किया था। राजा भारामल (१५४८—१५७४) ने हुमायूँ का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था और अपनी लड़की उसे ब्याह दी थी। उसके वंशज भगवानदास और मानसिंह अकबर के सब से बड़े दरबारियों में से थे। औरंगज़ेब के समय तक इनके वंशज मुग़लों की नौकरी बड़ी वीरता, स्वामीभक्ति और बुद्धिमत्ता से करते थे। जयपुर के पूरब में हड़ोती प्रदेश है जिसमें अब कोटा और बूँदी दो मुख्य रियासतें हैं। हाड़ा चौहान वंश की एक शाखा है। ये लोग चौदहवीं सदी में यहाँ आकर बसे थे और उदयपुर के अधीन थे। सोलहवीं सदी में उन्होंने मुसलमानों से रणथम्भौर का क़िला छीन लिया और अपनी शक्ति का विस्तार किया।

राजपूत राजवंशों में सर्वोच्च और सबसे अधिक गौरवान्वित

मेवाड़ का सीसोदिया वंश है । सीसोदिये अपनी उत्पत्ति सूर्यवंशी महाराज रामचन्द्र से बतलाते हैं, परन्तु इनका प्राचीन इतिहास अनिश्चित है । सातवीं सदी में बापा रावल नामक एक प्रसिद्ध वीर हुआ था । कहा जाता है कि इसने सन् ७३० में अरबवालों के आक्रमण से मेवाड़ की रक्षा की थी । शायद बापा स्वयं गुहा का वंशज था जो वल्लभी वंश की गुहिल नामक शाखा में से था । बापा बहुत बड़ा धर्म्मात्मा और शिव का उपासक था । उसने अपने आस-पास के भीलों से मेल-जोल बढ़ाकर उनको युद्ध कला की शिक्षा दी और नियम पालन करना सिखलाया । बापा ने चित्तौड़ जीतकर वहाँ गुहिलौत वंश के राज्य की नींव डाली । पर्वत-मालाओं से घिरे होने के कारण चित्तौड़ प्रायः सुरक्षित रहा । उस पर पहला मुसलमानी हमला अलाउद्दीन खिल्जी ने किया । तेरहवीं सदी के अन्त में मेवाड़ का एक राणा बालक था । उसका चाचा भीमसिंह राज्य के सब काम करता था । भीमसिंह की अनुपम सुन्दरी रानी पद्मिनी की प्रशंसा सुनकर अलाउद्दीन ने उसे छीन लेना चाहा और सन् १३०३ में चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया । रानी पद्मिनी ने किस प्रकार वीरता से अपने पति को मुसलमानों की कैद से छुड़ाया और फिर किस प्रकार यवनों के हाथ में पड़ने से बचने के लिये सैकड़ों देवियों के साथ उसने अपने इस भौतिक शरीर को जौहर की अग्नि के अर्पण करके अपने सतीत्व की रक्षा की, इसकी कथा कौन नहीं जानता । अलाउद्दीन ने चित्तौड़ छीनकर उसका नाम ज़फ़राबाद रखा और अपने लड़के ज़फ़र खाँ को उसका शासक नियत किया । परन्तु चित्तौड़ राज्य पर अलाउद्दीन का आधिपत्य स्थायी न हो सका और उसे थोड़े ही दिन बाद उस राज्य को एक राजपूत राजा के हाथ सौंपना पड़ा । फिर कुछ दिन बाद सीसोदिया हम्मीर ने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया ।

इस वंश का पहला राजा सुप्रसिद्ध राणा कुम्भा या कुम्भकरण (१४३८–१४६९) हुआ । राणा कुम्भा ने अपनी शूर-वीरता तथा बुद्धिमत्ता से चित्तौड़ राज्य को राजपूताने में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करा दिया और उसे राजपूताने का प्रधान बना दिया । उसने अपना राज्य बहुत विस्तृत किया और उसके सीमान्त की रक्षा के लिये बहुत से गढ़ बनाये जिनमें कुम्भलमेरु का नाम बहुत प्रसिद्ध है । उसने मालवा और गुजरात के सुलतानों से कई लड़ाइयाँ लड़ीं और अपनी विजय के स्मारक स्वरूप चित्तौड़ गढ़ के अन्दर एक विजय-स्तम्भ बनवाया जो अब तक विद्यमान है और वास्तु कला का एक अनुपम उदाहरण है । कुम्भा की इच्छा थी कि देहली पर फिर से अधिकार करके देश में पुनः हिन्दू राज्य स्थापित किया जाय; परन्तु वह अपने इस विचार में सफल न हो

सका। राणा कुम्भा केवल एक योद्धा और प्रतिभाशाली शासक ही नहीं था। वह साहित्य तथा संस्कृति का भी बड़ा पोषक था। उसने बहुत से क़िलों के अतिरिक्त कई विशाल मन्दिर भी बनवाये थे। वह स्वयं कवि था और साहित्यिकों का बहुत आदर करता था। सन् १४६९ में राणा कुम्भा की मृत्यु हो गई और चित्तौड़ में बहुत दिन तक घरेलू कलह के कारण बहुत अव्यवस्था रही। फिर सन् १५०९ में राणा संग्रामसिंह ने मेवाड़ का मस्तक फिर से ऊँचा किया और उसकी कीर्ति समस्त देश में फैलाई। जयपुर, जोधपुर, कोटा, बीकानेर आदि बहुत से राज्यों के राजाओं ने उसको अपना नेता स्वीकार किया। जब बाबर ने इब्राहीम लोदी को हराकर हिन्दुस्तान पर अधिकार कर लिया, तब संग्रामसिंह ने देश को स्वतन्त्र करने के लिये बाबर पर चढ़ाई की। इस युद्ध का वर्णन हम आगे करेंगे।

इन बड़े बड़े राजपूत राज्यों के अतिरिक्त देश में बहुत से छोटे छोटे वंश भी राज्य कर रहे थे। अरवली पर्वत की तलहटी में आबू के निकट झालावाड़, सिरोही आदि राज्य थे, और बुन्देलखंड में चँदेरी, पन्ना, ओड़छा आदि रियासतों ने मुसलमानों का प्रभुत्व स्थायी रूप से कभी नहीं माना था।

सामाजिक अवस्था—इस राजनीतिक अवस्था के अतिरिक्त सोलहवीं सदी में कुछ अन्य प्रगतियाँ भी थीं जिनका इतिहास पर बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। हम ऊपर बतला आये हैं कि किस प्रकार देश में मानसिक जाग्रति हो रही थी और विचार-स्वतन्त्रता के लिये बहुत से समाज-सुधारक यत्न कर रहे थे। यह युग जाग्रति का युग था। भारतीय समाज इस समय अनेक प्रकार के परिवर्तनों और परिशोधनों के लिये व्याकुल था। इन परिवर्तनों तथा सुधारों के आन्दोलन बिना रोक-टोक चलने के लिये शासन में उदार नीति की परम आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति शेर शाह और अकबर ने की। देश में विचार-स्वातन्त्र्य, विवेक, मानसिक उन्नति और सामाजिक सुधार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। हर तरफ उन्नति और आशा के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। परन्तु यह प्रवाह अधिक समय तक न चल सका। अकबर के बाद ही से धीरे धीरे शासन नीति में फिर से संकीर्णता आने लगी जो औरंगज़ेब के समय में पराकाष्ठा को पहुँच गई। इधर सुधारकों की वास्तविक शिक्षाएँ भूल कर हिन्दू और मुस्लिम समाज फिर से रूढ़ि वाद के गड्ढे में गिरने लगे। इसी समय पश्चिमीय जातियों में एक नई स्फूर्ति उत्पन्न हो गई थी और वे देश-देशान्तरों में ईसाई धर्म का प्रचार तथा उनसे व्यापार करने के लिये निकल पड़ी थीं। सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में भारत के पच्छिमी तट पर पुर्तगालियों ने अपने

उपनिवेश स्थापित कर लिये थे और वे बड़े वेग से अपना कार्य कर रहे थे। यूरोपीय जातियों के इस व्यापारिक संघर्ष में अन्त में अंग्रेजों को सफलता हुई और वे देश के विजेता हुए। इसका मुख्य कारण यह था कि भारतीयों की उन्नति रुक गई थी और मध्यकालीन जाग्रति का प्रवाह बराबर बना न रह सका।

दूसरा अध्याय

मुग़ल साम्राज्य की स्थापना

बाबर का आक्रमण और साम्राज्य-स्थापन

पठान सलतनत के विनाश और मुग़ल साम्राज्य की स्थापना के समय की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति का वर्णन हम ऊपर विशद रूप से कर चुके हैं। उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि क्यों जातीय जीवन के प्रत्येक पहलू में इस काल में इतनी हलचल मची और इतना परिवर्त्तन हुआ और क्यों नवीन संस्थाओं का जन्म तथा वृद्धि हुई। अब संक्षेप में यह बतलाना आवश्यक है कि बाबर को हिन्दुस्तान विजय करने और मुग़ल राज्य स्थापित करने में किन राजनीतिक तत्वों से सहायता मिली थी।

बाबर के आक्रमण के समय भारतवर्ष में भारत में चार मुख्य राजनीतिक विभाग थे। पहला विभाग उत्तर का था जिसमें सिंध, मुलतान, पंजाब तथा देहली के प्रदेश थे। इधर पूरब में जौनपुर और बंगाल के राज्य थे। ये सब मुसलमानों के शासन में थे। इनके दक्खिन में राजपूताना और विन्ध्य मेखला के हिन्दू राज्य थे। यह दूसरा राजनीतिक विभाग था। तीसरे विभाग में गुजरात, खान्देश और मालवे के बड़े शक्तिशाली मुस्लिम राज्य थे। इनके विद्यमान होने का देहली साम्राज्य पर यह प्रभाव पड़ा कि राजपूतों की बढ़ती हुई शक्ति को वे रोके रहे, अन्यथा उन्होंने देहली की निर्बल और अवनत सलतनत को शायद पहले ही नष्ट कर दिया होता और फिर से भारतवर्ष पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया होता। गुजरात और मालवे के साथ दक्खिन के बहमनी राज्य का प्रभाव भी बहुत महत्वपूर्ण था। उसके दक्षिण में हिन्दू साम्राज्य विजयनगर था जो चौथा राजनीतिक विभाग था। इन दोनों में बराबर युद्ध होता रहता था जिसका परिणाम यह हुआ कि बहमनी सुलतानों को उत्तर की ओर अधिक बढ़ने का अवसर न मिला। परन्तु वे मालवे आदि पर कभी कभी हमले करते थे जिससे इन राज्यों की शक्ति भी दबी रही। सारांश यह कि इस समय समस्त भारत में ऐसे राज्य विद्यमान थे जो शक्ति में लगभग समान थे और देहली की सलतनत के विच्छेद से उत्पन्न हुए थे। इसलिये वे

सब प्रभुत्व के लिये आपस में लड़ते रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में कोई एक शक्ति ऐसी बलशाली उत्पन्न न हो सकी जो किसी बाहरी आक्रमणकारी को रोक सकती।

बाबर के आक्रमण के कारण—पहले दो लोदी सुलतानों ने अपनी शक्ति बनाये रखने के हेतु बड़े बड़े अफ़ग़ान सरदारों को मित्र भाव से सन्तुष्ट रखकर अपने पक्ष में बनाये रखा था। परन्तु इब्राहीम (१५१७-२६) न तो इतना दूरदर्शी था कि बड़े बड़े सरदारों से मित्र भाव बनाये रखता और न इतना शक्तिशाली था कि उनको दमन कर सकता। ऐसी अवस्था में उसका यह प्रयत्न कि वे सब अफ़ग़ान, जिनको उसके पूर्वज मित्र और समान स्थितिवाले मानते थे, अब उसको अपने से ऊँचा समझें और उसका आधिपत्य मानने लगें, निष्फल होना ही था। उसकी कठोर नीति के कारण सब सरदार उससे रुष्ट हो गये और उसका खुले तौर पर विरोध करने लगे। हर जगह बलवे होने लगे। पंजाब का शासक स्वतन्त्र सा ही हो बैठा और जौनपुर के शासक ने भी बलवा कर दिया। यह अवस्था देख कर राजपूतों ने भी सिर उठाया और इब्राहीम को दो बार युद्ध में उनसे पराजित होना पड़ा। मेवाड़ाधिपति राणा साँगा देहली पर दाँत लगाये बैठा ही था; और यदि ऐसे झगड़े के समय इस अखाड़े में बाबर न आ कूदा होता तो साँगा अवश्य देहली को अधिकृत कर लेता। परन्तु विधाता कुछ और ही करना चाहता था। इसी समय पंजाब के सूबेदार दौलत खाँ लोदी ने काबुल में बाबर से कहला भेजा कि देहली पर चढ़ाई करो। इस प्रकार बाबर को भारत में अपने भाग्य की परीक्षा करने का अवसर मिला।

बाबर का प्रारम्भिक जीवन—ज़हीर उद्दीन मुहम्मद बाबर का पिता उमर शेख़ मिर्ज़ा मध्य एशिया में फ़रग़ना का शासक था। उसकी मृत्यु के समय बाबर केवल १२ वर्ष का था। बाबर का जन्म सन् १४८३ में हुआ था। मध्य एशिया की तुर्क जाति के जगद्-विख्यात विजेता और सैनिक चंगेज़ खाँ और तैमूर दोनों उसके पूर्वज थे। पिता की ओर से वह तैमूर का वंशज था और माता की ओर से चंगेज़ खाँ का। बाबर के पिता ने चारों ओर के सरदारों को अपना दुश्मन बना लिया था। उसके मरते ही फ़रग़ना पर चारों ओर से आक्रमण होने लगे और उसके कुछ हिस्से छिन गये। परन्तु इसका एक परिणाम अच्छा हुआ। इससे बाबर को सैनिक शिक्षा मिल गई। बाबर बड़ा महत्वाकांक्षी था। वह समरकन्द का सुलतान बनना चाहता था। सन् १४९७ में उसकी यह इच्छा पूरी हो गई। समरक़न्द में उत्तराधिकार का झगड़ा हुआ। अवसर पाकर बाबर ने हमला किया और नगर ले लिया। परन्तु उसके पीछे फ़रग़ना

में उसके वज़ीर ने बलवा किया और उसपर अपना स्वतन्त्र अधिकार जमा लिया। यह खबर सुनते ही बाबर फ़रग़ना की ओर दौड़ा। इधर उसके पीछे उजबग नेता शैबानी ख़ाँ ने समरक़न्द पर क़ब्ज़ा जमा लिया। बाबर के हाथ से दोनों निकल गये और वह मारा मारा फिरने लगा। परन्तु बाबर कायर न था जो आपत्तियों से घबरा कर दब जाता। जैसे सोना आग में तपाने से और दुगना चमकता है, उसी प्रकार बाबर का साहस और आकांक्षा आपत्तियों की आग में पड़ कर और भी उत्तेजित होती थीं। सन् १५०० ई० में बाबर ने उज़बग सरदार से फिर समरक़न्द छीन लिया, परन्तु थोड़े ही दिन बाद वह फिर उसके हाथ से निकल गया। इसके बाद कई बरस तक बाबर फ़रग़ना पर अधिकार करने का व्यर्थ यत्न करता रहा। अन्त को वह वहाँ से निराश हो गया। इसी समय सौभाग्य से काबुल में घरेलू कलह और बलवे शुरू हुए। बाबर का चाचा उलुग बेग मिर्ज़ा काबुल का शासक था। १५०१ में उसकी मृत्यु हो गई। उसका उत्तराधिकारी उसका लड़का अबुर्रज़्ज़ाक़ बालक था, इस कारण काबुल के सरदारों ने विद्रोह शुरू कर दिये। इसको बाबर ने बड़ा अच्छा अवसर समझा। उसने तुरन्त एक सेना इकट्ठी की और उसकी सहायता से काबुल पर अधिकार कर लिया। वहाँ उसका विरोध करनेवाला कोई न था। इसके थोड़े ही दिन बाद उसने हरात और कन्धार को भी जीत लिया। इस प्रकार काबुल में उसकी शक्ति दृढ़ हो गई। परन्तु वह अभी अपने पुराने देश फ़रग़ना को न भूल सका था। उसको फिर एक मौका मिला। थोड़े दिन बाद शैबानी ख़ाँ की मृत्यु हो गई। अब बाबर ने फ़ारस के बादशाह से संधि करके उसकी सहायता से फिर तीसरी बार कन्धार जीता। परन्तु मध्य एशिया के सुन्नी मुसलमान उससे घृणा करने लगे थे, क्योंकि उसने फ़ारस के शीया बादशाह से मित्रता की थी। अतएव बाबर को उन्होंने १५१४ के लगभग फिर मार भगाया। परन्तु इस पराजय की कोख में उसका सौभाग्य छिपा था। उसने मध्य एशिया का ध्यान छोड़ कर भारत की ओर रुख किया।

भारत पर आक्रमण—पहले बाबर ने भारतवर्ष की परिस्थिति जानने के उद्देश्य से सिन्धु के निकटवर्त्ती प्रदेश तथा पंजाब पर आक्रमण किये। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, उसको पंजाब के शासक दौलत ख़ाँ लोदी ने बुलाया था। पंजाब में आकर बाबर ने वहाँ की हीनावस्था को भली भाँति समझ लिया। परन्तु उसे दौलत ख़ाँ ने अपने वादे के मुताबिक़ सहायता न दी। इसलिये वह काबुल वापस लौट गया और वहाँ से एक नई सेना तैयार करके सन् १५२६ के आरम्भ में भारत पर चढ़ आया।

पानीपत की लड़ाई (१५२६)—पंजाब को पार करता हुआ बाबर पानीपत तक बिना रोक-टोक चला आया और वहाँ आकर उसने पड़ाव डाल दिया। पानीपत की भूमि पर अति प्राचीन काल से कई बार भारत के भाग्य का निर्णय हुआ था। आगे भी इसी भूमि पर कई बार उसका भाग्य निर्णय होना था। बाबर भी इसी प्रसिद्ध संग्रामस्थली पर आकर डट गया और युद्ध की तैयारी करने लगा। बाबर की सेना इस प्रकार पड़ी हुई थी कि उसकी दाहिनी ओर तो पानीपत नगर था, बाईं ओर उसने एक गहरी खाई खुदवाई और सामने बहुत से पेड़ों को गिराकर एक प्रकार का बाँध बना दिया। इस प्रकार तीनों ओर से सेना सुरक्षित हो गई। इसके अतिरिक्त उसने कोई ७०० बैलगाड़ियों को चमड़े के रस्सों से जकड़ कर एक प्रकार के छोटे छोटे पुश्ते बना दिये थे जिनसे उसकी सेना पर आक्रमण न हो सके। बाबर की सेना में केवल ६००० सिपाही थे; परन्तु वे सब युद्ध-कुशल तथा अनुभवी सैनिक थे। इसके विरुद्ध सुलतान इब्राहीम की सेना में एक लाख आदमियों का जमघट था। इनमें से बहुत कम अनुभवी सैनिक थे। अधिक नये या अधकचरे भरती कर लिये गये थे। वे युद्ध के संघटन तथा व्यवस्था को कुछ न समझते थे। सात दिन तक दोनों दल आमने सामने पड़े रहे। अन्त को इब्राहीम की फौज ने धावा बोला और वह बाबर की सेना के अगले भाग तक जा पहुँची, परन्तु वहाँ सब लोग अनियमित और अस्त व्यस्त हो गये। इस बुरी अवस्था को देख कर बाबर ने अपने घुड़सवारों को धावा बोलने की आज्ञा दी और तोपें चलाना शुरू कीं। फिर उसने एक दस्ते को बाँईं तरफ से हटा कर इब्राहीम की फौज के पीछे भेजा जिससे वह चारों ओर से घिर गई और फिर इस ज़ोर की मार-काट की कि स्वयं सुलतान इब्राहीम और उसकी सेना के २० हजार सिपाही खेत रहे। बाबर की विजय हुई। बाबर की इस सफलता का एक बड़ा कारण यह भी था कि युद्ध-कौशल में इब्राहीम की उससे कोई बराबरी नहीं थी; दूसरे उसकी सी घुड़सवार सेना तथा तोपखाना इब्राहीम के पास न था। दोनों सेनाओं की तुलना हम ऊपर कर ही चुके हैं।

देहली और आगरे पर अधिकार—इब्राहीम की सेना को नष्ट करते ही बाबर ने सेना का एक चुना हुआ दस्ता भेजकर देहली और आगरे पर अधिकार जमा लिया। देहली पर शीघ्र ही शासन स्थापित कर दिया गया। आगरे को हुमायूँ ने जाकर लिया। वहाँ से बहुत सा लूट का माल मिला। अब गरमी बहुत बढ़ गई थी और बाबर की सेना काबुल लौटने के लिये व्याकुल होने लगी। परन्तु बाबर ने लोगों को समझा बुझा कर रोक रखा।

सीकरी या कनवाहा की लड़ाई-(१५२७)—इब्राहीम की हार से बाबर को देहली और आगरे में घुसने का अवसर तो मिल गया, परन्तु उसकी शक्ति स्थापित होने में अभी देर थी। उसे अभी एक अत्यन्त भयानक योद्धा और अनुभवी शूर वीर, राजपूतों के सिरताज राणा संग्रामसिंह से लड़कर अपने भाग्य का निबटारा करना बाकी था। जब राणा ने देखा कि बाबर का विचार हिन्दुस्तान पर एक स्थायी राज्य स्थापित करने का है, तब वह अपनी सेना लेकर आगरे की तरफ़ बढ़ा। बाबर भी अपनी सेना इकट्ठी करके उसकी ओर चला। आगरे के पच्छिम २३ मील पर सीकरी और कनवाहा गाँव के पास दोनों योद्धाओं की मुठभेड़ हुई (मार्च सन् १५२७)। साँगा की वीरता का सिक्का देश भर पर जमा हुआ था। बाबर के सैनिकों के दिल भी उसके शौर्य की कहानियाँ सुन कर दहल गये। स्वयं बाबर भी हतोत्साह हो गया था। पर उसने भी साहस से काम लिया। शराब के शीशे और प्याले तोड़ डाले और अपने पिछले गुनाहों से तोबा करके खुदा की इबादत की। फिर उसने अपने सैनिकों को उत्साहित किया। कहा जाता है कि इस युद्ध के लिये उसने एक खास और बहुत बड़ी तोप बनवाई थी। यहाँ भी उसने वैसी ही मोरचेबन्दी की जैसी पानीपत में की थी। यद्यपि बाबर की तोपों की मार से बहुत से राजपूत मारे गए, पर राजपूतों ने भी बाबर की सेना को कम क्षति नहीं पहुँचाई थी। जब बाबर ने देखा कि मेरे सैनिकों की संख्या बराबर कम हो रही है, तब वह स्वयं चुने हुए सवारों को साथ लेकर राजपूतों पर टूट पड़ा। राजपूतों के पैर उखड़ गए और कनवाहा के मैदान में बाबर की जीत हो गई। राणा साँगा लौटकर अपने राज्य में नहीं गया और दो वर्ष इधर उधर रहने के बाद किसी ने उसे जहर देकर या और किसी प्रकार मार डाला।

मेदिनीराव से युद्ध—कनवाहा के युद्ध में राजपूतों के पराजित होने का परिणाम यह हुआ कि देश में राजपूतों का प्रभुत्व सदा के लिए नष्ट हो गया। राजपूत नरेशों ने मिलकर जो एक शक्ति खड़ी की थी, वह विनष्ट हो गई। कुछ थोड़े से राजपूत सरदार और राजा बच रहे थे जिन्होंने फिर मिलकर बाबर का मुकाबला करना चाहा था। चँदेरी का अधिपति मेदिनीराव भी अच्छा वीर और योद्धा था। उसी को उन सरदारों और राजाओं ने अपना नेता बनाया। पर ज्यों ही बाबर को यह समाचार मिला, त्यों ही वह तुरन्त यमुना नदी पार करके चँदेरी के किले पर जा पहुँचा और किले के प्रायः सभी सैनिकों को तलवार के घाट उतारा। अब सब राजपूत पूर्ण रूप से परास्त हो गए। पर पूरब में अफगान बाकी रह गए थे; इसलिए राजपूतों से निश्चिन्त हो कर उसने अफगानों से

लड़ना निश्चित किया। यद्यपि अफगान लोग पहले देहली में पूर्ण रूप से परास्त किये जा चुके थे, पर फिर भी बिहार और बंगाल में अभी तक उनका पूरा जोर बना था। जब तक यह भय भी दूर न हो जाता, तब तक बाबर चैन नहीं ले सकता था। इसलिए वह बिहार की ओर बढ़ा। पटने से कुछ पश्चिम की ओर एक स्थान पर घाघरा नदी गंगा में मिलती है। उसी स्थान पर घाघरा नदी के किनारे अफगान सरदारों के साथ बाबर की सेना का युद्ध हुआ जिसमें अफगान भी पूर्ण रूप से परास्त हुए। यहाँ अफगानों के विरुद्ध भी सब से अधिक काम बाबर के तोपखाने ने ही किया था।

अन्तःपुर का षड्यन्त्र—राजपूतों और अफगानों को परास्त करने के उपरान्त भारत में बाबर बहुत कुछ निश्चिन्त हो गया था। उसने समझ लिया था कि अब ये लोग मुझे अधिक कष्ट नहीं पहुँचा सकते और मेरे साम्राज्य-स्थापन में बाधक नहीं हो सकते। इस बीच में बाबर का स्वास्थ्य भी बहुत कुछ खराब हो गया था और इसी लिए वह प्रायः दुःखी और चिन्तित रहा करता था। उस समय कुछ लोगों ने बाबर और हुमायूँ के विरुद्ध एक षड्यन्त्र रचा था। बात यह हुई थी कि कनवाहा के युद्ध के बाद ही बाबर ने हुमायूँ को काबुल भेज दिया था, क्योंकि वहाँ कुछ उपद्रव की आशंका हो रही थी। पर जब वहाँ हुमायूँ को उजबकों के विरुद्ध विशेष सफलता न मिली, तब बाबर ने स्वयं वहाँ पहुँच कर उपद्रवकारियों को दमन करने का विचार किया। पर लाहौर पहुँचते पहुँचते उसकी तबीयत ज्यादा खराब हो गई, इसलिए वह आगे न जा सका। उस समय कुछ लोगों ने चाहा कि बाबर का सिंहासन हुमायूँ को न मिलकर बाबर के बहनोई मीर मुहम्मद मेहदी ख्वाजा को मिले। पर जब हुमायूँ को इस षड्यन्त्र का पता चला, तब बदख्शानियों के रोकने पर भी वह बदख्शाँ से तुरन्त चल पड़ा; और जितनी जल्दी हो सका, आगरे आ पहुँचा। हुमायूँ और उसकी माता माहम ने मिलकर षड्यन्त्रकारियों का उद्देश्य सफल न होने दिया। हुमायूँ से बाबर कुछ असन्तुष्ट था और इसी लिए लोगों को यह षड्यन्त्र रचने का अवसर मिला था। पर हुमायूँ के आने पर पिता-पुत्र का वह दुर्भाव दूर हो गया और षड्यन्त्र करनेवालों की कुछ चल न सकी। इसके बाद सन् १५३० की ग्रीष्म ऋतु में हुमायूँ अपनी जागीर संभल में चला गया और वहाँ पहुँच कर बहुत सख्त बीमार पड़ गया।

बाबर की मृत्यु—अपने पुत्र हुमायूँ की बीमारी देखकर बाबर बहुत ही दुःखी और चिन्तित हुआ और सोचने लगा कि हो सके तो मैं अपने प्राण देकर भी अपने पुत्र के प्राणों की रक्षा करूँ। उसके अमीरों और सरदारों ने

उसे बहुत समझा बुझाकर रोकना चाहा, पर उसने किसी की एक न सुनी। कहते हैं कि उसने अपने रोगी पुत्र की शय्या की तीन बार परिक्रमा करके ईश्वर से प्रार्थना की कि हुमायूँ के प्राण बच जायँ और उसके बदले में मैं मर जाऊँ। इस क्रिया पर उसका इतना विश्वास था कि इसकी समाप्ति पर उसने तुरन्त जोर से कहा—"मैंने अपने पुत्र को बचा लिया।" और वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही। उसी समय से हुमायूँ की अवस्था सुधरने लगी और बाबर की शारीरिक अवस्था, जो पहले से ही बिगड़ी हुई थी, बराबर और बिगड़ने लगी और अन्त में सोमवार २६ दिसम्बर १५३० को उसका परलोक-वास हो गया। मरने से पहले उसने अपने सब अमीरों और सरदारों को एकत्र करके उनसे कह दिया था कि मेरा उत्तराधिकारी हुमायूँ है और तुम लोग सदा सब प्रकार से इसकी रक्षा और सहायता करना। उसके मरने की खबर कई दिनों तक छिपाई गई और २९ दिसम्बर को हुमायूँ सिंहासन पर बैठा। बाबर की लाश पहले तो आगरे में ही रखी गई थी, पर पीछे वहाँ से हटाकर काबुल पहुँचाई गई और वहाँ एक ऐसे स्थान पर, जिसे उसने पहले ही अपने दफन होने के लिए चुन रखा था, दफना दी गई।

बाबर का चरित्र—इसमें सन्देह नहीं कि बाबर सभी दृष्टियों से बहुत ही योग्य शासक था। वह केवल वीर और योद्धा ही नहीं था, बल्कि बहुत अच्छा विद्वान, गुणी, सज्जन और सत्यनिष्ठ भी था और उसकी गणना मध्य युग के सर्वश्रेष्ठ शासकों में की जा सकती है। वह उच्चाकांक्षी, साहसी और धीर था, सदा अपने बल पर भरोसा रखता था और सब काम बहुत ही समझ बूझकर करता था। बाबर ने अपने जीवन में बहुत से ऊँच-नीच देखे थे, और इसी लिए उसमें अनेक अच्छे अच्छे गुण आकर एकत्र हो गये थे। उसमें शारीरिक बल इतना अधिक था कि वह दो आदमियों को अपनी दोनों बगलों में दबाकर आसानी से इधर-उधर दौड़ सकता था। वह तलवार और तीर-कमान आदि चलाने में भी बहुत निपुण था। यद्यपि वह शराब प्रायः पीता था और बार बार शराब छोड़ने की प्रतिज्ञा करके भी शराब नहीं छोड़ सकता था, पर अन्तिम बार कनवाहा के युद्ध के समय उसने शराब छोड़ने की जो प्रतिज्ञा की थी, उसका उसने अन्त तक निर्वाह किया था। इससे पहले उसकी यह अवस्था थी कि काफी शराब पी चुकने पर भी अगर कोई बड़ा काम आ पड़ता था, तो वह तुरन्त शराब-कबाब छोड़कर घोड़े की पीठ पर जा पहुँचता था और बिना वह काम पूरा किये दम न लेता था। साथ ही वह शराब पीकर कभी बदमस्त नहीं होता था; और जो लोग बदमस्त या बेहोश हो जाते थे, उन्हें बहुत घृणा

की दृष्टि से देखता था। वह अपने सैनिकों की व्यवस्था और मर्यादा का बहुत ध्यान रखता था; और यद्यपि समय पड़ने पर बहुत उग्र रूप धारण कर लेता था, पर फिर भी उसके हृदय में मनुष्यत्व और दया का निवास था। वह प्रायः प्रसन्न रहता था और बड़ी से बड़ी विपत्ति आने पर भी सहसा विचलित नहीं होता था। अपनी प्रजा के सुख का भी वह बहुत ध्यान रखता था और उसके जो कर्मचारी प्रजा को कष्ट पहुँचाते थे या उसकी आज्ञा की अवहेलना करते थे, उन्हें वह कठोर दंड देता था। वह अपने सम्बन्धियों, मित्रों और भाई-बन्दों के साथ तो प्रेम का व्यवहार करता ही था, पर शत्रुओं और विजितों के साथ भी उसका व्यवहार बहुत ही उदारता का और सहानुभूतिपूर्ण होता था। उसका अधिकांश जीवन कष्ट भोगने और लड़ाइयाँ लड़ने में ही बीता था और इसलिए भोग-विलास करने का उसे विशेष समय नहीं मिला था। हाँ, प्राकृतिक दृश्यों का वह बहुत बड़ा प्रेमी था और अपने अवकाश का अधिकांश समय जंगलों, पहाड़ों, झरनों और उपवनों आदि के देखने में बिताया करता था।

बाबरनामा या आत्म-चरित्र—हम ऊपर कह आये हैं कि बाबर बहुत बड़ा विद्वान था। और उसकी विद्वत्ता उसके उस आत्म-चरित्र से प्रकट होती है जो उसने तुर्की भाषा में लिखा था और जो बाबरनामा के नाम से प्रसिद्ध है। यह पुस्तक अनेक दृष्टियों से बहुत महत्व की, मनोरंजक और उपादेय है और युरोप की अनेक तथा भारत की कुछ भाषाओं में भी इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान अब्दुर्रहीम खानखानाँ ने सन् १५९० में फारसी में इसका बहुत सुन्दर अनुवाद किया था और दूसरी भाषाओं के अधिकांश अनुवाद प्रायः इसी फारसी अनुवाद के आधार पर हुए हैं। इसमें बाबर के समय की सभी बातों और बड़े बड़े लोगों का बहुत अच्छा वर्णन है। इसके पढ़ने से बाबर के सभी गुणों का पूरा पूरा पता चलता है और उसका चित्र सा सामने आकर खड़ा हो जाता है। विद्वानों का मत है कि बाबर ने जैसा अच्छा आत्म-चरित्र लिखा है, वैसा अच्छा आत्म-चरित्र शायद एशिया के किसी और राजा या बादशाह ने नहीं लिखा। उसकी शैली बहुत ही सरल, सुबोध और साथ ही ओजस्विनी है और उसमें किसी प्रकार के अभिमान आदि की गन्ध भी नहीं है। वह उच्च कोटि के लेखक होने के सिवा उच्च कोटि का कवि भी था और फारसी तथा तुर्की दोनों भाषाओं में बहुत अच्छी कविता करता था। उसने अनेक स्थलों और वहाँ के प्राकृतिक दृश्यों के बहुत ही मनोहर वर्णन किये हैं।

धार्मिक विचार और शासन-प्रणाली—बाबर सुन्नी सम्प्रदाय का

अनुयायी था, पर उसमें वह कट्टरपन नहीं था जो महमूद गजनवी या तैमूर लंग आदि में था। वह शीया मुसलमानों और हिन्दुओं से बहुत घृणा करता था और मूर्त्तिपूजकों का बहुत बड़ा शत्रु था। वह ईश्वर पर बहुत विश्वास रखता था और प्रायः विपत्ति के समय उसी से सहायता की प्रार्थना करता था। आत्मचरित्र में उसने हिन्दुओं की बहुत निन्दा की है और उन्हें नितान्त अकर्मण्य, अयोग्य और गन्दा बतलाया है। उसने लिखा है कि भारत में केवल एक ही गुण है; और वह यह कि यहाँ सोना-चाँदी बहुत अधिकता से मिलती है।

यद्यपि बाबर ने केवल अपनी तलवार के बल से अनेक देशों पर विजय प्राप्त की थी, पर वहाँ की शासन सम्बन्धी व्यवस्था ठीक करने का उसे अवसर नहीं मिलता था, इसलिए भारत में उसने वही पुरानी शासन व्यवस्था प्रचलित रखी और उसमें कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं किया। उसने अपने साम्राज्य को बड़ी बड़ी जागीरों में बाँट कर जागीरदारों के सपुर्द कर रखा था, पर उनकी स्वतन्त्रता पहले से बहुत कुछ कम कर दी थी। उसने अपनी उदारता के कारण देहली और आगरे के खजानों का सारा धन मुक्त–हस्त होकर लोगों को बाँट दिया था और इसी लिए उसे कुछ नये कर लगाने पड़े थे। उसका शासन बहुत कुछ दुर्बल था और उसका कोई विशिष्ट या निश्चित स्वरूप नहीं था। इन कारणों से, और राजकोश में धन के अभाव के कारण भी, उसके उत्तराधिकारी हुमायूँ को आरम्भ में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।

तात्पर्य यह कि बहुत सी बातों में एशिया के दूसरे बादशाहों और राजाओं आदि से बाबर बहुत भिन्न था। उसके पोते अकबर को छोड़कर कदाचित् उसके वंश में और कोई ऐसा नहीं है जो उसकी समता कर सके। चंगेजखाँ और तैमूर लंग ने अवश्य ही बहुत बड़े बड़े भू-भागों पर विजय प्राप्त की थी, पर उनमें वे मानसिक गुण नहीं थे जो बाबर में अधिकता से थे। स्टैनली लेन–पूल का मत है कि वह मध्य एशिया और भारत की संयोजक श्रृंखला था और सेना–संचालन, शासन–व्यवस्था और विद्यानुराग में ज्यूलियस सीजर के समान माना जा सकता है। कम से कम मुगल बादशाहों में तो वह सबसे अधिक प्रशंसनीय और जनता का स्नेह–भाजन था।

तीसरा अध्याय

हुमायूँ द्वारा साम्राज्य का पुनरुद्धार

हुमायूँ के राज्यारोहण-काल की स्थिति—२९ दिसम्बर सन् १५३० को हुमायूँ अपने पिता के सिंहासम पर बैठा था। उस समय बाबर का विस्तृत साम्राज्य दो भागों में विभक्त था। हुमायूँ अपने भाइयों में सब से बड़ा था और उत्तरी भारत का सब अधिकार उसी के हाथ में था। उसका दूसरा भाई कामरान पहले से ही काबुल और कन्धार का शासक था और वे प्रदेश उसके अधिकार में थे। इसके सिवा हुमायूँ ने सिन्धु तट का प्रदेश और पंजाब भी उसके अधीन कर दिया। अपने छोटे भाई हिन्दाल को उसने संभल की जागीर दे दी थी; और सबसे छोटे भाई मिरजा अस्करी को अलवर और मेवात का शासक बना दिया था। बदख्शाँ की व्यवस्था उसने अपने चचेरे भाई सुलैमान मिरजा को सौंप दी थी और बहुत से अमीरों को भी बड़ी बड़ी जागीरें और पुरस्कार दिये थे। पर इस प्रकार साम्राज्य के विभाग करके हुमायूँ ने अच्छा नहीं किया था, क्योंकि आगे चलकर इसके कारण सैनिक संघटन में कई बाधाएँ खड़ी हुईं। बाबर अपने अधिकांश सैनिक काबुल से ही मँगाया करता था। पर आगे चलकर उसे काबुल से सैनिक सहायता मिलना बन्द हो गया और सैनिकों के लिए उसे फारस का मुखापेक्षी होना पड़ा था।

परन्तु शीघ्र ही हुमायूँ को अपनी भूल मालूम हो गई और उसने समझ लिया कि इतने बड़े साम्राज्य की व्यवस्था कुछ हँसी-खेल नहीं है। फिर कई शाहजादों को अच्छे प्रदेश और अधिकार मिल गये थे और वे स्वभावतः अपने राज्य का विस्तार करना चाहते थे। किसी बलवान बादशाह के मरने पर एक तो यों ही विद्रोह और उपद्रव आदि हुआ करते थे। दूसरे बाबर ने लोदियों और अफगानों को परास्त करके पहले से अपना भारी शत्रु बना रखा था। बिहार और बंगाल के अफगान सरदार कदाचित् हिन्दुओं से भी उतनी घृणा नहीं करते थे जितनी घृणा वे मुगलों से करते थे। बस इन्हीं सब बातों के कारण हुमायूँ को अपने शासन काल के आरम्भ में कई बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। बिहार में अफगान सरदार शेरखाँ जमा हुआ बैठा था और उधर गुजरात में बहादुर शाह मौजूद था। और ये दोनों ही हिन्दुस्तान

पर दाँत लगाये हुए थे। दिल्ली के लोदी सुलतान के दो वंशज, जो दिल्ली से भगा दिये गये थे, गुजरात जा पहुँचे थे और वहीं से हुमायूँ का राज्य छीनने का प्रयत्न करते थे। और बहादुर शाह स्वार्थवश उनकी सहायता करता था, और हुमायूँ को, जिसकी अवस्था उस समय तेईस चौबीस वर्ष की थी, अकेले ही इन सब शत्रुओं और विरोधियों का सामना करना पड़ा था। यद्यपि वह योग्य था और बहुत कुछ अनुभव भी प्राप्त कर चुका था, पर फिर भी उसमें वे गुण भला कहाँ से आ सकते थे जो उसके पिता में थे! तो भी जिस प्रकार हुआ, उसने इन सब लोगों को धीरे धीरे दबाया और अपने साम्राज्य की नींव दृढ़ की।

यद्यपि हुमायूँ ने अपने भाइयों को जागीरें आदि देकर शान्त कर दिया था, पर फिर भी उनमें से कोई ऐसा नहीं था जो हुमायूँ का शुभचिन्तक होता या समय पड़ने पर उसकी कोई सहायता करता। इसलिए हुमायूँ को चारों ओर फैले हुए शत्रुओं का अकेले ही मुकाबला करना पड़ा। सब से पहले वह पूरब की ओर गया, क्योंकि वहाँ लोदी वंश का महमूद उपद्रव कर रहा था। महमूद को उसने लखनऊ के पास सन् १५३१ में परास्त किया। पर युद्ध में हुमायूँ ने अफगानों का पूर्ण रूप से पराभव नहीं किया, क्योंकि वह कुछ सुस्त और ला-परवाह भी था। उसने चुनार पर भी घेरा डाला था, पर जब शेरखाँ ने नाम मात्र की अधीनता स्वीकृत कर ली, तब उसने वह घेरा भी उठा लिया और लौटकर आगरे चला आया। अफगानों में शेरखाँ सब से अधिक होशियार और चालाक था और बहुत लम्बे चौड़े मन्सूबे बाँधता था। हुमायूँ के चले जाने पर उसे अपने मन्सूबे पूरे करने और अपनी शक्ति बढ़ाने का बहुत अच्छा मौका मिल गया।

बिहार की तरफ से हुमायूँ के चले आने का कारण यह था कि गुजरात की तरफ बहादुर शाह बहुत बढ़ता आ रहा था। मुगल राजवंश के दो शाहजादे पहले से ही हुमायूँ के सिंहासन पर अधिकार करना चाहते थे और इसलिए वे देहली से निकाल दिये गये थे। उन लोगों ने गुजरात पहुँच कर बहादुर शाह की शरण ली थी और वहीं से वे हुमायूँ के नाश के उपाय सोच रहे थे। उधर गुजरात के सिवा मालवे में भी एक मुसलमान शासक था और बहादुर शाह ने छल-बल से मालवे पर भी अधिकार कर लिया था। जब हुमायूँ ने बहादुर शाह को लिखा कि हमारे वंश के जो दो शाहजादे भागकर तुम्हारे यहाँ चले गये हैं, उन्हें तुम हमारे पास भेज दो, तब बहादुर शाह ने ऐसा करने से इन्कार किया और इसी लिए हुमायूँ को बहादुर शाह के साथ लड़ना पड़ा था। कर्नल टाड ने हुमायूँ के गुजरात पर आक्रमण करने का एक और कारण बतलाया है। वह लिखता-

है कि बहादुर शाह चित्तौर पर आक्रमण कर रहा था और वहाँ के राज-परिवार की स्त्रियों ने मुसलमानों के हाथ में पड़ने से बचने के लिए वीरतापूर्वक जौहर करके (अर्थात् जलती हुई चिता में कूदकर) अपने प्राण दे दिये थे। इससे पहले वहाँ की रानी कर्णावती ने हुमायूँ के पास राखी भेजी थी और इस प्रकार मानों उससे अपनी और अपने शिशु पुत्र की रक्षा की प्रार्थना की थी। इस प्रकार कुछ तो आत्मरक्षा के विचार से और कुछ रानी कर्णावती की रक्षा के विचार से प्रेरित होकर हुमायूँ ने बहादुर शाह पर चढ़ाई की थी। बहादुर शाह ने अपने यहाँ अलाउद्दीन लोदी को भी शरण दे रखी थी और उसे धन-जन आदि देकर अपने पुत्र तातारखाँ के साथ देहली पर चढ़ाई करने के लिए भी भेज दिया था। पहले बियाना नामक स्थान में अलाउद्दीन और तातार खाँ के साथ ही हुमायूँ की मुठभेड़ हुई जिसमें हुमायूँ की जीत हुई और तातारखाँ मार डाला गया। अब बहादुर शाह को दंड देने के लिए हुमायूँ वहाँ से गुजरात की ओर बढ़ा। पहले मालवे की राजधानी माँडू में लड़ाई हुई, पर बहादुर शाह वहाँ से हारकर गुजरात की ओर भागा। हुमायूँ ने वहाँ भी उसका पीछा किया। बहादुर शाह के वहाँ से चुपचाप भागने का एक और कारण यह भी था कि वहाँ बहुत बड़ा अकाल पड़ गया था जिससे उसके सैनिक भूखों मरने लगे थे। बहादुर शाह जहाँ जाता था, वहीं हुमायूँ उसका पीछा करता हुआ उसके सिर पर जा पहुँचता था। जब बहादुर चाँपानेर पहुँचा, तब हुमायूँ ने चाँपानेर के किले पर भी बड़ी बहादुरी के साथ अधिकार कर लिया था। बहादुर शाह ने जब अपनी रक्षा का और कोई उपाय न देखा, तब वह सन् १५३६ में डियू नामक स्थान में पुर्त्तगालियों के पास जा छिपा। इस प्रकार गुजरात और मालवे को हुमायूँ ने जीत तो लिया, पर वह उन्हें स्थायी रूप से अपने अधिकार में न रख सका। वह अफीम खाया करता था और प्रायः विजय प्राप्त करने के उपरान्त खूब आनन्द-मंगल करने लगता था। बहादुर शाह ने अपने कर्मचारी इमादुल मुल्क को अहमदाबाद भेज कर उसपर अधिकार कर लिया। हुमायूँ ने इमादुल मुल्क पर आक्रमण करके उसे भी परास्त किया। इसके बाद वह अपने भाई अस्करी को, जो इस युद्ध में उसके साथ था, वहीं छोड़कर बिहार की तरफ चला गया, क्योंकि वहाँ शेर खाँ ने फिर एक बहुत बड़ा विद्रोह खड़ा कर दिया था। जब हुमायूँ उधर चला गया, तब अस्करी ने अपने कर्मचारियों के साथ लड़ना झगड़ना आरम्भ कर दिया। उसमें शासन की भी योग्यता नहीं थी जिससे लोग असन्तुष्ट होने लगे। बहादुर शाह भला ऐसे अवसर पर कब चूकनेवाला था ! उसने फिर इधर उधर से एक बहुत बड़ी सेना इकट्ठी

की और गुजरात से मुगलों को निकाल कर फिर वहाँ अपना अधिकार जमा लिया। पर वह अधिक समय तक अपने इस नवीन अधिकार का सुख न भोग सका और डियू में, जब कि वह पुर्तगालियों के पास गया हुआ था, मर गया। शायद पुर्त्तगाली उसे धोखा देना चाहते थे, इसलिए वह समुद्र में कूद कर मर गया (१५३७)।

हुमायूँ तो पाँच छः वर्ष तक इधर इन झगड़ों में फँसा रहा और इस बीच में उधर पूरब में शेर खाँ सूर ने फिर अपने राज्य और शक्ति का बहुत अधिक विस्तार कर लिया। सारे बिहार और बंगाल के बहुत बड़े अंश पर उसका अधिकार हो गया था और इधर वह चुनार तक बढ़ आया था। हुमायूँ ने भूल यह की कि पहले जाते ही चुनार के किले पर घेरा डाल दिया और प्रायः छः मास वहीं डेरा डाले पड़ा रहा। इस बीच में शेरखाँ ने बंगाल में गौड़ पर भी विजय प्राप्त कर ली। गौड़ पर पूर्ण रूप से अधिकार कर लेने के उपरान्त वह रोहतास के सुप्रसिद्ध और दृढ़ किले में चला आया और साथ ही सारा राजकोश और तोपें आदि भी उसने वहीं मँगा लीं। उसके परिवार के सब लोग भी वहीं आ गये थे। जब हुमायूँ बिहार की ओर बढ़ने लगा, तब शेरखाँ ने अपने पुत्र जलालखाँ को राजमहल के पास चिकरागली नामक स्थान में हुमायूँ का मुकाबला करने के लिए नियुक्त कर दिया। पर जलालखाँ भी अपनी छोटी सी सेना को लेकर वहाँ से हट गया और अपने पिता के पास रोहतास पहुँच गया। हुमायूँ ने रास्ता साफ देखकर बंगाल में प्रवेश किया। पर वह यह नहीं जानता था कि शेरखाँ ने मेरे साथ बहुत बड़ी चाल की है और मुझे अपने घर के अन्दर फँसाना चाहा है। हुमायूँ ने आगे बढ़कर बिना लड़े-भिड़े गौड़ पर अधिकार कर लिया। बरसात आ गई थी, इसलिए हुमायूँ को अपनी फौज के साथ वहीं रुकना पड़ा। बरसात बीत जाने पर जब उसने आगे बढ़ने का विचार किया, तब तक इधर शेरखाँ ने देहली और आगरे का मार्ग बिलकुल रोक दिया और हुमायूँ बंगाल में घिरकर अकेला पड़ गया। हुमायूँ ने इस विकट परिस्थिति से निकलना चाहा और वह गंगा के किनारे पच्छिम की ओर बढ़ने लगा। शेरखाँ भी यह समाचार पाकर आगे बढ़ा और जून १५३९ में उसने चौसा नामक स्थान पर हुमायूँ की सेना के पिछले भाग पर आक्रमण किया। इस अचानक हमले के कारण हुमायूँ की सेना में भगदड़ मच गई और उसके प्रायः ८००० सैनिक भागते समय गंगा में डूब गये। कहा जाता है कि स्वयं हुमायूँ भी बड़े संकट में पड़ गया था और एक भिश्ती ने उसे डूबने से बचाया था। भिश्ती ने ही उसे अपनी मशक पर बैठाकर किसी प्रकार उस पार पहुँचाया था। यह भी कहा जाता है कि इसके

बदले में हुमायूँ ने उसे दो दिन तक अपने सिंहासन पर बैठा कर राज्याधिकार उसे दिया था। हुमायूँ ने वहाँ से किसी प्रकार आगरे पहुँच कर फिर दूसरी सेना एकत्र की और मई सन् १५४० में कन्नौज में फिर शेरखाँ का मुकाबला किया। पर वहाँ भी हुमायूँ हार गया और देहली होता हुआ लाहौर पहुँचा। उसे आशा थी कि भाई कामरान इस विपत्ति के समय मेरी सहायता करेगा। पर कामरान भी शेरखाँ से डर गया था और हुमायूँ को कष्ट पहुँचाता था। इसलिए उसने पंजाब शेरखाँ को सौंप कर स्वयं काबुल की ओर जाने का विचार किया। देहली और आगरे पर भी शेरखाँ का अधिकार हो गया था। इस प्रकार सारा भारत हुमायूँ के हाथ से निकल गया और शेरखाँ ने फिर अफगान वंश का शासन स्थापित किया। अब वह बादशाह बन गया था और उसने अपना नाम शेर शाह सूर रख लिया था। यद्यपि उसका यह शासन अधिक समय तक न टिक सका, पर फिर भी अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण अवश्य था। परन्तु शेर शाह के सम्बन्ध में कुछ अधिक बातें बतलाने से पहले हम हुमायूँ के सम्बन्ध की कुछ बातें बतला देना चाहते हैं।

हुमायूँ की सिन्ध-यात्रा और अकबर का जन्म—अब न तो हुमायूँ के पास कोई देश रह गया था और न उसके भाइयों के पास ही। अब उसे नई सेना एकत्र करने की भी कोई आशा न रह गई थी। इसलिए लाचार होकर वह सिन्ध की तरफ चला। उसे आशा थी कि उस प्रान्त के राजपूत और मुसलमान सरदार आदि मेरी सहायता करेंगे। पर विपत्ति के समय कोई किसी का साथ नहीं देता। यहाँ तक कि अन्धकार में स्वयं मनुष्य की परछाँही भी उसका साथ छोड़ देती है। पहले तो कोई हुमायूँ को जल्दी अपने यहाँ ठहरने ही न देता था; और यदि किसी कारणवश कोई उसे ठहरा भी लेता था, तो यही चाहता था कि हुमायूँ यहाँ से जल्दी चला जाय। इस बीच में उसने एक बार भक्कर पर घेरा डाला था, पर वहाँ से भी उसे भागना पड़ा। इसी अवसर पर उसने शेख अली अकबर जामी की कन्या हमीदा से विवाह किया था। उसी के गर्भ से आगे चलकर अकबर का जन्म हुआ था। जोधपुर के राव मालदेव ने उसे सहायता का वचन दिया था, पर बाद में वह भी शेरखाँ से डर कर हुमायूँ को गिरफ्तार करने का प्रयत्न करने लगा। शत्रु भी उसका पीछा करते चले आ रहे थे। हुमायूँ ने वे दिन बहुत बड़ी विपत्ति में बिताये थे और उसके पास खाने-पीने तक का ठिकाना नहीं रह गया था। कभी कभी तो उसे केवल जंगली फल-मूल आदि खाकर ही निर्वाह करना पड़ता था। अतः वह भाग कर अमरकोट चला गया। इन्हीं भीषण विपत्ति के दिनों में २३ नवम्बर सन् १५४२ को

अमरकोट में उसके पुत्र अकबर का जन्म हुआ। हुमायूँ के स्वामिनिष्ठ सेवक जौहर ने एक स्थान पर लिखा है कि पुत्र-जन्म का यह उत्सव सिन्ध के रेगिस्तान में बहुत ही गरीबी की हालत में मनाया गया था। उस समय हुमायूँ के पास चीनी की एक तश्तरी और कस्तूरी के एक नाफे के सिवा और कुछ भी नहीं था। उस समय जो थोड़े से आदमी उसके पास थे, उन्हें वही कस्तूरी बाँटते हुए उसने कहा था–"पुत्र-जन्म के उत्सव के समय मैं यही कस्तूरी आप लोगों की भेंट कर रहा हूँ, और मैं आशा करता हूँ कि किसी समय इस पुत्र के कीर्त्ति-सौरभ का भी सारे संसार में उसी प्रकार विस्तार होगा, जिस प्रकार इस समय इस कमरे में इस कस्तूरी का सौरभ फैल रहा है।" और वास्तव में आगे चलकर हुआ भी ऐसा ही।

फारस को प्रस्थान—अमरकोट के राजा की सहायता से हुमायूँ ने सिन्ध में अपने पैर जमाने का प्रयत्न किया था; पर जब इस प्रयत्न में उसे सफलता न हुई, तब वह लाचार होकर वहाँ से कन्धार चला गया। पर वहाँ भी उसके भाई अस्करी ने उसके साथ सज्जनोचित और भाइयों का सा व्यवहार नहीं किया, बल्कि उलटे उसे गिरफ्तार करने को अपने सवार भेजे। इसलिए वह वहाँ से फारस चला गया और वहाँ के बादशाह शाह तहमास्प की शरण में पहुँचा।

इसी भागा-भाग में उसका नवजात पुत्र अकबर भी, जिसकी अवस्था केवल एक वर्ष की थी, कन्धार में पीछे छूट गया। पर अस्करी ने इतनी भलमनसत अवश्य की कि अकबर को अपने पास मँगा लिया और साधारण रूप से वह उसका लालन-पालन करने लगा।

फारस का शाह तहमास्प, जिसकी अवस्था उस समय २७ वर्ष की थी, बहुत ही योग्य और सज्जन शासक था। उसने हुमायूँ का अच्छा आदर-सत्कार किया और उससे कहा कि यदि तुम सुन्नी सम्प्रदाय छोड़कर शीया सम्प्रदाय में आ जाओ तो मैं यथा-साध्य तुम्हारी सहायता कर सकता हूँ। बहुत कुछ आगा-पीछा करने के उपरान्त अन्त में हुमायूँ को विवश होकर शीया मत ग्रहण करना पड़ा और यह भी स्वीकृत करना पड़ा कि जब मैं काबुल और कन्धार पर अधिकार कर लूँगा, तब कन्धार इस सहायता के बदले में शाह तहमास्प को दे दूँगा। तहमास्प ने उसे १४००० सवार दिये। मार्च १५४५ में हुमायूँ ने कन्धार पर घेरा डालकर अपने भाई अस्करी को परास्त किया और उससे वह नगर ले लिया। कन्धार हाथ में आ जाने से हुमायूँ की अवस्था बहुत कुछ सुधर गई और तब उसने काबुल पहुँच कर अपने दूसरे भाई कामरान को भी परास्त किया और उससे काबुल ले लिया। उस समय

कामरान ने अपना किला हुमायूँ की गोलाबारी से बचाने के लिए एक विलक्षण उपाय किया था। उसने हुमायूँ के पुत्र बालक अकबर को किले की दीवार पर इसलिए खड़ा कर दिया था कि कम से कम इसके प्राणों की रक्षा के विचार से ही इस किले पर गोलेबारी न की जायगी। पर फिर भी कामरान हार गया और काबुल पर हुमायूँ का अधिकार हो गया। उस समय बहुत दिनों बाद पिता हुमायूँ ने अपने पुत्र अकबर को फिर से पाया था। कामरान वहाँ से भागकर पहले तो सलीम शाह सूर के पास और फिर गक्खरों के पास गया। पर गक्खरों के सरदार ने उसे हुमायूँ के हाथ सौंप दिया। हुमायूँ ने उसे उसके इच्छानुसार मक्के भेज दिया जहाँ सन् १५५७ में उसकी मृत्यु हो गई। मिरजा अस्करी भी पकड़ा गया और मक्के भेज दिया गया। इस प्रकार उत्तर-पश्चिम के सब शत्रुओं से निश्चिन्त होकर वह फिर से भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित करने की तैयारियाँ करने लगा।

सूर वंश का शासन—हुमायूँ ने इस प्रकार प्रायः पन्द्रह वर्ष इधर उधर घूमने में बिताये थे, और इस बीच में भारत में कई बड़े बड़े परिवर्त्तन हो गये थे। प्रायः सारे भारत में सूर वंश के अफगानों का शासन स्थापित हो गया था। यहाँ हम शेर शाह के सम्बन्ध की और उसके समय से लेकर इस समय के बीच की कुछ मुख्य मुख्य घटनाओं का वर्णन कर देना भी आवश्यक समझते हैं।

शेर शाह का असली नाम फरीद था और वह हसन नामक एक जागीरदार का लड़का था जिसकी जागीर बिहार के सहसराम में थी। इसका जन्म सन् १४८६ के लगभग हुआ था। बाल्यावस्था में फरीद ने जौनपुर में रह कर अरबी और फारसी का अच्छा अध्ययन किया था। बिहार के सूबेदार जमाल खाँ के कहने पर हसन ने अपनी सारी जागीर अपने पुत्र फरीद को सौंप दी थी जिसकी व्यवस्था उसने बहुत ही योग्यता-पूर्वक की। फिर वह बिहार के दूसरे सूबेदार बिहार खाँ का नौकर हुआ और एक बार जंगल में शिकार करते समय उसने एक शेर को अकेले ही मार डाला। इस पर प्रसन्न होकर बिहार खाँ ने उसे शेर खाँ की उपाधि दी। इसके बाद वह कुछ दिनों के लिए आगरे में बाबर के पास भी चला गया था और उसने पूरब में अफगानों को परास्त करने में बाबर को अच्छी सहायता दी थी। इसके पुरस्कार-स्वरूप बाबर ने उसके पिता की जागीर उसे लौटा दी थी।

बाबर ने बिहारखाँ के मरने पर उसके पुत्र जलालखाँ को उसकी सब जागीरें दे दी थीं; पर जलालखाँ उस समय बालक था, इसलिए शेरखाँ ही उसकी जागीरों का प्रबन्ध करता था। जलालखाँ ने बड़े होने पर बंगाल के

सूबेदार की सहायता से स्वतन्त्र होना चाहा, पर शेरखाँ ने उन दोनों को परास्त करके बिहार पर पूर्ण रूप से अपना अधिकार कर लिया; और तब धीरे धीरे बंगाल को भी उसने अपने हाथ में ले लिया। इसके बाद बंगाल में शेरखाँ के साथ हुमायूँ का जो युद्ध हुआ था, उसका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं। चौसा के युद्ध में हुमायूँ की सेना पर विजय प्राप्त करने के बाद से ही शेरखाँ ने अपना नाम शेर शाह रख लिया था और वह अपने नाम के सिक्के चलाने और खुतबा पढ़वाने लगा था। इसके बाद उसने देहली और आगरे पर अधिकार करके पंजाब की तरफ रुख किया और वहाँ उसने सिन्धु और झेलम के मध्य के गक्खर प्रदेश पर अधिकार करना चाहा, क्योंकि उत्तर-पश्चिम से आनेवाले शत्रुओं को रोकने में उस प्रदेश का अच्छा उपयोग हो सकता था। पर इसी बीच में उसे बंगाल के सूबेदार के विद्रोह का समाचार मिला और वह पचास हजार सेना वहाँ छोड़ कर बंगाल जा पहुँचा। इसके कुछ दिनों बाद उसने मालवे पर भी अधिकार कर लिया और तब उसने छल से जोधपुर के राव मालदेव को भगा कर उसके साथी राजपूतों को परास्त किया और तब चित्तौर के किले पर अधिकार करके उसने सारा राजपूताना भी अपने अधिकार में कर लिया। अन्त में उसने कालिंजर के राजा पर चढ़ाई की, पर बारूद में आग लग जाने के कारण शेर शाह का सारा शरीर जल गया जिससे २२ मई सन् १५४५ को उसका देहान्त हो गया। फिर भी उसके साथी अफगानों ने कालिंजर के किले पर अधिकार कर ही लिया।

शेर शाह का चरित्र और शासन-प्रणाली—इस में सन्देह नहीं कि शेर शाह में कई बहुत बड़े बड़े गुण थे। वह शूर-वीर योद्धा भी था और सुयोग्य शासक तथा व्यवस्थापक भी। वह मुल्लाओं के फेर में नहीं पड़ता था और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों की रक्षा तथा उन्नति समान रूप से करता था। राज्य का छोटे से छोटा काम भी वह आप देखता था। देश के शासन की उसने बहुत अच्छी व्यवस्था की थी और प्रान्तों को अनेक विभागों में बाँट कर उन पर योग्य कर्मचारी नियत किये थे। वह किसी पदाधिकारी को साल दो साल से अधिक एक स्थान पर नहीं रहने देता था। मालगुजारी, सेना, न्याय आदि प्रायः सभी विभागों की उसने बहुत अच्छी व्यवस्था की थी और जन-साधारण के सुभीते के लिये उसने सारे देश में कई बहुत बड़ी बड़ी सड़कें बनवाई थीं। सबसे बड़ी सड़क उसने बंगाल के सोनारगाँव से सिन्धु नदी तक बनवाई थी जो प्रायः १५०० कोस लम्बी थी। इसके सिवा आगरे से बुरहानपुर तक और लाहौर से मुलतान तक भी उसने सड़कें बनवाई थीं। सब सड़कों

पर दोनों तरफ बड़े बड़े छायादार वृक्ष लगवाये थे, स्थान स्थान पर कूएँ बनवाये थे और हिन्दुओं तथा मुसलमानों के ठहरने के लिए सराएँ भी बनवाई थीं और उनके भोजन आदि की भी व्यवस्था की थी। इससे सैनिक कार्यों में तो उसे सुभीता हुआ ही था, साथ ही देश के व्यापार के लिए भी अच्छा सुभीता उत्पन्न हो गया था और व्यापार की अच्छी उन्नति हो चली थी। साथ ही इन सड़कों के कारण देश के भिन्न भिन्न भागों से सब प्रकार के समाचार भी शेर शाह तक बहुत जल्दी पहुँचा करते थे। वह विद्वानों का भी बहुत आदर करता था और परोपकार सम्बन्धी कार्यों के लिए मुक्तहस्त हो कर यथेष्ट दान देता था। उसने स्थान स्थान पर दरिद्रों को भोजन देने के लिए लंगर आदि खोल रखे थे, जिनमें हर साल १८०००० अशरफियाँ खरच होती थीं। अफगानों और विशेषतः सूर वंश के लोगों की तो वह और भी अधिक सहायता करता था। जो अफगान उसके दरबार में आता था, उसके लिए कुछ न कुछ वृत्ति बँध जाती थी।

तात्पर्य यह कि मध्य युग के भारतीय शासकों में उसका स्थान बहुत ऊँचा है। और विशेषतः अफगान बादशाहों में तो उसका मुकाबला करनेवाला और कोई हुआ ही नहीं। वह वीर होने के अतिरिक्त धर्मनिष्ठ भी था और कभी अपने सैनिकों को लूट-मार या अनाचार नहीं करने देता था। पर हाँ, युद्ध आदि के समय अवसर पड़ने पर वह धूर्त्तता और छल-कपट करने से भी नहीं चूकता था। सभी धर्मों और सम्प्रदायों के अनुयायियों के साथ वह न्यायपूर्ण और सज्जनोचित व्यवहार करता था। वह अपनी प्रजा में शिक्षा का भी प्रचार करता था। प्रजा उसके प्रति पूरी निष्ठा और भक्ति रखती थी। माल और शासन विभाग की जो व्यवस्था उसने आरम्भ की थी, वही बाद में बहुत से अंशों में मुगलों ने भी प्रचलित रखी थी और टोडरमल तथा अब्बुलफजल आदि ने उसी में थोड़ा-बहुत परिवर्तन और सुधार किया था।

शेर शाह की मृत्यु से अफगानों की जो भारी हानि हुई थी, उसकी पूर्त्ति फिर नहीं हो सकी। उसके मरने के बाद उसका छोटा लड़का जलालखाँ सिंहासन पर बैठा। उस समय उसका नाम सलीम शाह रखा गया। उसके समय में अफगान सरदारों और अमीरों ने बहुत कुछ उद्दंडता आरम्भ की जिसका उसने कठोरतापूर्वक दमन करना आरम्भ किया। उसने बहुत से अमीरों को कैद किया और मरवा डाला। अमीरों का नियन्त्रण करने के लिए उसने बहुत से नये नियम बनाये थे और वह सदा अच्छी सेना तैयार रखता था। उसने बहुत से गुप्तचर भी नियुक्त कर रखे थे जो उसे सारे साम्राज्य की भीतरी बातें

बतलाया करते थे। जब नवम्बर सन् १५५४ में सलीम शाह का परलोकवास हो गया, तब उसका लड़का फीरोजखाँ गद्दी पर बैठा। पर शीघ्र ही उसके मामा मुबारिजखाँ ने उसे मार डाला और अपना नाम मुहम्मद शाह आदिल रख कर सिंहासन पर अधिकार कर लिया। वह स्वयं तो बहुत ही अयोग्य और दुराचारी तथा लम्पट था, पर उसका हिन्दू मन्त्री हेमूँ या हेमचन्द्र बहुत ही योग्य था और बहुत अच्छी तरह शासन करता था। पर फिर भी साम्राज्य में चारों ओर उपद्रव और विद्रोह होने लग गये थे जिन्हें दबाना किसी एक व्यक्ति की शक्ति के बाहर था। इब्राहीमखाँ सूर ने, जो रिश्ते में मुहम्मद शाह आदिल का भाई होता था, देहली और आगरे पर अधिकार कर लिया। पर दूसरे भाई सिकन्दर सूर ने उसे भी परास्त करके सिन्धु से गंगा तक के सारे प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया।

हुमायूँ द्वारा साम्राज्य का पुनरुद्धार—हुमायूँ यद्यपि भारत से चला गया था, पर फिर भी उसकी दृष्टि सदा भारत पर ही रहती थी और वह यहाँ की सभी राजनीतिक घटनाएँ बहुत ध्यान-पूर्वक देखा करता था। जब उसने देखा कि अफगान साम्राज्य में चारों ओर अव्यवस्था मची है और उपद्रव तथा विद्रोह हो रहे हैं, तब उसने सोचा कि भारत पर फिर से अपना साम्राज्य स्थापित करने का यह बहुत ही अच्छा और उपयुक्त अवसर है। इसलिए नवम्बर सन् १५५४ में उसने भारत की ओर प्रस्थान किया और फरवरी सन् १५५५ में उसकी सेना लाहौर आ पहुँची। सिकन्दर सूर बहुत बड़ी सेना लेकर उसका मुकाबला करने के लिए आगे बढ़ा। पर सरहिन्द के पास एक युद्ध में उसकी सेना हार गई और वह युद्ध-क्षेत्र से भाग गया। अब और कोई हुमायूँ का मुकाबला करनेवाला नहीं रह गया था।

प्रायः पन्द्रह वर्षों तक अनेक प्रकार की विपत्तियाँ झेलने पर हुमायूँ ने फिर दिल्ली में बादशाह के रूप में प्रवेश किया। उस समय इधर-उधर कुछ छोटे-मोटे दंगे और विद्रोह हुए थे; और उन्हें शान्त करके वह देश में फिर से शान्ति स्थापित करने की व्यवस्था कर रहा था कि इसी बीच में उसकी मृत्यु हो गई। वह एक दिन अपने पुस्तकालय की सीढ़ियों से नीचे उतर रहा था। उसी समय उसे अज़ान सुनाई पड़ी और उसने वहीं झुक कर बैठना चाहा; पर संगमरमर की सीढ़ियों पर से उसका पैर फिसल गया और वह सिर के बल नीचे आ गिरा। बहुत कुछ चिकित्सा करने पर भी उसके प्राण न बच सके और २४ जनवरी सन् १५५६ को उसका परलोकवास हो गया। उसकी मृत्यु का समाचार भी कुछ दिनों तक छिपाया गया और अन्त में सत्रह दिन

बाद उसके पुत्र जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर के नाम का खुतबा पढ़ा गया और वह बादशाह बनाया गया।

हुमायूँ का चरित्र—हुमायूँ सज्जन और उदार था और अपने बड़े बड़े विद्रोही सम्बन्धियों के साथ भी दयालुता का व्यवहार करके उन्हें क्षमा कर दिया करता था। उसके भाई प्रायः उसके विनाश के प्रयत्न में लगे रहते थे, पर उसने कभी अपने किसी भाई की हत्या नहीं कराई। उसमें शारीरिक बल और साहस भी था, पर कुछ तो अपनी वृत्ति की मृदुता के कारण और कुछ आलस्य आदि के कारण वह उपयुक्त अवसरों पर भी पूरा पूरा लाभ नहीं उठा सकता था। वह अफीम खाया करता था जिससे उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ बहुत कुछ निर्बल हो गई थीं। पर फिर भी वह बहुत योग्य, बुद्धिमान् और विद्याप्रेमी था। वह स्वयं भी अच्छी कविता करता था। वह देहली में एक वेधशाला बनवाना चाहता था, पर इसी बीच में उसकी मृत्यु हो गई जिससे यह काम रुक गया। बड़ी बड़ी विपत्तियाँ आने पर भी वह घबराता नहीं था और उन्हें धैर्यपूर्वक सहन करता था। उसका स्वभाव सरल था, इसलिए वह प्रायः अपने दरबारियों और अमीरों के बहकाने में आकर धोखा खाता था। वह अपनी शान-शौकत दिखलाने के लिए प्रायः बड़े बड़े उत्सव और जलसे भी करता था। वह अपनी दयालुता के कारण सदा सर्वप्रिय बना रहा।

चौथा अध्याय

जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर

१. साम्राज्य का संघटन

(सन् १५५६—१५९५)

अकबर का राज्यारोहण—भारत में पहुँचने के थोड़े ही दिनों बाद हुमायूँ की मृत्यु हो गई थी और उसे अपने साम्राज्य का पूर्ण रूप से उद्धार करने का समय नहीं मिला था। मरने से कुछ ही दिन पहले हुमायूँ ने अपने पुत्र अकबर को अपने विश्वसनीय सरदार और बहुत पुराने साथी बैरमखाँ के साथ पंजाब में सिकन्दर खाँ सूर और अब्बुलमुआली आदि पठान सरदारों का दमन करने के लिए भेजा था। बैरमखाँ अपने आरम्भिक जीवन में बाबर की और मध्य जीवन में हुमायूँ की बहुत अच्छी और बड़ी बड़ी सेवाएँ कर चुका था। चाँपानेर और चौसे आदि के युद्धों में भी और अफगानिस्तान तथा फारस आदि की विकट विपत्तियों के समय भी बैरमखाँ ने बराबर हुमायूँ का साथ दिया था और वह अपनी पूर्ण स्वामिनिष्ठा, वीरता और योग्यता आदि का बहुत अच्छा परिचय दे चुका था। इसी लिए हुमायूँ ने उसे अपने पुत्र अकबर का शिक्षक नियुक्त करके उन दोनों को पंजाब में पठानों का दमन करने के लिए भेजा था। बैरमखाँ के साथ हुमायूँ और अकबर के वंश का कुछ पुराना सम्बन्ध भी था और उसे हुमायूँ से खानखानाँ की उपाधि भी मिल चुकी थी। अकबर उसे खान बाबा कहा करता था। जिस समय ये लोग गुरदासपुर जिले के कलानौर नामक स्थान में थे, उस समय इन्हें हुमायूँ की मृत्यु का दुःखद समाचार मिला। बैरमखाँ ने यह समाचार छिपा रखा और आस-पास के कुछ अमीरों को एकत्र करके वहीं छावनी के पास एक छोटे से बाग में ईंटों का एक चबूतरा बनवाकर और उसी को राजसिंहासन मान कर उस पर अकबर को विधिपूर्वक आसीन किया (१४ फरवरी सन् १५५६)। यह बाग और चबूतरा अब तक मौजूद है और बहुत पवित्र समझा जाता है। अकबर की अवस्था उस समय केवल तेरह वर्ष की थी। जैसा कि मि० विन्सेन्ट स्मिथ ने कहा है—"अकबर के राज्यारोहण से मानों यह बात पक्की हो गई कि हुमायूँ का लड़का ही हिन्दुस्तान

की गद्दी का उत्तराधिकारी है।" तात्पर्य यह कि बीच में सूर वंश के जो पठान आदि कुछ समय के लिए देहली के शासक हो गये थे, वे भारत के वास्तविक स्वामी और शासक नहीं थे। अस्तु। अकबर उस समय बालक ही था, इसलिये बैरमखाँ उसके संरक्षक के रूप में देश का शासन-प्रबन्ध करने लगा।

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति—यह घोषणा तो हो गई कि भारतीय साम्राज्य का सम्राट् अकबर है, पर वस्तुतः अकबर पूरा पूरा सम्राट् नहीं था; क्योंकि अभी तक मुग़ल शासन कहीं पूर्ण रूप से स्थापित हुआ ही नहीं था। उधर उत्तर-पश्चिम में अकबर का एक भाई मिरजा मुहम्मद हकीम काबुल पर अधिकार जमाये और भारत पर दृष्टि गड़ाये बैठा था। काश्मीर में भी वहाँ के एक मुसलमान वंश का शासन स्थापित हो गया था। शेर शाह सूर की मृत्यु के बाद से ही सिन्ध और मुलतान भी स्वतन्त्र हो चुके थे। पंजाब में सिकन्दर खाँ सूर मौजूद था और बंगाल में सूर वंश के बादशाहों का शासन था। मुहम्मद आदिल स्वयं तो देहली से निकाले जाने पर पूरब में जाकर चुपचाप बैठ गया था, पर उसका मन्त्री हेमूँ बंगाल में मौजूद था और आगरे तथा देहली पर अधिकार करना चाहता था। इसके सिवा राजपूताने के अनेक राज्य भी फिर से बलवान् हो गये थे और वे न तो पठानों का ही प्रभुत्व स्वीकृत करते थे और न मुगलों का ही। इनमें मेवाड़, जैसलमेर, बूँदी और जोधपुर आदि मुख्य थे। इन सब ने हुमायूँ के समय से ही अपना प्रभुत्व बहुत कुछ बढ़ा रखा था। मालवा और गुजरात दोनों पहले ही स्वतन्त्र हो चुके थे और उन्होंने अपनी अपनी सीमाओं का भी यथेष्ट विस्तार कर रखा था। गोंडवाने में रानी दुर्गावती स्वतन्त्र थी और उड़ीसा भी इसी प्रकार स्वतन्त्र हो चुका था। दक्षिण में खान्देश, बराबर, बीदर, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुंडा में अलग अलग और स्वतन्त्र सुलतान शासन करते थे जो देहली के शासकों से किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं रखते थे। उनके और दक्षिण में विजयनगर का स्वाधीन हिन्दू राज्य था जो सदा से मुसलमानों का विरोधी था। पश्चिमी समुद्र-तट पर पुर्त्तगाली व्यापार भी करते थे और धीरे धीरे कुछ स्थानों पर अपना अधिकार भी जमा चुके थे। गोआ और डियू पर उन्हीं का अधिकार था। भला तेरह वर्ष का बालक ऐसी विकट परिस्थिति में क्या कर सकता था! पर फिर भी उसमें अनेक स्वाभाविक गुण थे और सौभाग्य से उसे बैरमखाँ सरीखा संरक्षक और अभिभावक मिल गया था जिसकी सहायता से बहुत से उपद्रवों का दमन हुआ और भारत के बहुत बड़े भाग पर अकबर का साम्राज्य स्थापित हो गया।

पानीपत का युद्ध—ज्योंही हुमायूँ की मृत्यु का समाचार बंगाल पहुँचा, त्योंही हेमूँ वहाँ से देहली पर अधिकार करने के लिये चल पड़ा। इसका वास्तविक नाम हेमचन्द्र था। यह मेवात के रेवाड़ी नामक स्थान का रहनेवाला एक सामान्य बनिया था और पहले सैनिकों के हाथ रसद आदि बेचा करता था। पर अपनी योग्यता और बुद्धिमत्ता के कारण बढ़ता बढ़ता अहमद शाह आदिल या अदली का प्रधान मन्त्री और सेनापति हो गया था। यह अपने स्वामी की ओर से अनेक युद्धों में लड़ा था और प्रायः विजयी भी होता था। यह बहुत दूरदर्शी राजनीतिज्ञ और चतुर सेनापति था। इसने आते ही पहले तो आगरे पर अधिकार किया और तब देहली पहुँच कर वहाँ की मुगल सेनाओं को परास्त किया। इन सेनाओं का सेना-पति तरदी बेग नामक एक तुर्क था जिसे हुमायूँ ने देहली का सूबेदार और शासक नियुक्त किया था। जब तरदी बेग भाग कर अकबर के पास पहुँचा, तब वह बैरमखाँ की आज्ञा से मार डाला गया। हेमूँ आया तो था अपने स्वामी अदली की ओर से, पर अदली वहाँ से बहुत दूर था, इसलिए वह स्वयं ही देहली का सम्राट् बन बैठा। उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की और अपने नाम के सिक्के भी चला दिये। बड़े बड़े और कट्टर मुसलमान इतिहास-लेखक भी यह बात मानते हैं कि उसने शासन कार्य बहुत ही योग्यता और सफलतापूर्वक किया था। वह अपने समय का बहुत बड़ा योद्धा, राज-नीतिज्ञ और शासक था; और अकबर को भारत में अपने जितने विरोधियों का सामना करना पड़ा, उन सब में यह कहीं अधिक बलवान और साहसी था।

देहली पर हेमूँ का अधिकार हो जाने का समाचार ले जानेवाले तरदी बेग को तो बैरम खाँ ने बिना अकबर की आज्ञा के ही मरवा डाला था जिससे उसकी बहुत बदनामी हुई। पर बैरम खाँ ने इन सब बातों का कुछ भी विचार न करके आस-पास से थोड़ी बहुत फौज इकट्ठी की और तब वह थानेश्वर होता हुआ पानीपत के प्रसिद्ध युद्धक्षेत्र में जा पहुँचा। उन दिनों देहली और आगरे में घोर अकाल पड़ा था जिससे लाखों आदमी भूखों मर गये थे और हजारों घरों में एक भी आदमी जीता न बचा था। पर हेमूँ ने इन सब कठिनाइयों की कुछ भी परवाह न करके बहुत बड़ी सेना इकट्ठी की और अकबर की सेनाओं का मुकाबला करने के लिए वह पानीपत जा पहुँचा। कहते हैं कि उस समय उसकी सेना में १५०० हाथी थे। हेमूँ की बहुत बड़ी सेना देखकर मुगल सरदार अपने मन में बहुत डरे, पर बैरम खाँ ने उन सब को प्रोत्साहित करके लड़ने के लिये तैयार किया। पहले ही आक्रमण में हेमूँ ने मुगलों की सेना के दाहिने और बाएँ पार्श्वों को बहुत बड़ी क्षति पहुँचाई।

इसके बाद हेमूँ अपने हाथियों को लेकर उसके मध्य भाग पर आक्रमण करना चाहता था, पर इतने में किसी मुगल सैनिक का एक तीर जाकर उसकी आँख में लगा जिससे वह बेहोश होकर अपने हौदे में ही गिर पड़ा। बस हेमूँ की सारी सेना भाग खड़ी हुई और मुगल सैनिक उसे गिरिफ्तार करके अकबर के पास ले गये। बैरमखाँ ने अकबर से कहा कि तुम हेमूँ को मार डालो और इस प्रकार गाजी का पद प्राप्त करो। पर बालक अकबर ने एक बेबस शत्रु को इस प्रकार मारना उचित नहीं समझा। इस पर बैरमखाँ ने अपनी तलवार से उसका काम तमाम कर दिया। उसका सिर काबुल भेज दिया और धड़ देहली के एक दरवाजे पर टाँग दिया गया। इस प्रकार देहली में फिर मुगल साम्राज्य की स्थापना हो गई और अकबर ने राजसी ठाठ-बाट से देहली में प्रवेश किया जहाँ जन-साधारण की ओर से उसका बहुत अच्छा स्वागत हुआ (नवम्बर १५५६)। इसके उपरान्त तुरन्त ही आगरे पर भी मुगलों का अधिकार हो गया। मेवात में हेमूँ का बहुत बड़ा खजाना था जिसे लाने के लिए मुगल दरबार के कुछ कर्मचारी भेज दिये गये। इस प्रकार अकबर को आरम्भ में ही एक बहुत बड़ी विजय प्राप्त हुई।

बैरमखाँ ने पानीपत की तरफ कूच करने से पहले ही सिकन्दर सूर का दमन करने के लिए एक सेना भेज दी थी। सिकन्दर उन दिनों मानकोट (आधुनिक काश्मीर राज्य के अन्तर्गत जम्बू के पास) चला गया था। मुगल सेना ने मानकोट के किले पर प्रायः छः मास तक घेरा डाल रखा था। तब कहीं जाकर अकबर के पहुँचने पर मई सन् १५५७ में सिकन्दर सूर ने सन्धि की प्रार्थना करते हुए आत्म-समर्पण किया। पर उसने पहले ही यह शर्त करा ली थी कि मेरे और मेरे पुत्र के लिए उपयुक्त जागीर आदि का प्रबन्ध कर दिया जायगा। इसके अनुसार उसे पूर्वी प्रान्तों में एक जागीर सम्मानपूर्वक दे दी गई जहाँ प्रायः बारह वर्ष रहने के बाद उसकी मृत्यु हो गई। अकबर का दूसरा प्रतिद्वन्द्वी बिहार का अदली था। पर वह भी सन् १५५७ के लगभग बंगाल के बादशाह के साथ लड़ते समय मारा गया और इस प्रकार अकबर के मार्ग का एक और कण्टक दूर हो गया। इसके बाद सन् १५५८ से १५६० तक अकबर ने उत्तरी भारत के और भी अनेक स्थान जीत लिये जिनमें ग्वालियर, अजमेर और जौनपुर मुख्य थे।

बैरमखाँ का पतन—बैरमखाँ बहुत बुद्धिमान्, अनुभवी और वयस्क था और अनेक अवसरों पर उसने हुमायूँ तथा अकबर की बहुत बड़ी बड़ी सेवाएँ की थीं; और इधर कई वर्षों से तो सारे साम्राज्य का वास्तविक शासक

और कर्त्ता-धर्त्ता वही चला आता था। पर कुछ तो लोगों के साथ सका व्यवहार उग्र होता था और कुछ उसकी उन्नति देखकर अमीर लोग उससे ईर्ष्या करने लग गये थे। जबसे बैरम ने तरदी बेग को कत्ल कराया था, तभी से बहुत से अमीर उससे सशंकित हो गये थे। इसके बाद उसने अधिकार मद से मत्त होकर और भी कई अनुचित कार्य किये थे। उसने अपने कई छोटे छोटे नौकरों तक को खान और सुलतान की उपाधियाँ दे दी थीं, अपने बीसियों कृपापात्रों का पंज-हजारी मन्सब दे दिया था और अकबर के फीलवान तक को क्रोध में आकर मरवा डाला था। इसके सिवा कुछ लोग यह भी कहने लग गये थे कि वह अकबर को तख्त पर से उतार कर कामरान के लड़के अब्बुलकासिम को बादशाह बनाना चाहता है। और फिर सबसे बढ़कर बात यह थी कि सन् १५६० में अकबर की अवस्था १८ वर्ष की हो गई थी और अब वह दूसरों के हाथ की कठपुतली नहीं बना रहना चाहता था, बल्कि स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक अपने साम्राज्य का शासन और व्यवस्था करना चाहता था। यही सब परिस्थितियाँ देखकर अकबर की माता हमीदा बानू बेगम, अकबर को दूध पिलानेवाली दाई माहम अनका, उसके लड़के और अकबर के दूध-भाई आदमखाँ आदि कुछ लोगों ने मिलकर बैरम के विरुद्ध षड्यन्त्र रचा और सब लोग अवसर पाकर अकबर के कान भरने लगे। बैरम को भी यह बात मालूम हो गई। उसके मित्रों ने उसे परामर्श भी दिया कि तुम अकबर को गिरिफ्तार कर लो और षड्यन्त्रकारियों का अन्त कर दो। पर उसने ऐसा नामुनासिब काम करने से इन्कार कर दिया। अन्त में अकबर ने उसके नाम एक फरमान भेज दिया जिसमें लिखा था कि अब मैं स्वतन्त्रतापूर्वक राज्य के सब कारबार देखना चाहता हूँ और मेरी इच्छा है कि आप हज करने के लिए मक्के चले जायँ। बैरम ने अपनी निर्दोषता सिद्ध करने और अकबर के साथ सफाई करने का प्रयत्न किया, पर इसमें उसे सफलता न हुई; इसलिए वह लाचार होकर अप्रैल सन् १५६० में बयाना की ओर चल पड़ा। पर उसके शत्रुओं ने इतने पर भी उसे चैन से न रहने दिया और अकबर को यह समझाया कि कहीं बैरम राजपूताने या सिन्ध की ओर जाकर विद्रोह न खड़ा कर दे। इस पर अकबर ने पीर मुहम्मद नामक एक व्यक्ति को, जो पहले बैरम के अधीन रह चुका था, थोड़ी सेना देकर इसलिए बैरम के पीछे भेजा कि बैरम रास्ते में कहीं रुकने न पावे। अब बैरम ने भी अपने अपमान का अनुभव करके खुले आम विद्रोह करना निश्चित किया। वह अपने परिवारवालों को तबर-हिन्द नामक किले में छोड़कर पंजाब की ओर चला गया। जलन्धर के पास अकबर की सेना के साथ

उसका युद्ध भी हुआ। इस युद्ध में बैरम हार गया और भागकर पहाड़ों में जा छिपा। इस पर अकबर ने स्वयं पंजाबकी ओर कूच किया। बैरम ने अपने स्वामी से लड़ना ठीक न समझा, इससे वह गिरिफ्तार करके अकबर के सामने लाया गया। अकबर ने भी उसकी पुरानी सेवाओं का ध्यान रखकर उसे क्षमा कर दिया और इनाम और खिलअत देकर मक्के के लिए बिदा किया और आप दिल्ली लौट आया। बैरम गुजरात के पाटन नामक स्थान में पहुँच कर कुछ दिनों के लिए ठहर गया। वहाँ एक अफगान ने अपने पिता की मृत्यु का बदला चुकाने के लिए उसको मार डाला। बैरम का लड़का अब्दुल रहीम, जो उस समय केवल चार वर्ष का था, किसी प्रकार बचा कर अकबर के पास भेज दिया गया। अकबर ने बहुत अच्छी तरह उसके लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा आदि की व्यवस्था की। उसने बड़े होकर साम्राज्य की बहुत बड़ी बड़ी सेवाएँ कीं और साहित्य, कला, वीरता, उदारता आदि अनेक क्षेत्रों में बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। अकबर ने उसे भी खानखानाँ की उपाधि प्रदान की थी।

विद्रोहों का दमन और साम्राज्य का विस्तार—सन् १५६० से १५६७ तक अकबर को कई विद्रोहों का दमन करना पड़ा और इस बीच में उसने अपने साम्राज्य का बहुत कुछ विस्तार भी कर लिया। विद्रोहियों में प्रायः मुग़ल अमीर ही हुआ करते थे जो अकबर को बालक समझ कर या तो स्वतन्त्र होना चाहते थे और या शासन सम्बन्धी सब कार-बार अपने हाथ में लेना चाहते थे। इनमें से मुख्य अलीकुलीखाँ था जो खानेजमाँ के नाम से प्रसिद्ध था। यह जाति का उजबक था। जब अफगानों ने जौनपुर पर आक्रमण किया, तब यह उनका मुकाबला करने के लिए भेजा गया था। उसने अफगानों को तो परास्त कर दिया, पर आप विद्रोही बनकर स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगा। इस पर अकबर ने खानजमाँ पर चढ़ाई करके उसका दमन किया। खानजमाँ ने उस समय तो अधीनता स्वीकृत कर ली, पर कुछ ही दिनों बाद उसने दूसरा विद्रोह खड़ा किया।

मालवे में बाज बहादुर नामक अफगान ने, जो एक पुराने सूबेदार का लड़का था, विद्रोह खड़ा किया था और और वह वहाँ का स्वतन्त्र बादशाह बन बैठा था। उसका दमन करने के लिए अकबर ने अपने दूध-भाई अदमहमखाँ को भेजा था। अदहमखाँ ने शत्रुओं को तो बुरी तरह परास्त किया, पर आप वहाँ का स्वतन्त्र शासक बनने का प्रयत्न करने लगा। इस पर अप्रैल सन् १५६१ में अकबर ने आगरे से मालवे की ओर कूच किया और बहुत जल्दी जल्दी सफर करता हुआ अचानक अदहमखाँ के सिर पर जा पहुँचा। उसने अदहमखाँ को तो

वहाँ से हटा दिया और उसके दूसरे साथी पीर मुहम्मद को, जो उसके साथ बाज बहादुर का दमन करने के लिए भेजा गया था, मालवे का सूबेदार बना दिया। पर पीर मुहम्मद कोरा विद्वान था, योद्धा या शासक नहीं था; इसलिए वह देश की ठीक व्यवस्था न कर सका और बाज बहादुर ने फिर से मालवे पर अधिकार कर लिया। इस पर अकबर की ओर से अब्दुल्लाखाँ उजबक ने फिर बाज बहादुर का दमन किया। बाज बहादुर ने अकबर की सेवा स्वीकृत कर ली और अब्दुल्लाखाँ मालवे का सूबेदार मुकर्रर हो गया। दूसरे वर्ष अर्थात् मई १५६२ में एक ऐसी विकट दुर्घटना हुई जिसके परिणाम स्वरूप अदहमखाँ को अपने प्राण गँवाने पड़े। अदमहखाँ ने अकबर के मन्त्री या वकील शम्सुद्दीन मुहम्मद अतकाखाँ को राजप्रासाद में ही मार डाला था; इसलिए अकबर ने उसे महल की दीवार के नीचे फेंकवा दिया जिससे वह तुरन्त मर गया। इसी समय के लगभग अकबर ने मध्य प्रदेश के छोटे से राज्य गोंडवाना पर अपनी सेना भेजकर चढ़ाई की थी। उस समय वहाँ की वीर रानी दुर्गावती ने, जो इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है, अकबर के सेनापति आसफखाँ का बहुत वीरतापूर्वक सामना किया था। मुग़ल सेना संख्या में बहुत अधिक थी, पर फिर भी रानी दुर्गावती ने उसके साथ बहुत अच्छी तरह और जमकर युद्ध किया और अन्त में युद्ध क्षेत्र में ही वह वीरगति को प्राप्त हुई। इसके बाद जब उसके पुत्र नारायण ने देखा कि मुगलों की विशाल सेना के सामने मेरा कुछ भी वश न चलेगा, तब उसने भी युद्ध-क्षेत्र में लड़कर अपने प्राण दे दिये। यहाँ यह बतला देना भी आवश्यक है कि एक स्त्री के छोटे से अरक्षित राज्य पर अकबर ने अकारण ही आक्रमण किया था जिसके फल-स्वरूप अकबर की कीर्त्ति पर तो धब्बा लगा और रानी दुर्गावती का नाम इतिहास में अमर हो गया।

इसी समय अब्दुल्लाखाँ उजबक ने मालवे में विद्रोह किया था, पर अन्त में वह हारकर गुजरात भाग गया। ऊपर खानजमाँ के जिस विद्रोह का हमने वर्णन किया है, वह भी इसी समय के लगभग हुआ था। इनके सिवा एक तीसरा और बड़ा विद्रोह अकबर के भाई मिरजा हकीम ने उजबकों की सहायता से पंजाब में किया था। विद्रोही खानजमाँ ने भी हकीम को भारत का सम्राट् मानकर उसके नाम का खुतबा पढ़वाया था। पर जब अकबर स्वयं इस विद्रोह का दमन करने के लिए पंजाब गया, तब हकीम भागकर सिन्ध नदी के उस पार चला गया। मई सन् १५६७ में वहाँ से लौटकर अकबर ने खानजमाँ पर दोबारा चढ़ाई की। खानजमाँ मार डाला गया, उसका भाई

बहादुर गिरिफ्तार हो गया और उनके बहुत से साथी हाथियों के पैरों के नीचे कुचलवा दिये गये। इस विद्रोह में बहुत से उजबक सम्मिलित थे और वह आसफखाँ भी सम्मिलित था जिसने गोंड़वाने पर चढ़ाई की थी। और इस विद्रोह का मुख्य कारण यह था कि फारस के सरदारों पर अकबर की विशेष कृपा रहती थी और उजबक उनके साथ ईर्ष्या करते थे।

अकबर और राजपूत—गोर और गजनी के जिन बादशाहों ने भारत पर समय समय पर आक्रमण या शासन किया था, वे तो जब चाहते थे, तब अपनी जन्मभूमि और उसके आस-पास से बहुत से सैनिक मँगवा लेते थे, पर तैमूर के वंशजों के पास इस प्रकार का कोई साधन नहीं था। अकबर यह बात बहुत अच्छी तरह समझता था। हुमायूँ को भारत छोड़कर जो भागना पड़ा था और अफगानिस्तान तथा फारस में जो बहुत दिनों तक कष्ट भोगने पड़े थे, उनके कारण अकबर बहुत सचेत हो गया था। इसके अतिरिक्त वह स्वभावतः सहनशील भी था। इसी लिए उसने निश्चय कर लिया था कि यदि मुझे और मेरे वंशजों को स्थायी रूप से इस देश में रहना हो, तो हम लोगों को राजपूतों के साथ आपसदारी और घनिष्टता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। राजपूतों की वीरता से भी वह भली भाँति परिचित था। वह अपने मुसलमान अमीरों से भी प्रायः सशंकित रहता था, क्योंकि एक तो वे आपस में ईर्ष्या-द्वेष रखते थे और दूसरे स्वयं अकबर के विरुद्ध भी अनेक प्रकार के षड्यन्त्र रचा करते थे। इसी लिए उसने हिन्दुओं और विशेषतः राजपूतों के साथ मेल-मिलाप रखने और बढ़ाने की नीति ग्रहण की थी और इसका परिणाम भी उसके लिए बहुत अच्छा हुआ था। वह हिन्दुओं को भी राज्य के सभी विभागों में ऊँचे से ऊँचे पद देता था। हिन्दुओं और विशेषतः राजपूतों के साथ मेल-मिलाप रखने में उसके दो उद्देश्य सिद्ध होते थे। एक तो यह कि हिन्दुओं की शक्ति इसलिए बहुत क्षीण हो जाती थी कि राजपूत राज-पक्ष में मिल जाते थे; और दूसरे समय पड़ने पर उन्हीं राजपूतों से उजबकों और अफगानों का भी दमन किया जा सकता था।

जनवरी सन् १५६२ में, जब अकबर अजमेर जा रहा था, रास्ते में साँगानेर नामक स्थान में आमेर के कछवाहे राजा भारामल ने, जो उस समय कई विपत्तियों में फँसा हुआ था, उससे भेंट की। वहीं अकबर ने उसके वंश के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करना निश्चित किया और लौटते समय उसकी कन्या से विवाह किया और वह भारामल, उसके पुत्र भगवानदास और पौत्र मानसिंह को अपने साथ आगरे ले गया। वहाँ उसे पंज-हजारी मन्सब और उसके पुत्र तथा

पौत्र को सेना विभाग में उच्च पद दिये गये। सन् १५७० में उसने बीकानेर और जैसलमेर की राजकुमारियों के साथ विवाह किया और फरवरी सन् १५८४ में अपने पुत्र शाहजादा सलीम का विवाह अजयपुर में राजा भगवानदास की कन्या के साथ किया। इस प्रकार कई प्रतिष्ठित राजकुलों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करके अकबर ने अपने साम्राज्य की नींव बहुत दृढ़ कर ली और तभी से तीन चार पीढ़ियों तक राजपूत प्रायः सभी राजकीय विभागों में मुग़ल साम्राज्य की बहुत बड़ी बड़ी सेवाएँ करते रहे।

चित्तौर का घेरा—अकबर ने राजपूताने के अनेक बड़े और प्रतिष्ठित राजघरानों को या तो किसी न किसी रूप में अपने साथ मिला लिया था और या उन्हें अपने अधीन कर लिया था। परन्तु मेवाड़ के राणा, जो राजपूतों में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे और जो महाराज रघु तथा श्रीरामचन्द्र के वंशज माने जाते थे, अकबर की अधीनता स्वीकृत करने के लिये किसी तरह तैयार न होते थे। उनका चित्तौरवाला किला भी उन दिनों उत्तरी भारत में सबसे अधिक दृढ़ समझा जाता था। वह किला एक बहुत बड़े मैदान के बीच में एक बहुत ऊँची और बड़ी पहाड़ी पर बना था; और किले की मजबूती के लिये जितनी बातों की जरूरत होती है, वे सब वहाँ मौजूद थीं। इसके सिवा मालवे के विद्रोही बाज बहादुर को भी राणा ने अपने यहाँ शरण दे रखी थी। इन्हीं सब कारणों से अकबर चित्तौर पर अधिकार करके मेवाड़ के राणा को भी अपना अधीनस्थ बनाना चाहता था। पर साथ ही वह यह भी समझता था कि चित्तौर पर विजय प्राप्त करना कोई मामूली बात नहीं है और इसके लिए बहुत जबरदस्त घेरा डालना पड़ेगा। इसी लिए उसने यह भी निश्चय किया कि मैं स्वयं चलकर उस घेरे की व्यवस्था करूँगा। सितम्बर सन् १५६७ में अकबर ने चित्तौर पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान किया। दुर्भाग्यवश उस समय मेवाड़ के सिंहासन पर राणा साँगा का पुत्र वही राणा उदयसिंह था जिसके प्राण शैशवावस्था में उसकी दाई ने स्वयं अपने शिशु के प्राण देकर बचाये थे। उदयसिंह को अकबर के आक्रमण का समाचार पहले ही मालुम हो गया था, इसलिए वह जयमल और पत्ता पर किले की रक्षा का भार सौंपकर आप वहाँ से हट गया था। इतिहासकारों ने इस कायरतापूर्ण कृत्य के लिये उदयसिंह की उचित रूप से निन्दा की है। पर जयमल और पत्ता दोनों ही बहुत वीर थे और किले में उनके पास केवल ८०००, पर बहुत ही चुने हुए और अनुभवी वीर थे। मुग़लों की सेना की संख्या यद्यपि इससे कहीं अधिक थी, पर फिर भी इन वीर राजपूतों ने पाँच छः महीने तक मुग़लों का बहुत अच्छा मुकाबला किया और कई अवसरों पर

मुग़ल आक्रमणकारियों को बहुत वीरतापूर्वक परास्त किया था। यहाँ तक कि इस युद्ध में अकबर भी कई बार राजपूतों के बाणों से मरता मरता बचा था। चित्तौर जीतने से अकबर इतना निराश और हतोत्साह हो गया था कि अन्त में उसे यह मन्नत माननी पड़ी थी कि यदि चित्तौर पर मुझे विजय प्राप्त हो गई तो मैं पैदल अजमेर की यात्रा करूँगा। जब और कोई उपाय न चला, तब अकबर ने सुरंगों की सहायता से किले का कुछ अंश उड़ा देना निश्चित किया। एक बार एक सुरंग में पहले ही किसी तरह आग लग गई जिससे मुग़ल सेना की बहुत बड़ी हानि हुई। इसलिए राजा टोडरमल और कासिमखाँ के निरीक्षण में फिर एक नई और बहुत बड़ी सुरंग तैयार कराई गई। उस सुरंग और अकबर की बड़ी बड़ी तोपों की सहायता से किले की फसील कई जगहों पर तोड़ डाली गई। २३ फरवरी सन् १५६८ को रात के समय, जब कि जयमल किले की दीवार की मरम्मत करा रहा था, तब संयोग से अकबर ने उसे देख लिया और एक सैनिक से बन्दूक लेकर उस पर निशाना लगाया। जब गोली लगने से जयमल बुरी तरह से घायल हो गया, तब उसने आज्ञा दी कि किले की सब स्त्रियाँ जौहर करके प्राण दे दें और सब सैनिक शत्रुओं के साथ लड़कर मरने के लिए तैयार हो जायँ। सब स्त्रियाँ तथा बच्चे चिता में कूद कूदकर जल मरे! दूसरे दिन सबेरे किले का फाटक खोल दिया गया; और जब अकबर की सेना ने किले में प्रवेश किया, तब ८००० वीर राजपूतों ने अन्तिम और घमासान युद्ध किया। इन ८००० वीर सैनिकों में से एक भी जीवित न बचा। तीसरी और अन्तिम बार फिर चित्तौर शत्रुओं के हाथ में चला गया। इतने दिनों तक राजपूतों को वीरतापूर्वक युद्ध करते देखकर अकबर इतना खिजला गया था कि चित्तौर नगर में प्रवेश करते ही उसने क़त्ले आम का हुकुम दे दिया जिसमें अब्बुल फजल के कथनानुसार तीस हजार आदमी मार डाले गये। चाहे यह संख्या ठीक न हो, पर फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ बहुत भीषण नर-हत्या हुई थी। इसके बाद अकबर ने पैदल अजमेर की यात्रा करके अपनी मन्नत पूरी की और तब वह आगरे आया। जयमल और पत्ता की वीरता का उस पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि उसने आगरे के किले के फाटक पर दोनों और जयमल ओर पत्ता की पत्थर की मूर्त्तियाँ बनवा कर खड़ी करा दी थीं।

इसके एक वर्ष बाद अकबर ने हाड़ा वंशी चौहानों के रणथम्भोर गढ़ पर सेना भेजी। राजपूताने में यह गढ़ भी अजेय समझा जाता था। कुछ दिनों बाद फरवरी सन् १५६९ में अकबर स्वयं भी वहाँ जा पहुँचा। किले के पास

की एक पहाड़ी पर से किले की दीवारों पर गोलाबारी की गई जिससे उसकी दीवारें टूटने लगीं। अन्त में सुरजन हाड़ा ने स्वयं अकबर के पास पहुँच कर किले की कुंजियाँ उसे अर्पित कर दीं और उसकी नौकरी कबूल कर ली। रणथम्भोर की ओर चलने के समय ही अकबर ने एक बड़ी सेना बुन्देलखंड के कालिंजरवाले गढ़ पर भी चढ़ाई करने के लिए भेज दी थी। वहाँ का राजा रामचन्द्र पहले ही सुन चुका था कि चित्तौर पर अकबर का अधिकार हो गया है। जब उसने सुना कि रणथम्भोर भी मुग़लों के हाथ में चला गया, तब अगस्त सन् १५६९ में उसने कालिंजर का किला भी मुग़ल सेनापति को सौंप दिया। राजा रामचन्द्र को भी इलाहाबाद के पास एक जागीर दे दी गई। अब उत्तरी भारत के बहुत बड़े भाग पर अकबर का अधिकार हो गया था और उसे राजपूतों का कोई भय न रह गया था। इसके बाद और भी कई राजपूत राजाओं ने अकबर की अधीनता स्वीकृत कर ली। जोधपुर जीत कर बीकानेर के राजा रायसिंह को दे दिया गया। उसका पिता राजा कल्याणमल अपने पुत्र को साथ लेकर नागौर में अकबर के दरबार में उपस्थित हुआ था। उसी अवसर पर अकबर ने कल्याणमल की कन्या से भी विवाह किया था। कल्याणमल का शरीर बहुत स्थूल था और वह मोटा राजा के नाम से प्रसिद्ध था। उसे तो अकबर ने बीकानेर भेज दिया और उसके पुत्र को मन्सब देकर अपने दरबार में रख लिया।

गुजरात-विजय—यद्यपि गुजरात पर हुमायूँ ने सन् १५३६ में ही अधिकार कर लिया था, पर पीछे से वह फिर बहुत कुछ स्वतन्त्र हो गया था और मुग़लों का उस पर कोई अधिकार नहीं था। मालवा जीत चुकने और राजपूतों को अच्छी तरह अपने अधीन कर लेने के बाद अकबर ने गुजरात की ओर ध्यान दिया। एक तो अकबर यों ही उसे अपनी पैतृक सम्पत्ति समझता था; दूसरे वह देश धन-धान्य से भी पूर्ण था। इसके सिवा वह मुग़ल राजवंश के शाहजादों और दूसरे कई विद्रोहियों का अड्डा हो रहा था और वहाँ बैठकर ये सब लोग तरह तरह के उपद्रव किया करते थे। इन्हीं सब कारणों से अकबर ने गुजरात पर भी विजय प्राप्त करना निश्चित किया था। उस समय वहाँ मुजफ्फर शाह तृतीय का शासन था, पर वह नाम मात्र का बादशाह था और देश में बहुत कुछ अव्यवस्था थी। उसके एतमादखाँ नामक एक अमीर ने अकबर को लिखा कि आप आकर इस देश पर अधिकार करें और इसकी व्यवस्था करें। इस पर जूलाई सन् १५७२ में अकबर फ़तहपुर सीकरी से चलकर नवम्बर मास के आरम्भ में अहमदाबाद पहुँचा। मुजफ्फर

शाह द्वितीय भागकर एक खेत में जा छिपा और वहाँ के सरदारों और अमीरों ने आकर अकबर की अधीनता स्वीकृत की। अकबर ने अपने दूध-भाई खाने आजम अजीज कोका को अहमदाबाद का शासक बनाया और तब कई विद्रोही अमीरों को दबाकर सूरत पर भी अधिकार कर लिया। अकबर ने उस समय तक समुद्र नहीं देखा था, इसलिए वह खम्भात चला गया और वहाँ एक छोटे जहाज पर बैठकर उसने कुछ दूर तक समुद्र की सैर की। वहीं पहले-पहल पुर्त्तगाली भी उसके दरबार में आये थे। गुजरात पर अधिकार हो जाने के कारण अकबर के राज्य की आय बहुत बढ़ गई थी, क्योंकि गुजरात के बन्दरगाहों में विदेशों से बहुत सा माल आता था।

पर ज्यों ही अकबर गुजरात से लौटकर फतहपुर सीकरी पहुँचा, त्यों ही उसे समाचार मिला कि मुग़ल शाहजादों ने, जो मिरजा कहलाते थे, फिर उपद्रव करना आरम्भ कर दिया। वह तुरन्त ही फिर सेना आदि की व्यवस्था करके गुजरात लौटा और इस बार उसने ६०० मील की यात्रा केवल नौ दस दिन में समाप्त की जो एक बहुत ही आश्चर्यजनक बात है। वहाँ पहुँचकर उसने विद्रोहियों का पूर्ण रूप से दमन किया और तब सीकरी लौटकर बहुत बड़ा विजयोत्सव मनाया। वहाँ से चलते समय उसने अपनी विजय के स्मारक स्वरूप मनुष्यों की प्रायः दो हजार खोपड़ियों का एक स्तूप बनवाया था। फिर सीकरी के पास उसने जो नया नगर बसाया था, उसका नाम भी उसने इसी विजय के स्मारक-स्वरूप फतहपुर रखा।

बंगाल-विजय—गुजरात पर अधिकार हो जाने के कारण अकबर के साम्राज्य की सीमा पश्चिम में समुद्र तक पहुँच गई थी, इसलिए अब अकबर यह चाहता था कि पूरब में भी मेरा साम्राज्य समुद्र तक हो जाय। इसके सिवा बंगाल में कई अफगान सरदार भी थे जो मुग़लों के कट्टर शत्रु थे। बिहार के सुलैमानखाँ ने सन् १५६४ में ही बंगाल के गौड़ प्रदेश पर अधिकार कर लिया था और वह बंगाल तथा बिहार दोनों का शासन करता था। उसके मरने के बाद उसका लड़का बायजीद गद्दी पर बैठा था, पर उसके मन्त्रियों ने उसकी हत्या करके उसके छोटे लड़के दाऊदखाँ को गद्दी पर बैठाया था (सन् १५७२)। जिस समय अकबर गुजरात में था, उसी समय दाऊद ने जमानिया के किले पर अधिकार कर लिया था। इस पर अकबर ने अपने सेनापति जौनपुर के सुबेदार मुनइमखाँ को दाऊद पर चढ़ाई करने के लिए भेज दिया था। पर दाऊद के पिता के साथ मुनइमखाँ की पुरानी मित्रता थी, इसलिए उसने दाऊद के साथ सन्धि कर ली। इस पर अकबर स्वयं पटने जा पहुँचा, पर दाऊद पटने से

भाग गया। पटने पर अकबर का सहज में अधिकार हो गया और उसने मुनइमखाँ को बंगाल का सूबेदार बना दिया। अकबर के लौट आने पर दाऊद फिर उपद्रव करने लगा और इधर उधर के स्थानों पर अधिकार जमाने लगा। अक्तूबर सन् १५७५ में मुनइमखाँ की ८० वर्ष की अवस्था में मृत्यु हो गई और उसके बाद दाऊद ने फिर धीरे धीरे सारे बंगाल पर अधिकार कर लिया। तब अकबर ने राजा टोडरमल को बिहार भेजा। टोडरमल ने प्राथः चार वर्षों तक लड़-भिड़कर बंगाल पर पूर्ण रूप से स्थायी अधिकार कर लिया। आरम्भ में ही राजमहल के पास जो युद्ध हुआ था, उसमें दाऊद गिरिफ्तार कर लिया गया था। इसके बाद उसका सिर काटकर अकबर के पास भेज दिया गया और इस प्रकार बंगाल की उस स्वतन्त्र बादशाहत का अन्त हो गया जो इधर प्रायः ढाई सौ वर्षों से वहाँ चली आती थी। अब सारा बंगाल और सारा बिहार पूरी तरह से मुग़ल साम्राज्य के अधीन हो गया।

महाराणा प्रताप के साथ युद्ध—सन् १५७२ में मेवाड़ के राणा उदयसिंह की मृत्यु हो जाने पर उनके पुत्र सुप्रसिद्ध वीर और स्वतन्त्रता-प्रेमी महाराणा प्रताप को गद्दी मिली। ये महाराणा प्रताप मानों स्वातन्त्र्य-प्रेम की जीवित मूर्त्ति थे; और इस सम्बन्ध में इन्होंने जितनी कीर्त्ति पाई, उतनी कीर्त्ति पाने का सौभाग्य भारतीय इतिहास में बहुत कम लोगों को प्राप्त हुआ है। ये अपने पूर्वज राणा साँगा और राणा कुम्भा के मार्ग पर चलनेवाले थे और कहा करते थे कि यदि बीच में राणा उदयसिंह न हुए होते तो तुर्कों की मजाल नहीं थी कि वे राजपूताने पर अधिकार प्राप्त कर सकते। इतिहासों में पृष्ठों के पृष्ठ इनकी कीर्त्तियों से भरे पड़े हैं। यद्यपि राजपूताने के बहुत से राजपूत मुग़लों के अधीन हो गये थे, पर महाराणा प्रताप ने प्रण कर लिया था कि मैं कभी मुग़लों के आगे सिर न झुकाऊँगा। यद्यपि इस प्रतिज्ञा का पालन उस समय की परिस्थिति को देखते हुए बहुत ही कठिन था, तो भी इन्होंने बहुत वीरतापूर्वक अन्त तक उसका पालन किया; और अकबर को भी इनकी वीरता तथा देश-प्रेम का सिक्का मानना पड़ा। महाराणा प्रताप के साथ अकबर के झगड़े का आरम्भ इस प्रकार हुआ कि एक बार एक युद्ध से लौटते समय राजा मानसिंह उदयसागर के तट पर महाराणा प्रताप से मिलने के लिए पहुँचे। महाराणा ने उनके भोजन आदि की सब व्यवस्था तो कर दी, पर स्वयं उस समय सामने नहीं आये। उन्होंने कहला दिया कि जो लोग तुर्कों को अपनी बहनें और बेटियाँ देते हैं, उनके साथ बैठकर मैं भोजन नहीं कर सकता। इस पर मानसिंह बहुत क्रुद्ध हुए और बिना भोजन किये ही वहाँ से

चले गये। जाते समय वह कह गये कि यदि मैंने तुमसे इसका बदला न चुकाया तो मेरा नाम मानसिंह नहीं। मानसिंह के चले जाने पर प्रताप ने कुम्भलमेर और गोघूँदा आदि के किलों में मोर्चेबन्दी शुरू कर दी, क्योंकि वे जानते थे कि मुग़लों की बहुत बड़ी सेना हम पर आक्रमण करने आवेगी; और अन्त में हुआ भी ऐसा ही।

हल्दी घाटी का युद्ध—मानसिंह ने जाकर अकबर से प्रताप की शिकायत की। इस पर अकबर ने भी दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली कि चाहे जिस प्रकार होगा, मैं प्रताप को नीचा दिखलाऊँगा और अपने अधीन करूँगा। अप्रैल सन् १५७६ में अकबर ने अजमेर से मानसिंह और आसफअली को बहुत बड़ी सेना देकर महाराणा प्रताप पर चढ़ाई करने के लिये भेजा। ये लोग पहले प्रताप के गोघूँदा वाले गढ़ पर अधिकार करना चाहते थे जो अरावली के दक्षिणी भाग में है। रास्ते में हल्दी घाटी नामक स्थान पर महाराणा प्रताप अपने तीन हजार चुने हुए बहादुर घुड़सवारों के साथ मिले। सबेरे से दोपहर तक भीषण युद्ध हुआ जिसमें प्रताप के वीर सैनिकों ने मुग़लों के छक्के छुड़ा दिये और वे भेड़-बकरियों की तरह इधर उधर भागने लगे। शाही सेना में बहुत से राजपूत भी थे; इसलिए किसी ने आसफखाँ से पूछा कि जब दोनों तरफ राजपूत हैं, तब शत्रु और मित्र की पहचान कैसे हो सकती है और शत्रु के सैनिक किस प्रकार मारे जा सकते हैं? कहते हैं कि इसपर आसफखाँ ने उत्तर दिया था कि चाहे हमारे पक्ष के राजपूत मारे जायँ और चाहे शत्रु पक्ष के, हर दशा में हमारा ही लाभ होगा।

मुग़ल सेना को खूब अच्छी तरह मार-काटकर और तितर-बितर करके महाराणा पहाड़ों में चले गये, क्योंकि वे घायल हो गये थे। साथ में वे राजपरिवार की सब स्त्रियों को भी लेते गये थे। दूसरे दिन अकबर की सेना गोघूँदे पहुँची। वहाँ भी राजपूतों ने बहुत वीरतापूर्वक लड़कर प्राण दिये। अकबर की सेना विजयी हुई। उस समय तो महाराणा के देश पर मुग़लों का अधिकार हो गया, पर फिर शीघ्र ही राणा ने चित्तौर, अजमेर और माँडलगढ़ को छोड़कर अपने बाकी देश पर अधिकार प्राप्त कर लिया। अन्त में सन् १५६७ में महाराणा प्रताप की मृत्यु हो गई। महाराणा के जीवन का अधिकांश बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ और विपत्तियाँ झेलने में ही बीता था और वे प्रायः जंगलों और पहाड़ों में ही घूमा करते थे। पर फिर भी वे कभी अकबर के सैनिकों और कर्मचारियों को चैन से न रहने देते थे। मरते समय उन्हें यह सोचकर और भी अधिक कष्ट हो रहा था कि मेरा पुत्र अमरसिंह मेरी कीर्ति की रक्षा न कर

सकेगा और भोग-विलास के फेर में पड़कर मुगलों की अधीनता स्वीकृत कर लेगा। पर जब महाराणा के सरदारों ने बाप्पा रावल के सिंहासन की शपथ खाकर कहा कि हम लोग जीते जी कभी ऐसा न होने देंगे, तब महाराणा ने शान्तिपूर्वक शरीर छोड़ा। महाराणा प्रताप की कीर्ति केवल राजपूताने में ही नहीं, बल्कि सारे भारत में फैल गई; और यहाँ तक कि उनके कट्टर शत्रु अकबर को भी उनके स्वातन्त्र्य-प्रेम तथा वीरता की प्रशंसा करनी पड़ी।

महाराणा प्रताप के उपरान्त उनके पुत्र महाराणा अमरसिंह ने गद्दी पर बैठकर फिर से अपने देश की कुछ व्यवस्था आरम्भ की। पर दो ही वर्ष बाद सन् १५९९ में अकबर ने शाहजादा सलीम और महाराज मानसिंह को फिर मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भेजा था। युद्ध में अमरसिंह हार गये और मुगलों की सेना ने उनका देश अच्छी तरह लूटा। पर उसी अवसर पर बंगाल में उस्मानखाँ का विद्रोह आरम्भ हो गया था, इसलिए अकबर ने मानसिंह को बुला भेजा। इसके उपरान्त अकबर फिर एक बार मेवाड़ पर आक्रमण करना चाहता था, पर वह बीमार हो गया जिससे उसका यह विचार कार्य रूप में परिणत न हो सका।

काबुल की चढ़ाई—सन् १५८० तक समस्त उत्तरी भारत पर अकबर का पूरा पूरा अधिकार हो गया था और पूर्व तथा पश्चिम दोनों ओर उसके साम्राज्य की सीमा समुद्र तक जा पहुँची थी। दक्षिण में उसका राज्य ताप्ती नदी तक हो गया था। पर अकबर को चैन से नहीं रहना मिलता था। जगह जगह लोग विद्रोह करते थे और वह उन्हीं को दबाने के लिए इधर से उधर दौड़ता फिरता था। उसकी धार्मिक नीति भी विलक्षण और निराली थी जिससे कट्टर मुसलमान और भी उपद्रव करते थे। कुछ लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए यह भी कहा करते थे कि हम अकबर को तख्त से उतार कर उसके भाई मुहम्मद हकीम को तख्त पर बैठावेंगे। मुहम्मद हकीम उन दिनों नाम के लिए तो अकबर की ओर से काबुल का सूबेदार था, पर वास्तव में था वह बिलकुल स्वतन्त्र। अकबर को उसका विद्रोह और उपद्रव दबाने के लिए अपनी सारी शक्ति और बुद्धि लगानी पड़ी थी। अकबर के विरुद्ध बंगाल के विद्रोही जो षड्यन्त्र रचते थे, उनमें अकबर के दरबार के कई अमीर आदि भी सम्मिलित रहते थे। कहा जाता है कि एक षड्यन्त्र का नेता शाह मन्सूर भी था जो अकबर का मन्त्री और कोषाध्यक्ष था। इन्हीं लोगों के बहकाने में आकर मिरजा हकीम ने सन् १५७९–८० में पंजाब पर आक्रमण करके अकबर

की एक सेना को परास्त किया। अकबर यह खबर सुनते ही बंगाल से पंजाब की तरफ दौड़ा। राजा मानसिंह ने उसे कुछ ऐसे पत्र भेजे थे जो मिरजा हकीम ने शाह मन्सूर के नाम लिखे थे और जिनसे पता चलता था कि वे दोनों मिल-कर अकबर को तख्त से उतारना चाहते हैं। जब राजा मानसिंह से परास्त होकर मिरजा हकीम का सेनापति शादमान लौट गया, तब मिरजा स्वयं १५००० घुड़सवारों के साथ लाहौर आ पहुँचा। पर जब वहाँ के अधिकारियों ने उसका साथ न दिया, तब वह भी लौट गया। काबुल जाते समय अकबर ने अपने साथ पचास हजार सवार और पाँच सौ हाथी ले लिये थे और साथ में शाह मन्सूर और शाहजादा सलीम तथा मुराद को भी रख लिया था। रास्ते में मन्सूर के विरुद्ध कुछ और प्रमाण मिलने पर अकबर ने उसे एक पेड़ पर लटकवाकर फाँसी दिलवा दी और तब वह सीमा प्रान्त पर जा पहुँचा। वहाँ से उसने सलीम को जलालाबाद की ओर और मुराद को काबुल की ओर भेजा। मिरजा परास्त होकर पहाड़ों में भाग गया। अकबर को भय हुआ कि कहीं वह उजबकों से न मिल जाय, इसलिए मिरजा को क्षमा करके फिर काबुल का राज्य उसी को दे दिया। इस घटना से अकबर के विरोधी कट्टर मुसलमानों की सारी आशाओं पर पानी फिर गया और उनका बल बहुत कुछ टूट गया। यहाँ यह बतला देना भी आवश्यक है कि शाह मन्सूर के नाम के जो पत्र पकड़े गये थे, वे पीछे से जाली सिद्ध हुए और तब मन्सूर को फाँसी दिलवाने का अकबर को शायद कुछ दुःख भी हुआ था।

सन् १५८५ में मिरजा हकीम की मृत्यु हो जाने पर काबुल भी भारतीय साम्राज्य में मिला लिया गया था और वहाँ की सूबेदारी राजा मानसिंह को दी गई थी। पर अफगान लोग बराबर उपद्रव करते रहते थे, इसलिए दूसरे वर्ष सन् १५८६ में राजा बीरबल को एक बहुत बड़ी सेना देकर अफगानों पर चढ़ाई करने के लिए भेजा था। इस चढ़ाई में अकबर की सेना को बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ी थी और उसके बहुत से सैनिक वहाँ मारे गये थे। राजा बीर-बल की मृत्यु भी इसी चढ़ाई में काबुल के रास्ते के पहाड़ों में हुई थी जिसका अकबर को बहुत दिनों तक बहुत अधिक हार्दिक दुःख रहा।

काश्मीर, सिन्ध, उड़ीसा और बलोचिस्तान—सन्० १५८६ में ही काश्मीर के शासक वहाँ की हिन्दू प्रजा पर अनेक प्रकार के अत्याचार करते थे, इसलिए सन् १५८६ में अकबर ने मिरजा शाहरुख और राजा भगवानदास को काश्मीर पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। उन लोगों ने वहाँ के शासक यूसुफ शाह से एक प्रकार का समझौता करना चाहा था, पर अकबर ने वह समझौता

मंजूर नहीं किया और दोबारा लड़-भिड़ कर यूसुफ शाह को अधीनता स्वीकृत करने पर विवश किया। उसे और उसके लड़के को जागीरें दे दी गईं और काश्मीर साम्राज्य में मिला लिया गया। इसके बाद अकबर ने सिन्ध, कन्धार और उड़ीसा पर भी अधिकार कर लिया। मुलतान और भक्खर के किले पर तो सन् १५७४ में ही अकबर का अधिकार हो गया था। सिन्ध पर विजय प्राप्त करने का काम बैरमखाँ के लड़के अब्दुल रहीम खानखानाँ को सौंपा गया था। ठट्ठा के शासक मिरजा जैनी ने अपने देश की रक्षा का प्रयत्न किया था, पर अकबर की बहुत बड़ी सैनिक शक्ति के सामने उसकी कुछ न चली और अन्त में सन् १५९१ में उसे अधीनता स्वीकृत करनी पड़ी और सिन्ध भी साम्राज्य में मिला लिया गया। दूसरे ही वर्ष सन् १५९२ में समाचार मिला कि राजा मानसिंह ने उड़ीसा में विद्रोही अफगान सरदारों को पूर्ण रूप से परास्त करके वह प्रदेश भी बंगाल के सूबे में मिला लिया। सिन्ध के साथ ही साथ बलोचिस्तान पर भी अकबर का अधिकार हो गया था और इसलिए अब अकबर कन्धार पर भी फिर से अपना अधिकार करना चाहता था। पर संयोग से वह प्रदेश आपसे आप अकबर के हाथ में आ गया। वहाँ के शासक मिरजा मुजफ्फर हुसैन के साथ उजबकों के प्रायः झगड़े होते रहते थे, इसलिए उसने स्वयं ही अकबर से निवेदन किया कि आप यहाँ आकर अधिकार कर लें। इस प्रकार मई सन् १५९५ में अकबर ने उस प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया।

पाँचवाँ अध्याय

२. अकबर का साम्राज्य-संघटन

(सन् १५९६-१६०५)

दक्षिण पर अधिकार—उत्तर भारत में पूर्ण रूप से अपना अधिकार स्थापित करके और हिन्दूकुश के उस पार के कुछ प्रदेशों को अपने हाथ में ले लेने के बाद अकबर ने दक्षिणी भारत के मामलों की ओर ध्यान देना शुरू किया। दक्षिण का बहमनी राज्य पाँच मुसलमानी राज्यों में विभक्त हो गया था जिनके नाम इस प्रकार हैं—बरार, अहमदनगर, बीदर, गोलकुंडा और बीजापुर। इनमें से बरार, अहमनगर और बीजापुर सन् १४९० में और गोलकुंडा सन् १५१२ में स्वतन्त्र हुआ था। मूल बहमनी राज्य का अवशिष्ट केवल बीदर के रूप में ही रह गया था। अकबर ने पहले अपने कुछ दूतों और मन्त्रियों आदि को दक्षिण भेजकर इस बात का प्रयत्न किया था कि वहाँ के राज्य उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लें। पर जब इसमें उसे सफलता नहीं हुई, तब उसने उनको युद्धक्षेत्र में जीतकर अपने अधीन करना निश्चित किया। खान्देश की राजधानी बुरहानपुर पर तो सन् १५६२ में ही अकबर का अधिकार हो चुका था, इसलिए पहले अहमदनगर पर ही आक्रमण करना निश्चित हुआ, क्योंकि भौगोलिक दृष्टि से वही सबसे पहले और सबके उत्तर में पड़ता था। शाहजादा मुराद और अब्दुलरहीम खानखानाँ सन् १५९५ में अहमदनगर पर आक्रमण करने के लिए भेजे गये।

अहमदनगर के बादशाह बुरहान निजाम शाह द्वितीय की अप्रैल सन् १५९५ में मृत्यु हो गई थी और उसका लड़का इब्राहीम निजाम शाह गद्दी पर बैठा था। पर वह एक हब्शी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न था, इसलिए सब अमीर उसके विरोधी हो गये। संयोग से चार ही पाँच महीने बाद इब्राहीम की एक युद्ध में मृत्यु हो गई। इसके बाद अहमदनगर में सिंहासन के लिए कई तरह के झगड़े होने लगे और इब्राहीम निजाम शाह का लड़का बहादुर निजाम शाह एक किले में कैद कर दिया गया। हुसैन निजाम शाह प्रथम की कन्या चाँद बीबी या चाँद सुलताना का विवाह बीजापुर के सुलतान अली आदिल शाह प्रथम के साथ हुआ था। पर वह विधवा हो जाने पर अहमदाबाद चली आई थी और

वजीर मियाँ मंझू को सिंहासन से हटाकर प्रकृत उत्तराधिकारी बालक बहादुर निजाम शाह को राज्य दिलाना चाहती थी। इसी लिए मियाँ मंझू ने मुराद को गुजरात से अपनी सहायता के लिए बुलवाया था। चाँद बीबी अपनी योग्यता और वीरता के लिए इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है और शासन करनेवाली मुसलमान स्त्रियों में प्रमुख समझी जाती है। उसने अकबर की सेना का बहुत बहादुरी के साथ मुकाबला किया और अहमदाबाद की बहुत अच्छी तरह रक्षा की। वह स्वयं सैनिक वेष में अपनी सेना में घूम घूमकर उसकी व्यवस्था करती थी और दुश्मनों के हमलों का खासा जवाब देती थी। उधर मुराद और अब्दुलरहीम में भी कुछ मतभेद हो गया था जिससे मुग़लों का पहला आक्रमण पूर्ण रूप से सफल न हो सका और सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार अकबर को केवल बरार का कुछ अंश मिला था। पर शीघ्र ही अहमद-नगर में फिर भीषण आन्तरिक कलह उत्पन्न हो गई जिसके फल-स्वरूप चाँद सुलताना मार डाली गई और कुछ लोगों ने बरार को मुग़लों के हाथ से छुड़ाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया। अकबर की सेनाएँ फिर वहाँ जा पहुँचीं और कई बार बड़े बड़े युद्ध हुए। इसी बीच में मई सन् १५९९ में मुराद की मृत्यु हो गई और सन् १६०० के आरम्भ में अकबर स्वयं दक्षिण पहुँचा। उसने बुरहानपुर से शाहजादा दानियाल और खानखानाँ को फिर अहमदनगर पर चढ़ाई करने के लिए भेजा और अहमदनगर पर सहज में ही मुग़लों का अधिकार हो गया। फिर भी उस राज्य का बहुत सा अंश वहाँ के मुर्त्तजा नामक एक सरदार के हाथ में रह ही गया।

अकबर की अन्तिम सैनिक चढ़ाई खान्देश पर हुई थी। वहाँ का शासक राजा अलीखाँ अकबर की ओर से अहमदनगर के युद्ध में सम्मिलित हुआ था और वहीं बहुत वीरतापूर्वक लड़कर मारा गया। उसके बाद उसका लड़का मीराँ बहादुर शाह उसका उत्तराधिकारी हुआ। पर मीराँ बहादुर मुग़लों से बहुत बुरा मानता था और अकबर की अधीनता से निकलना चाहता था। इसलिए अकबर ने पहले नर्मदा पार करके खान्देश की राजधानी बुरहानपुर पर अधिकार कर लिया। मीराँ बहादुर अपनी रक्षा के लिए आसीरगढ़ के किले में चला गया था, क्योंकि उन दिनों दक्षिण में वही दुर्ग सबसे अधिक अजेय समझा जाता था। अकबर के सैनिकों ने आसीरगढ़ पर घेरा डाला। परन्तु लगातार छः महीने तक घेरा डाले रहने पर भी कोई फल न हुआ। उस किले में साल भरके लायक रसद वगैरह मौजूद थी, इसलिए किलेवाले निश्चिन्त थे। अकबर की तोपें किले की दीवारें तोड़ने में असमर्थ रहीं। उस समय अकबर के

सामने कुछ और कठिनाइयाँ भी उपस्थित थीं। शाहजादा सलीम ने विद्रोह आरम्भ कर दिया था जिससे अकबर का राजधानी में पहुँचना आवश्यक हो गया था। शाहजादा दानियाल अहमदनगर के युद्ध में फँसा हुआ था। पर संयोग से इसी बीच में आसीरगढ़ के किले में मरी फैली जिससे बहुत लोग मर गये। उस समय अकबर ने छल से काम लेना निश्चित किया। उसने किलेवालों को रिश्वत देकर अपनी ओर मिला लिया जिससे किलेवालों ने मीराँ बहादुर को राय दी कि आप अकबर से सुलह कर लें। सुलह की बात-चीत छिड़ने पर अकबर ने कहलाया कि आप स्वयं आकर मुझसे मिलें; और साथ ही उसे यह वचन भी दिया कि आपके साथ कोई अनुचित व्यवहार नहीं किया जायगा। पर जब मीराँ बहादुर अकबर से मिलने के लिए उसकी छावनी में आया, तब अकबर ने उसे कैद कर लिया और खूब जोरों से किले पर धावे करने शुरू कर दिये। इतने पर भी किलेवालों ने हिम्मत नहीं हारी और वे बराबर लड़ते रहे। किले में बहुत से पुर्त्तगाली सैनिक और अफसर भी थे जो बहुत बहादुरी से लड़ते थे। इसी बीच में सन् १६०० में अहमदनगर पर अकबर की सेना का अधिकार हो गया था। यह समाचार सुनकर किलेवालों की हिम्मत टूट गई और तब अन्त में जनवरी सन् १६०१ में "सोने की कुंजियों ने किले के फाटक खोल दिये"। मतलब यह कि अकबर ने किलेवालों को बहुत सा धन रिश्वत के तौर पर देकर अपनी ओर मिला लिया और इधर मीराँ बहादुर को कई तरह से डरा-धमका कर उससे इस आशय का एक पत्र किले-वालों के नाम लिखा लिया कि किले के फाटक खोल दिये जायँ। इस प्रकार आसीरगढ़ पर और उसके साथ ही साथ सारे खान्देश प्रान्त पर अकबर का अधिकार हो गया। दक्षिण में जीते हुए प्रदेशों के अहमदनगर, बरार और खान्देश ये तीन सूबे बना दिये गये और इन सबके शासन का भार शाहजादा दानियाल को सौंप दिया गया।

साम्राज्य का विस्तार (१६०५)—अकबर का प्रायः सारा जीवन भिन्न भिन्न देशों को जीतने और अपने साम्राज्य का विस्तार करने में ही बीता था। इन विजयों को हम तीन मुख्य भागों में बाँट सकते हैं। पहला भाग सन् १५५८ से १५७६ तक था जब कि उसने उत्तर भारत के देशों को जीता था। दूसरा भाग सन् १५८० से १५९६ तक था जब कि उसने उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त और उसके आस-पास के प्रदेशों पर अधिकार किया था और तीसरा भाग सन् १५९८ से १६०१ तक है जब कि उसने दक्षिण के कुछ प्रान्तों को विजय किया था। दक्षिण में उसका साम्राज्य गोदावरी नदी तक पहुँच गया

था। उत्तर में उसके राज्य की सीमा हिमालय पर्वत तक थी और केवल नेपाल के हिन्दू राज्य को छोड़कर और सब प्रदेश या राज्य उसके अधीन थे। पूर्व और पश्चिम में उसका राज्य आ-समुद्र था। उसने अपना सारा साम्राज्य निम्नलिखित अठारह सूबों में विभक्त किया था—

(१) काबुल	(२) लाहौर	(३) मुलतान
(४) देहली	(५) आगरा	(६) अवध
(७) इलाहाबाद	(८) अजमेर	(९) गुजरात
(१०) मालवा	(११) बिहार	(१२) बंगाल
(१३) खान्देश	(१४) बरार	(१५) अहमदनगर
(१६) उड़ीसा	(१७) काश्मीर और	(१८) सिन्ध।

कुछ लोगों का मत है कि अकबर का साम्राज्य केवल पन्द्रह सूबों में बँटा था। इन पन्द्रह सूबों की सूची में गुजरात, उड़ीसा, काश्मीर और सिन्ध के नाम नहीं मिलते और एक नया नाम अहमदाबाद का मिलता है।

शासन-प्रबन्ध—प्रत्येक सूबे का प्रधान अधिकारी नवाब नाजिम, सूबेदार या सिपहसालार कहलाता था और उसके हाथ में असीम शक्तियाँ तथा अधिकार होते थे। ये सिपहसालार अपने अपने सूबे में बहुत कुछ स्वतन्त्र राजा के समान ही आचरण करते थे। प्रत्येक सूबा कई सरकारों में बँटा हुआ होता था; परन्तु जान पड़ता है कि सरकारों का विभाग केवल आर्थिक कार्यों के लिए होता था, शासन सम्बन्धी कार्यों के लिए नहीं। प्रत्येक सरकार में और भी कई छोटे-छोटे विभाग होते थे जो परगने कहलाते थे। जो लोग युद्धों आदि में साम्राज्य की बड़ी-बड़ी सेवाएँ करके सम्राट् को प्रसन्न करते थे, वही किसी सूबे के सूबेदार बनाये जाते थे। ये लोग सम्राट् के प्रतिनिधि तो होते थे, पर बिना सम्राट् की आज्ञा के न तो किसी के साथ युद्ध ही छेड़ सकते थे और न सन्धि ही कर सकते थे। शासन, सेना और न्याय सभी विभाग पूर्ण रूप से इनके अधीन होते थे, पर धार्मिक विषयों में ये लोग किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। बिना सम्राट् की स्वीकृति के ये लोग किसी को प्राण-दंड भी नहीं दे सकते थे। इनकी सहायता के लिए इनके अधीन एक दीवान या अर्थमन्त्री और एक फौजदार या स्थानीय सेनाओं का प्रधान अधिकारी होता था। इसके सिवा नगरों में न्याय करने के लिए काजी और शासन आदि की व्यवस्था करने के लिए कोतवाल भी होते थे। कर संग्रह करनेवाले आमिल, कोश की व्यवस्था करनेवाले पोतदार या खजानची, सम्राट् के पास सब समाचार लिखकर भेजने-

वाले वक़ायः नवीस, और जमीनों का बन्दोबस्त करनेवाले कानूनगो और पटवारी आदि भी होते थे।

तात्पर्य यह कि शासन की व्यवस्था सिद्धान्ततः बहुत अच्छी थी। पर कठिनता यह थी कि एक तो उन दिनों यातायात के साधन आदि बहुत कम थे; और दूसरे प्रायः युद्ध और विद्रोह आदि होते रहते थे जिनके कारण इस व्यवस्था के अनुसार पूरी तरह से काम नहीं होने पाता था। प्रायः अधिकारी बहुत से काम केवल स्वेच्छापूर्वक करते थे और उनके कामों का न तो विशेष निरीक्षण होता था और न उन पर कोई विशेष नियन्त्रण ही रहता था। रिश्वतों का बाजार भी खूब गरम रहता था जिससे प्रायः धनिक अपराधी दंड भोगने से बच जाते थे।

अकबर के सुधार—अकबर के विचार बहुत उदार थे और सभी विषयों में उसका दृष्टिकोण बहुत विस्तृत रहता था। यही कारण था कि उसके दरबार में सभी कलाओं और सभी विषयों के अच्छे-अच्छे ज्ञाता और सभी धर्मों के विद्वान तथा आचार्य आदि सदा एकत्र रहते थे। अकबर स्वयं तो विशेष पढ़ा-लिखा नहीं था, पर विद्वानों आदि की संगति से उसके विचार बहुत ही उन्नत तथा परिष्कृत हो गये थे। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि उसने सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में अनेक सुधार किये। उसने विजित शत्रु सेना के सैनिकों का गुलाम बनाया जाना बन्द कर दिया और अपनी सेना में इस बात की बहुत कड़ी मनाही कर दी कि विजित देशों की प्रजा और विशेषतः स्त्रियों तथा बच्चों को किसी प्रकार का कष्ट न दिया जाय और उनसे कोई छेड़-छाड़ न की जाय। आमेर की राजकुमारी के साथ विवाह होने के थोड़े ही दिनों बाद उसने हिन्दू यात्रियों पर लगनेवाला वह कर उठा दिया जिससे उसे करोड़ों रुपयों की आमदनी होती थी। उसके दूसरे वर्ष सन् १५६४ में उसने अपने सारे राज्य से हिन्दुओं पर लगाया जानेवाला जज़िया नामक कर भी उठा दिया। इस विषय में मुसलमान अधिकारियों और मुल्लाओं आदि के विरोध की उसने कुछ भी परवा नहीं की। सन् १५७३-७४ में उसने शासन और व्यवस्था आदि के क्षेत्रों में बहुत बड़े बड़े सुधार किये। पहले अमीरों और सरदारों को जागीरें दे दी जाती थीं; पर इस प्रणाली में अनेक दोष देख कर अकबर ने अमीरों की जागीरें ले लीं और उन्हें वेतन देना निश्चित किया। सिक्कों में पहले जो मिलावट होती थी, वह उसने बन्द कर दी और ठीक वजन के सुन्दर सिक्के बनवाने आरम्भ किये। सोने की मोहरें बनाने के लिए उसने आगरा, अहमदाबाद, काबुल और बंगाल में चार टकसालें भी स्थापित की थीं।

सेना में सुधार—पहले मुग़ल-साम्राज्य में कोई राजकीय स्थायी सेना नहीं होती थी और आवश्यकता पड़ने पर मन्सबदार और जागीरदार ही अपनी सेनाएँ लड़ने के लिए भेजा करते थे। अकबर ने इस प्रणाली के भी बहुत से दोष दूर किये और सैनिकों तथा सेना-विभाग के अधिकारियों के वेतन आदि के प्रकार में भी बहुत से सुधार किये। उसने मन्सबदारों के ३३ विभाग किये जिनमें सब से बड़ा विभाग दस-हजारी था। अधिक ऊँची मन्सबदारी वह प्रायः राज-परिवार के लोगों को ही देता था। पहले प्रायः मन्सबदार इधर उधर से माँग कर घोड़े ले आते थे और उनकी हाजिरी करा देते थे। अकबर ने इसे रोकने के विचार से घोड़ों के लिए दाग की प्रथा निकाली और घोड़े सरकारी मोहर से दागे जाने लगे।

जमीनों का बन्दोबस्त—जमीनों के बन्दोबस्त और लगान आदि की प्रणाली में भी पहले से अनेक दोष चले आते थे, जिन्हें अकबर की आज्ञा से उसके सुप्रसिद्ध अर्थमन्त्री राजा टोडरमल ने दूर किया था। राजा टोडरमल ने जमीनों की नाप-जोख का बहुत अच्छा और नया ढंग निकाला था और उपज तथा उर्वरा शक्ति के विचार से जमीनों के कई विभाग किये थे; और अलग अलग तरह की जमीन के लिये अलग अलग लगान निश्चित किया था। पड़ती जमीनों के लगान का बहुत सा अंश छोड़ दिया जाता था। जिन जमीनों को आबाद करने की जरूरत होती थी, उनके लिए किसानों को बीज आदि भी दिये जाने लगे थे। यद्यपि इस विषय में पहले शेर शाह बहुत कुछ सुधार कर चुका था, पर राजा टोडरमल ने उसी ढंग के और भी अनेक सुधार किये थे; और यह बात राजा टोडरमल की कीर्त्ति बहुत कुछ बढ़ानेवाली है कि बन्दोबस्त आदि के सम्बन्ध में उनकी बहुत सी प्रणालियाँ आज तक इस देश में प्रचलित हैं। अकबर के समय में रिआया और बादशाह के बीच में जमींदार नहीं होते थे और रिआया सीधे राज्य को कर देती थी। यह प्रणाली आज-कल की रैयतवारी प्रणाली से बहुत कुछ मिलती जुलती होती थी। रिआया अपने इच्छानुसार नगद लगान भी दे सकती थी और अनाज आदि जिन्स भी। पहले साधारण कृषकों आदि पर कोई डेढ़ सौ तरह के कर लगते थे; पर अकबर ने कृषकों को उन सब के भार से मुक्त कर दिया था।

सामाजिक सुधार—इसी प्रकार अकबर ने अनेक सामाजिक दोष भी दूर किये थे। उन दिनों हिन्दुओं में सती को प्रथा इतनी अधिक प्रचलित थी कि प्रायः विधवा स्त्रियाँ जबरदस्ती मृत पति के शव के साथ जला दी जाती थीं। अकबर ने आज्ञा दे दी थी कि कोई स्त्री उसकी इच्छा के विरुद्ध और

जबरदस्ती न जलाई जाय। यहाँ तक कि एक बार उसने एक ऐसी राजपूत महिला को स्वयं बचाया था जिसे उसके सम्बन्धी बलपूर्वक उसके मृत पति के शव के साथ जलाना चाहते थे। जगह जगह उसके ऐसे कर्मचारी तैनात रहते थे जो यह देखते रहते थे कि कोई स्त्री जबरदस्ती तो नहीं जलाई जा रही है। वह बाल-विवाह का भी बहुत विरोधी था और जहाँ तक हो सकता था, लोगों को ब्याह-शादी में बहुत अधिक दान-दहेज देने से रोकता था। वह बहुविवाह और अनमेल विवाह को भी बुरा समझता था। विद्वानों और विशेषतः संस्कृत के विद्वानों और अच्छे कारीगरों का वह बहुत आदर करता था। उसने महाभारत, रामायण, अथर्व वेद, लीलावती और दूसरे अनेक संस्कृत ग्रन्थों के फारसी में अनुवाद कराये थे।

चित्र कला और वास्तु—यद्यपि कुरान में चित्र आदि बनाने की मनाही है, पर अकबर के विचार इस विषय में भी स्वतन्त्र और उदार थे। वह अपने यहाँ अच्छे-अच्छे चित्रकार रखता था और उनसे अनेक प्रकार के चित्र बनवाता था। चित्र कला में उसने स्वयं भी कई नई बातें निकाली थीं। उसके दरबार में सत्रह कुशल चित्रकार रहते थे जिनमें तेरह हिन्दू थे।

अकबर ने कई बहुत बड़ी-बड़ी इमारतें और किले आदि भी बनवाये थे। आगरे का किला और फतहपुर सीकरी की सुप्रसिद्ध बड़ी बड़ी इमारतें उसी की बनवाई हुई हैं। इसके सिवा दिल्ली के पास उसने अपने पिता हुमायूँ का बहुत सुन्दर मकबरा भी बनवाया था। फतहपुर सीकरी की जामा मसजिद और बुलन्द दरवाजा उत्कृष्ट वास्तु कला के बहुत अच्छे नमूने हैं। बुलन्द दरवाजे की ऊँचाई १७६ फुट है और यह संसार के बहुत बड़े बड़े थोड़े से दरवाजों में गिना जाता है। यह सन् १६०२ में दक्षिण-विजय की स्मृति में बनवाया गया था। सिकन्दर का मकबरा भी, जो बौद्ध विहार के ढंग पर बनाया गया है, बहुत सुन्दर है। इसका कार्य तो अकबर ने ही आरम्भ किया था, पर इसकी पूर्त्ति जहाँगीर ने कराई थी। सुन्दरता में ताज को छोड़ कर शायद और कोई इमारत इसका मुकाबला नहीं कर सकती। यहाँ इस सम्बन्ध में हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि अकबर की बनवाई हुई इमारतों पर भारतीय या हिन्दू वास्तु कला की गहरी छाप देखने में आती है और उसकी इमारतें बनानेवाले अधिकांश कारीगर भी हिन्दू ही थे।

धार्मिक विचार—आरम्भ में कुछ दिनों तक अकबर के विचार पक्के मुसलमानों के से थे, और यहाँ तक कि वह कभी कभी स्वयं भी मसजिद में जाकर अज़ान देता था। पर वह स्वभावतः उदार विचारोंवाला था, इसलिए

उसके संकीर्ण विचार धीरे धीरे कम होने लगे। इसके कई कारण थे। पहली बात तो यह थी कि वह जिन मुल्लाओं और मौलवियों के परस्पर वाद-विवाद कराया करता था, वे प्रायः जरा जरा सी और व्यर्थ की बातों पर आपस में लड़ जाते थे जिससे उनके प्रति अकबर के मन में अश्रद्धा उत्पन्न होने लगी थी। दूसरे हिन्दुओं के साथ उसका बहुत कुछ अपनायत का सम्बन्ध हो चला था। तीसरे अनेक धर्मों के अनुयायी उसके पास आया करते थे और अपने अपने धर्म के तत्व उसे बतलाते थे। चौथे वह सभी धर्मों के ग्रन्थ अपने सामने पढ़वा कर सुनता था और उसके मन में सत्य के सम्बन्ध में उत्कट जिज्ञासा उत्पन्न हो गई थी। बस इन्हीं सब कारणों से उसके विचारों में इतने महत्व-पूर्ण परिवर्त्तन होने लगे कि कट्टर मुल्ला और मौलवी उसके विरोधी हो चले। यहाँ तक कि आगे चलकर कुछ लोगों ने उसके काफ़िर होने का भी फ़तवा निकाल दिया था। पर अकबर ने इन सब बातों की परवा नहीं की और वह सत्य की जिज्ञासा में बराबर लगा रहा। अब वह धार्मिक वाद-विवाद में केवल मुल्लाओं और मौलवियों को ही नहीं, बल्कि हिन्दू, जैन, पारसी, यहूदी और ईसाई आदि अनेक धर्मों के विद्वानों और आचार्यों को भी बुलावने लगा; और सन् १५७५ में उसने इस प्रकार के वाद-विवादों के लिए "इबादत खाना" नाम की एक खास इमारत बनवाई जहाँ सभी धर्मों के चुने हुए विद्वान एकत्र होकर अनेक प्रकार के जटिल धार्मिक प्रश्नों पर स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार प्रकट करते थे। मुसलमान मुल्ला आदि उसके प्रश्नों के जो उत्तर देते थे, उनसे उसका सन्तोष नहीं होता था; और इसी लिए वह अन्य धर्मों के अनुयायियों से प्रश्न करके अपना समाधान करता था। परन्तु हिन्दू पंडितों की बातों से प्रायः उसका समाधान हो जाता था। पुरुषोत्तम और देवी नाम के दो पंडितों की बातें वह बहुत अधिक ध्यान से सुनता था। देवी की बातें तो अकबर को यहाँ तक पसन्द थीं कि जब वह रात को अपने कमरे में सोने लगता था, तब उसकी खिड़की के बाहर दीवार के पास अधर में लटकती हुई एक चारपाई पर देवी को भी स्थान मिलता था और देवी वहीं से अकबर को धर्म के अनेक तत्व बतलाया करता था। जैनों में हीरविजय सूरि, विजयसेन सूरि और जिनचन्द्र आदि अनेक विद्वान उसके प्रिय दरबारियों में से थे। जैनों के उपदेशों का भी अकबर के विचारों और रहन-सहन पर विशेष प्रभाव पड़ा था। जैनों के प्रसिद्ध तीर्थ शत्रुंजय पर्वत के यात्रियों पर पहले जो कर लगता था, वह अकबर ने बन्द करा दिया था। सिक्ख गुरुओं का भी वह विशेष सम्मान करता था; और एक बार एक सिक्ख गुरु के कहने पर उसने

पंजाब की रिआया की मालगुजारी एक साल के लिए माफ कर दी थी। इसी प्रकार ईसाई पादरियों के उपदेश भी वह बहुत ध्यानपूर्वक सुनता था और समय समय पर उनके साथ भी कई तरह की रिआयतें करता था। हाँ मुसलमान मुल्लाओं और मौलवियों के अधिकार उसने अवश्य बहुत कम कर दिये थे। और इसका कारण यह था कि वे अकबर को धर्मभ्रष्ट बतलाकर उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचते थे और उसे राज्यच्युत करने के प्रयत्न में लगे रहते थे।

पहले धार्मिक विषयों में मुल्लाओं का फतवा ही अन्तिम और सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता था, पर सन् १५७९ में धार्मिक क्षेत्र के सब अधिकार भी उसने स्वयं अपने हाथ में ले लिये। उस समय उसने फैजी से एक नया खुतबा बनवाया था जो फतहपुर सीकरी की मसजिद में पढ़ा गया था। इस खुतबे के अन्त में एक पद था "अल्लाहो अकबर" जिसके दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि अल्लाह ही सबसे बड़ा है, और दूसरा यह कि अल्लाह और अकबर दोनों एक हैं, अर्थात् अकबर ही अल्लाह या खुदा है। यद्यपि अकबर कहता था कि इस पद का पहला ही अर्थ ठीक और मान्य है, पर मुल्ला प्रायः इसके दूसरे अर्थ पर ही जोर देकर मुसलमानों को उसके विरुद्ध भड़काया करते थे। जो हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि धार्मिक क्षेत्र में भी अकबर श्रेष्ठ धर्म्माधिकारी बन गया था। यहाँ यह बतला देना भी अनुचित न होगा कि अकबर के धार्मिक विचारों में इस प्रकार के परिवर्त्तन करानेवाले मुख्यतः शेख अब्बुलफजल और फैजी तथा इन दोनों के पिता शेख मुबारक थे और उक्त नया खुतबा भी शेख फैजी का ही बनाया हुआ था। इसके सिवा मुल्लाओं के जिस फतवे के द्वारा अकबर प्रधान धर्माधिकारी बना था, वह फतवा भी शेख मुबारक का ही लिखा हुआ था। और यही कारण था कि मुल्ला लोग जितना अकबर से चिढ़ते थे, उससे कहीं ज्यादा शेख मुबारक और उनके पुत्रों (अब्बुल फजल और फैजी) से चिढ़ते थे।

दीन इलाही—हम पहले कह चुके हैं कि अकबर अपने समय के मुल्लाओं और मौलवियों के कट्टरपन से बहुत अधिक असन्तुष्ट था। साथ ही वह अनेक धर्मों के मूल तत्वों का भी बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर चुका था। इस-लिए अकबर एक ऐसा नया धर्म चलाना चाहता था जिस में सभी धर्मों की मुख्य मुख्य बातें सम्मिलित हों और जिस में व्यर्थ का वैर या द्वेष भाव न हो। इसमें उसका मुख्य उद्देश्य यह था कि उसके साम्राज्य में सभी धर्मों के लोग मेल-जोल से रहें, एक सूत्र में बँधे रहें और उनमें परस्पर धार्मिक झगड़े-बखेड़े न हों। इन्हीं उद्देश्यों की सिद्धि के लिए उसने सन १५८१ में

अपने उस नये धर्म की घोषणा की जो इतिहास में दीन इलाही या तौहीद इलाही के नाम से प्रसिद्ध है और जिस का अर्थ है—ईश्वरीय धर्म। इस धर्म में सूफियों के रहस्यवाद के कुछ सिद्धान्त, कुछ दार्शनिक सिद्धान्त और कुछ प्राकृतिक शक्तियों की उपासना सम्मिलित थी। इसमें न तो देवी-देवताओं की पूजा और उपासना आदि के लिए ही स्थान था और न पैगम्बरों आदि के अन्ध अनुकरण के लिए ही। सम्राट् ही इस धर्म का मुख्य प्रवर्त्तक माना जाता था। अनेक धर्मों के सिद्धान्तों आदि से परिचित होने के उपरान्त अन्त में अकबर इस परिणाम पर पहुँचा था कि ईश्वर एक ही है और भिन्न भिन्न धर्म तथा सम्प्रदाय उस ईश्वर तक पहुँचने के भिन्न भिन्न मार्ग हैं; और इसी लिए सब लोगों को मिलकर भ्रातृ भाव से रहना चाहिए और किसी एक धर्म के अनुयायी को अन्य धर्मावलम्बियों के साथ वैर-विरोध या द्वेष भाव नहीं रखना चाहिए। इसी लिए इस धर्म की घोषणा के समय अकबर ने सभी धर्मों के अनेक बड़े बड़े विद्वानों और आचार्यों तथा राजकीय और सेना विभाग के बड़े बड़े कर्मचारियों को राजधानी में बुलाकर उनकी एक बहुत बड़ी सभा की थी और उसी सभा में इस नये धर्म की मुख्य मुख्य बातें सब लोगों को सुनाई गई थीं। तभी से बहुत से लोग धीरे धीरे इस नये धर्म में दीक्षित होने लगे थे।

अकबर स्वयं ही लोगों को इस धर्म की दीक्षा दिया करता था। दीक्षा साधारणतः प्रति रविवार को हुआ करती थी। जो लोग दीक्षित होना चाहते थे, वे रविवार को उसके सामने उपस्थित किये जाते थे। वे लोग अपनी पगड़ी अपने हाथ में लेकर बादशाह के पैरों पर सिर रखते थे और तब बादशाह उन्हें उठाकर उनकी पगड़ी उनके सिर पर रख देता था और उन्हें अल्लाहो अकबर के मन्त्र की दीक्षा देता था। ये नये दीक्षित लोग चार वर्गों में विभक्त होते थे। और सबको यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि हम अपने प्राण, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा और धर्म सदा बादशाह की सेवा करने के लिए निछावर करने को तैयार रहेंगे। इस धर्म के अनुयायियों के लिए मांस खाना वर्जित था। यहाँ तक कि वे लोग कसाइयों, मछुओं और बहेलियों आदि के साथ, जिनका पेशा ही जीव-हत्या था, बैठकर भोजन भी नहीं कर सकते थे। प्रत्येक अनुयायी को बादशाह के जन्म-दिन पर अपने यहाँ लोगों को भोज देना पड़ता था और यथा-शक्ति दान-पुण्य भी करना पड़ता था।

उक्त चारों में से दीक्षित जितनी चीजें बादशाह की सेवा के लिए अर्पित करता था, उसको उसी के अनुसार चारों में से एक वर्ग में स्थान मिलता था।

जो इनमें से केवल एक वस्तु अर्पित करता था, वह पहले वर्ग में रहता था; और जो चारों वस्तुएँ निछावर करने को तैयार रहता था, वह चौथे वर्ग में रखा जाता था।

परन्तु अकबर ने अपने इस नये धर्म का प्रचार कभी उस रूप में नहीं किया जिस रूप में धर्म-प्रचारक लोग अपने धर्म का प्रचार करते हैं। चाहे उसके अनेक बड़े बड़े राज-कर्मचारियों ने भले ही केवल खुशामद के मारे उससे इस धर्म की दीक्षा ले ली हो, पर वह स्वयं कभी किसी पर इस धर्म में दीक्षित होने के लिए दबाव नहीं डालता था। अब्बुलफजल, फैजी, शेख मुबारक, अजीज कोका और राजा बीरबल आदि इस धर्म में दीक्षित हुए थे; पर राजा भगवानदास और राजा मानसिंह ने इसकी दीक्षा लेने से इन्कार कर दिया था।

अकबर ने केवल लोगों को मांस खाने की ही मनाही नहीं कर दी थी, बल्कि गो-हत्या भी बन्द करा दी थी। और इसका मुख्य कारण कदाचित् यही था कि वह व्यर्थ हिन्दुओं का दिल नहीं दुखाना चाहता था। साथ ही हिन्दुओं तथा जैनों के उपदेशों के कारण भी उसमें जीव-दया का बहुत कुछ भाव आ गया था। इसके सिवा वह स्वभावतः दयालु भी था। मुल्ला बदायूनी कहते हैं कि मुसलमानों के विरुद्ध उसने अनेक आज्ञाएँ प्रचलित की थीं। उसने आज्ञा दे दी थी कि बारह वर्ष से कम अवस्थावाले लड़कों की सुन्नत या मुसलमानी न की जाय; और बारह वर्ष की अवस्था हो जाने पर भी उसी दशा में सुन्नत की जाय, जब कि वह बालक स्वयं इसके लिए सहमत हो। शरीयत के अनुसार मुसलमानों के लिए दाढ़ी रखना आवश्यक होता है और वे जरी आदि के कपड़े नहीं पहन सकते। परन्तु अकबर ने मुसलमान अमीरों के लिए इस प्रकार के कपड़े पहनना अनिवार्य कर दिया था। वह स्वयं भी दाढ़ी मुँडाता था और दूसरों को भी ऐसा ही करने का परामर्श देता था। अपनी माता की मृत्यु के समय तो उसने हिन्दुओं की तरह सारा सिर और दाढ़ी-मूछ आदि भी मुँड़ाई थी और उसकी देखा-देखी उसके बहुत से दरबारियों और नौकर-चाकरों ने भी ऐसा ही किया था। इस्लाम धर्म में सूअर और कुत्ते बहुत अपवित्र समझे जाते हैं। पर उसने अपने हरम में बहुत से सूअर और कुत्ते भी पाले थे और रोज सुबह उठकर वह उन्हें देखने जाता था। उसने मसजिदों में अज़ान भी बन्द करा दी थी। अहमद और मुस्तफा आदि नामों से वह इतना चिढ़ता था कि उसने बहुत से लोगों के ये नाम ही बदलवा दिये थे। रमजान के दिनों में रोजा रखने और हज करने के लिए मक्के जाने की भी उसने मनाही कर थी। कुरान और

हदीस के अध्ययन का भी वह विरोधी था। बदायूनी के लेख के अनुसार उसने इसी प्रकार की और भी अनेक आज्ञाएँ प्रचलित की थीं। पर यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि बदायूनी कट्टर मुसलमान था और अकबर से उसके धार्मिक विचारों के कारण बहुत चिढ़ता था। इसलिए सम्भव है कि बदायूनी की इस प्रकार की बातों में कुछ अत्युक्ति भी हो; पर फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि इनमें से बहुत सी बातें ठीक हैं; और इनसे यह सूचित होता है कि इस्लाम धर्म के प्रति अकबर के मन में वह निष्ठा, श्रद्धा और भक्ति नहीं रह गई थी जो कट्टर मुसलमानों में हुआ करती है। और इसका कारण यह था कि वह अनेक धर्मों के तत्व जान गया था। पर कट्टर मुसलमान लेखक उसके इस विचार-परिवर्त्तन का सारा दोष शेख मुबारक और उनके दोनों पुत्रों (अब्बुलफजल और फैजी) के सिर ही मढ़ते हैं।

जो हो, अकबर के जीवन-काल में भी दीन इलाही का बहुत अधिक प्रचार नहीं हुआ था और उसके अनुयायियों की संख्या कुछ हजार तक ही पहुँच पाई थी। फिर यदि अकबर की मृत्यु के साथ ही साथ इस धर्म का भी अन्त हो गया हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

अकबर के दरबारी और समकालीन—जिस प्रकार अकबर की और सब बातों का बहुत अधिक महत्व है, उसी प्रकार उसके दरबार का महत्व भी दूसरे बहुत से बादशाहों के दरबारों की अपेक्षा बहुत अधिक है। कुछ तो संयोग से अकबर के समय में अनेक बहुत बड़े बड़े विद्वान और कलाकुशल हुए ही थे और कुछ अकबर ने भी उन्हें एकत्र करने और प्रोत्साहन देने में बहुत कुछ काम किया था। वह अपने साम्राज्य में ऊँचे ऊँचे और उत्तरदायित्व के पद देने में हिन्दू और मुसलमान में भेद नहीं करता था। हिन्दुओं में उसके मित्रों और राजकर्मचारियों में राजा भगवानदास, राजा मानसिंह, राजा टोडरमल और राजा बीरबल आदि बहुत प्रसिद्ध हैं; और इन सब लोगों ने अकबर के साम्राज्य के विस्तार आदि में बहुत सहायता की थी और इन्हें सदा राज्य के बहुत बड़े बड़े पद मिलते रहते थे। राजा टोडरमल जैसे तलवार के धनी थे, वैसे ही कलम के भी धनी थे। शासन के अनेक विभागों और विशेषतः माल तथा बन्दोबस्त आदि के सम्बन्ध में उन्होंने जो अनेक बड़े बड़े सुधार किये थे, उनमें से कुछ तो आज तक प्रचलित हैं। राजा बीरबल में भी इसी प्रकार के अनेक गुण थे और उनके विनोद आदि तो आज तक भारतवासियों को नहीं भूले हैं। ये दोनों ही दरबारी बहुत ही सामान्य कुलों में उत्पन्न हुए थे और केवल अपनी योग्यता के कारण अकबर के प्रधान और विश्वसनीय सहायक तथा मित्र बने

थे। राजा बीरबल के साथ अकबर का इतना अधिक स्नेह था कि जब काबुल की चढ़ाई में उनकी मृत्यु हो गई, तब अकबर को सहसा उनके मरने का विश्वास ही नहीं होता था और वह कई दिनों तक रोता रहा और महीनों तक राज्य के कार-बार से उदासीन रहा। इनका पहला नाम महेशदास था और ये राजा भगवानदास के पास रहा करते थे। राजा भगवानदास ने ही अकबर से इनका परिचय कराया था। शेख मुबारक और उनके कई पुत्रों में से शेख अब्बुलफजल और फैजी भी अकबर के प्रमुख दरबारियों में से थे। अकबर के इतिहास और शासन-व्यवस्था आदि से सम्बन्ध रखनेवाले दो ग्रंथ सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं—एक अकबरनामा और दूसरा आईन अकबरी। और ये दोनों ही ग्रन्थ शेख अब्बुलफजल के लिखे हुए हैं। अकबर के समय की बहुत सी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक बातों का ज्ञान हमें इन्हीं दोनों पुस्तकों से होता है। इनके बड़े भाई फैजी फारसी भाषा के बहुत ऊंचे दरजे के कवि थे और प्रायः साहित्य-सेवा में ही अपना सारा समय व्यतीत करते थे। उन्होंने संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का भी फारसी में अनुवाद किया और कराया था। अकबर के दरबार के साहित्यसेवी रत्नों में मुल्ला बदायूनी का स्थान भी बहुत ऊँचा है। यद्यपि इनमें धार्मिक पक्षपात और कट्टरपन बहुत अधिक था, पर फिर भी इनकी विद्वत्ता और योग्यता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। बैरम खाँ के सुयोग्य पुत्र मिरजा अब्दुल रहीम खानखानाँ भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये बहुत वीर सेनापति और सुयोग्य शासक होने के अतिरिक्त बहुत अधिक उदार और बहुत बड़े साहित्य-सेवी भी थे। हिन्दी, उर्दू और फारसी में इन्होंने अनेक और बहुत उच्च कोटि की रचनाएँ की हैं जो स्थायी साहित्य में परिगणित होती हैं। विशेषतः इनकी हिन्दी की रचनाएँ तो हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य निधि हैं और हिन्दी जगत में उनका बहुत दिनों तक आदर होता रहेगा।

हिन्दी संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि और महात्मा तुलसीदास और सूरदास जी भी अकबर के ही समय में हुए थे और हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि राम-चरित मानस और सूर-सागर की रचना का आरम्भ भी अकबर के ही समय में हुआ था। उस समय के संगीतज्ञों में तानसेन सर्वश्रेष्ठ हैं। अब्बुलफजल ने एक स्थान पर उनके सम्बन्ध में लिखा है कि संगीत शास्त्र का ऐसा अच्छा ज्ञाता इधर एक हजार वर्षों में और कोई नहीं हुआ। और हम कह सकते हैं कि उनके बाद आज तक भी कोई ऐसा संगीतज्ञ नहीं हुआ जो उनकी गर्द भी पा सके। ये पहले हिन्दू थे, पर अकबर के दरबार में कुछ दिनों तक रहने के बाद

मुसलमान हो गये थे और अकबर ने इन्हें मिरजा की उपाधि से विभूषित किया था। इनकी मृत्यु सन् १५८९ में हुई थी। ग्वालियर में इनकी कब्र की जियारत करने के लिए आज तक बड़े-बड़े प्रसिद्ध गवैये जाया करते हैं।

सन्तान—दुःख है कि अकबर की सन्तान स्वयं उसकी तुलना में किसी योग्य न हुई। अकबर के तीन पुत्र थे—जहाँगीर या सलीम, (१५६९–१६२७) मुराद (१५७०–१५९९) और दानियाल (१५७२–१६०४)। इनमें से एक सलीम या जहाँगीर ही अन्त में बच गया था और बाकी दोनों अकबर के जीवन-काल में ही युवावस्था में मर गये थे। मुराद बहुत बड़ा शराबी था और शराब के कारण ही तीस बरस की अवस्था में दक्षिण में मर गया था। दानियाल की मृत्यु भी प्रायः उसी उमर में अजमेर में हुई थी। इसकी मृत्यु भी शराब के ही कारण हुई थी। अकबर ने सब लोगों को इस बात की बहुत ताकीद कर रखी थी कि इसके पास किसी प्रकार शराब न पहुँचने पावे। पर फिर भी एक अवसर पर इसने अपने एक खुशामदी नौकर से किसी प्रकार शराब मँगवाई ही। वह मूर्ख एक बन्दूक की नली में शराब भरकर इसके पास ले गया। उस नली में मैल और धूआँ जमा हुआ था। वही शराब पीने से इसकी भी मृत्यु हो गई। तीसरा पुत्र सलीम या जहाँगीर भी बहुत बड़ा शराबी था और प्रायः अपने पिता से लड़ता-झगड़ता रहता था और उसके विरुद्ध अनेक प्रकार के षडयन्त्र रचता रहता था। कई बार उसने विद्रोह भी किये थे। इसी लिए अकबर उससे भी प्रायः अप्रसन्न ही रहता था। तात्पर्य यह कि सन्तान की ओर से अकबर कभी सुखी न हुआ। कहा जाता है कि अकबर को ये तीनों पुत्र शेख सलीम चिश्ती के आशीर्वाद से, जो अपने समय के बहुत ऊँचे दरजे के महात्मा और पहुँचे हुए फकीर थे, प्राप्त हुए थे।

अकबर का व्यक्तित्व—इसमें सन्देह नहीं कि केवल भारत के इतिहास में ही नहीं, बल्कि सारे संसार के इतिहास और बादशाहों में भी अकबर का स्थान बहुत ऊँचा है। उसमें बहुत से गुण थे और पूरी मात्रा में थे। उसका कद मझोला और रंग गन्दुमी था, पर उसमें वीरों और योग्य पुरुषों के अनेक लक्षण वर्त्तमान थे। उसका सीना बहुत चौड़ा था और हाथ बहुत लम्बे, कुछ कुछ घुटनों तक पहुँचते हुए थे। उसकी नाक पर बाईं ओर एक मसा था जो देखने में भी बहुत सुन्दर था और सामुद्रिक के अनुसार बहुत शुभ भी था। उसकी आवाज ऊँची और पल्लेदर थी और वह देखने में शेर की तरह जान पड़ता था। उसके चेहरे पर अनुपम तेज झलकता था और सहसा किसी को उसकी ओर देखने का साहस नहीं होता था। यद्यपि वह बहुत अधिक हँसमुख और

विनोदप्रिय था, पर फिर भी क्रोध के समय उसकी आकृति बहुत विकराल हो जाती थी। वह छोटे से छोटे आदमियों की बातें भी बहुत ध्यान से सुनता था और सबके साथ बहुत ही नम्रतापूर्वक बातें करता था। जेसुइट पादरी जेराम ग्जेवियर ने लिखा है कि वह बड़ों के साथ बड़ों की तरह और छोटों के साथ छोटों की तरह मिलकर आचरण करता था; और उक्त पादरी को इस बात का आश्चर्य है कि इसलाम धर्म के बहुत कुछ विरोधी होने पर भी लोगों ने उसे मार क्यों नहीं डाला! पर इसका कारण कदाचित् यही है कि एक तो वह बहुत अधिक लोकप्रिय था और दूसरे बहुत बड़ा प्रतापी भी था; और किसी को उसके सामने अधिक बोलने का भी साहस नहीं होता था। फिर उसकी हत्या करना तो बहुत दूर की बात है।

अकबर की बुद्धि बहुत ही तीव्र तथा विचक्षण थी और वह जटिल से जटिल विषय भी बहुत जल्दी और सहज में समझ लिया करता था और उनके सम्बन्ध में अपनी पुष्ट सम्मति भी दिया करता था। राजनीतिक, दार्शनिक, धार्मिक आदि सभी विषयों का उसका ज्ञान देखकर बड़े बड़े विद्वान भी दंग रह जाते थे। युद्ध विद्या और कूट नीति में भी वह बहुत निपुण था और बड़े बड़े युद्धों का संचालन और व्यवस्था ऐसे सुन्दर रूप से करता था कि अच्छे अच्छे सेनापति भी उसके सामने हार मानते थे।

अकबर का खान-पान बहुत ही परिमित था और वह प्रायः दिन-रात में एक ही बार भोजन करता था। वह गोमांस या प्याज आदि बिलकुल नहीं खाता था और साधारण मांस भी बहुत कम खाता था। वह प्रायः रेशमी और ऐसे भड़कीले वस्त्र पहनता था जिनपर जरी का काम किया होता था। गहने और जवाहिरात आदि पहनने का भी उसे बहुत शौक था। सिर पर वह हिन्दुस्तानी ढंग की पगड़ी बाँधता था, और कभी कभी एकान्त में युरोपियन ढंग के कपड़े भी पहना करता था। वह सदा अपने पास कोई न कोई अस्त्र रखता था और उसके साथ हथियारबन्द अंग-रक्षक रहते थे।

अकबर अपने बड़ों के प्रति यथेष्ट श्रद्धा-भक्ति, बराबरवालों के साथ प्रेम और छोटों के प्रति दया का व्यवहार करता था। उसे इस बात का प्रायः दुःख रहता था कि मेरे पिता हुमायूँ का बहुत जल्दी स्वर्गवास हो गया और मैं उनकी कुछ भी सेवा न कर सका। उसके भाई हकीम ने यद्यपि कई बार उसके साथ शत्रुता का व्यवहार किया और उसके दूध-भाई अजीज कोका ने यद्यपि उसके विरुद्ध कई बार विद्रोह किया, तो भी वह बराबर उन्हें क्षमा ही करता था और कहता था कि इनके और मेरे बीच में दूध की नदी बहती है जिसे मैं किसी प्रकार

पार नहीं कर सकता। अपने पुत्र सलीम को भी वह सदा प्रेमपूर्ण व्यवहार करने का उपदेश देता था। उसके मन में सदा ईश्वर का भय बना रहता था और वह कभी अभिमान नहीं करता था, बल्कि अपने आपको ईश्वर की विशाल सृष्टि का एक नितान्त तुच्छ और सामान्य जीव समझता था।

वह परिश्रमी भी बहुत अधिक था और कभी अपना कोई क्षण व्यर्थ नहीं जाने देता था। वह रात को बहुत कम सोता था और प्रायः राज्य का कार-बार देखने और विद्वानों के साथ बात-चीत करने में ही अपना अधिकांश समय बिताता था। सैर-शिकार और नई नई चीजों का उसे बहुत शौक था। तरह तरह के जानवरों के सिवा उसके यहाँ सैकड़ों सधाये हुए शिकारी चीते और बाज आदि भी रहते थे और वह उन सबकी देख-रेख और चिकित्सा आदि का भी पूरा-पूरा ध्यान रखता था। उसके दरबार में बहुत दूर दूर से सभी तरह के लोग आया करते थे जिनसे बातें करके वह अपना ज्ञान बढ़ाया करता था। उसकी स्मरण शक्ति भी बहुत तीव्र थी और उसका एक बहुत बड़ा पुस्तकालय भी था जिसमें सभी विषयों के बहुत अच्छे-अच्छे ग्रन्थ बहुत अधिक संख्या में थे। वह संगीत और कला का भी बहुत बड़ा प्रेमी था और वास्तु शास्त्र का भी उसे बहुत अच्छा ज्ञान था। उसमें शारीरिक बल भी बहुत अधिक था और वह बड़े बड़े मस्त हाथियों और चपल घोड़ों को बहुत सहज में वश में कर लेता था। विकट अवसर आ पड़ने पर वह कभी अपने प्राणों का मोह नहीं करता था और वर्षा काल की बढ़ी हुई गङ्गा में भी अपना घोड़ा डाल देता था और आसानी से पार पहुँच जाता था।

अकबर को अपने राजकीय उत्तरदायित्व और कर्त्तव्यों का भी बहुत अच्छा ज्ञान था। वह अपनी प्रजा के साथ बहुत प्रेम करता था और जहाँ तक हो सकता था, न्यायपूर्वक शासन करना चाहता था और अत्याचार आदि से बचने का बहुत प्रयत्न करता था। हाँ अपने साम्राज्य का विस्तार करने की उसमें बहुत प्रबल लालसा थी और इसी लिए राजनीतिक क्षेत्र में वह प्रायः ऐसे काम भी कर बैठता था जो नैतिक दृष्टि से निन्दनीय ठहरते हैं। फिर हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वह समय ही ऐसा था कि इस दृष्टिकोण से इस प्रकार के कार्य निन्दनीय नहीं बल्कि स्तुत्य समझे जाते थे। पर जहाँ उसने कुछ अवसरों पर विश्वासघात, अत्याचार और निन्दनीय आचरण किये थे, वहाँ अनेक अवसरों पर उसने अनेक प्रशंसनीय और आदर्श काम भी किये थे। विशेषतः धार्मिक क्षेत्र में वह जितनी सहिष्णुता दिखलाता था, उतनी सहिष्णुता दिखलानेवाले दूसरे मुसलमान बादशाह इतिहास में बहुत कम

मिलते हैं। वह कभी यह नहीं चाहता था कि कोई बलपूर्वक मुसलमान बनाया जाय। उसके समस्त साम्राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को अपने इच्छानुसार धर्म का पालन और उपासना आदि करने की पूरी पूरी स्वतन्त्रता थी।

अन्तिम दिन—अकबर के अन्तिम दिन बहुत ही कष्ट से बीते थे। उसके दो पुत्र (मुराद और दानियाल) पहले ही (क्रमशः सन् १५९९ और १६०४ में) मर चुके थे और बड़ा लड़का सलीम या जहाँगीर भी अपने आचरणों से उसे बहुत दुःखी रखता था। यदि सलीम का शरीर कुछ अधिक हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ न होता तो बहुत सम्भव था कि वह भी अब तक कभी का अपने दोनों छोटे भाइयों का अनुकरण करता हुआ परलोक सिधार गया होता। इधर कुछ दिनों से सलीम विद्रोही हो गया था और वह शीघ्र ही साम्राज्य पर अधिकार करना चाहता था। सन् १६०० के आरम्भ में ही, जब कि अकबर दक्षिण में आसीरगढ़ के किले पर घेरा डाले हुए पड़ा था, उसे समाचार मिला था कि सलीम ने इलाहाबाद में अपने स्वतन्त्र बादशाह होने की घोषणा कर दी है। सलीम की अवस्था उस समय ३१ वर्ष की हो चुकी थी। अकबर उस समय तक साठ वर्ष के लगभग पहुँच चुका था और सलीम के लिए अब अधिक प्रतीक्षा करना बहुत कठिन हो रहा था। वह साम्राज्य का अधिकार पाने के लिए अधीर हो रहा था। इसी लिए उसने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी थी। अकबर ने तुरन्त आगरे पहुँच कर सलीम को कई पत्र भेजे थे जिनमें उसे संसार का बहुत कुछ ऊँच-नीच भी समझाया गया था और डराया-धमकाया भी गया था। उस समय तो किसी प्रकार पिता-पुत्र में मेल हो गया था; पर दो वर्ष बाद उसने एक और ऐसा अनुचित काम कर डाला जिससे अकबर को फिर बहुत अधिक दुःख हुआ। उसने दक्खिण से लौटते हुए अब्बुलफजल को रास्ते में ओडछा के राजा वीरसिंह देव की सहायता से मरवा डाला। इस दुर्घटना से अकबर को इतना अधिक दुःख हुआ कि वह दिन-रात रोता और विलाप करता था। उसने कहा भी था—"यदि सलीम सम्राट् ही बनना चाहता था तो उसे उचित था कि वह अब्बुलफजल को छोड़ कर मुझे ही मार डालता।"

पर इस बार भी सुलताना सलीमा बेगम ने पिता-पुत्र में मेल करा दिया। अकबर ने भी उसे क्षमा कर दिया और खुले आम उसे अपना उत्तराधिकारी और भावी सम्राट् घोषित कर दिया। पर सलीम के मुसाहब बहुत दुष्ट थे और उसे प्रायः बहकाया करते थे, इसलिए उसने फिर इलाहाबाद जाकर अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी।

अब सलीम के विरुद्ध षड्यन्त्र रचे जाने लगे। जहाँगीर का पुत्र खुसरो राजा मानसिंह का भानजा था और उसका विवाह अजीज कोका की कन्या से हुआ था। जब इन लोगों ने देखा कि सलीम से अकबर बहुत नाराज़ रहता है, तब वे लोग इस बात का प्रयत्न करने लगे कि साम्राज्य सलीम को न मिलकर उसके पुत्र खुसरो को मिले। यद्यपि खुसरो की माता ने उसे बहुत समझाया, पर उसे भी साम्राज्य का लोभ भले-बुरे का विवेक नहीं करने देता था। इसी बीच में अप्रैल सन् १६०४ में शाहजादा दानियाल की भी मृत्यु हो गई और सलीम के मार्ग का एक और काँटा भी निकल गया। इतने पर भी जब सलीम ने इलाहाबाद में दोबारा अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की, तब अगस्त सन् १६०४ में अकबर ने स्वयं इलाहाबाद जाकर अपने पुत्र को ठीक मार्ग पर लाने का विचार किया। पर राजधानी से कुछ ही दूर जाने पर उसे समाचार मिला कि उसकी माता बहुत बीमार है जिससे वह लौटकर आगरे आ गया। सलीम भी कुछ तो अपने पिता के रोष के भय से और कुछ राजा मानसिंह तथा अजीज कोका के षड्यन्त्र को विफल करने के विचार से तुरन्त आगरे आ गया और फिर महल की बेगमात की कृपा से अकबर और सलीम में मेल हो गया और अकबर ने फिर उसके अपराध क्षमा कर दिये। पर खुसरो फिर भी किसी तरह नहीं मानता था और अपने पिता को कारागार में बन्द कराके आप साम्राज्य का स्वामी बनना चाहता था। इन्हीं सब दुःखों के कारण अकबर अन्दर ही अन्दर घुल घुलकर मरा जाता था और उसके शरीर में रोग का घुन लग गया था। उसे ज्वर चढ़ आया और साथ ही दस्त भी आने लगे। वह बिस्तर पर पड़ गया और शीघ्र ही उसकी ऐसी अवस्था हो गई कि हकीमों ने जवाब दे दिया।

इस बीच में सलीम ने भी कुछ अमीरों को अपनी ओर मिला लिया था। उन्हीं की सिफारिश से वह अकबर के अन्तिम समय में फिर उसकी सेवा में उपस्थित हुआ और उससे क्षमा माँगने लगा। पर उस समय तक अकबर का रोग इतना अधिक बढ़ गया था कि वह बोल भी न सकता था। पर तो भी वह अन्दर ही अन्दर समझ रहा था कि चारों ओर क्या क्या षड्यन्त्र हो रहे हैं। सलीम के क्षमा माँगने पर अकबर ने उसे राजकीय वस्त्र धारण करने का संकेत किया और तब अपने हाथ से उसकी कमर में तलवार बाँधी। इस प्रकार मानों अकबर ने अपने सामने ही सलीम को अपना उत्तराधिकारी निश्चित करके उसे अपना सिंहासन और अधिकार दे दिया। इसके बाद १७ अक्तूबर सन् १६०५ को प्रातःकाल उसकी मृत्यु हो गई। उसकी लाश सिकन्दरे के मकबरे में गाड़ी

गई जिसे उसने अपने जीवन-काल में ही बनवाना आरम्भ किया था और जिसे बाद में जहाँगीर ने पूरा कराया था। यह मकबरा बहुत सुन्दर है और वास्तु-कला का एक बहुत अच्छा नमूना है।

इस प्रकार उस अकबर का अन्त हुआ जिसमें स्वाभाविक रूप से सभी राजोचित गुण अपनी पूर्ण मात्रा में वर्त्तमान थे और जिसकी गणना इतिहास के सर्वश्रेष्ठ सम्राटों में की जाती है।

छठा अध्याय

जहाँगीर (सन् १६०५-१६२७)

राज्यारोहण—अकबर के मरने पर २४ अक्तूबर सन् १६०५ को उसका सब से बड़ा और एक मात्र बचा हुआ लड़का सलीम राजसिंहासन पर बैठा। उसने अपना नाम जहाँगीर रखा। उस समय उसकी अवस्था ३६ वर्ष की थी। उसे बचपन में शिक्षा भी अच्छी मिली थी और वह समझदार भी था; पर उसे शराब पीने की बहुत ज्यादा लत थी और उसका स्वभाव भी कुछ चिड़चिड़ा था। तो भी आरम्भ में उसने कई अच्छे काम किये जिनसे लोगों को आशा होने लगी कि यह विस्तृत मुग़ल साम्राज्य का संचालन भली भाँति कर सकेगा। उसने अपने पिता के समय के पुराने कर्मचारियों को फिर से अच्छे पदों पर नियुक्त किया। पहले राजा मानसिंह आदि जो लोग खुसरो का पक्ष लेकर उसे सिंहासन से वंचित करना चाहते थे, उनके साथ भी उसने दयालुता का व्यवहार करके उनके मन से सब प्रकार का भय और आशंका दूर कर दी और कट्टर मुसलमानों और मुल्लाओं आदि को भी यह आश्वासन देकर सन्तुष्ट कर दिया कि मैं सब प्रकार से इस्लाम की रक्षा करने का प्रयत्न करूँगा। अपनी प्रजा के कल्याण के लिए भी उसने अनेक नई आज्ञाएँ प्रचलित कीं और शासन-व्यवस्था में भी बहुत कुछ सुधार किये। जो कई पुराने कर लोगों को भारी जान पड़ते थे, वे भी उसने उठा दिये। उसने हिन्दुओं और मुसलमानों को अच्छी तरह सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। वह हृदय से सबके साथ न्याय करना चाहता था, इसी लिए उसने सिंहासन पर बैठने के कुछ ही दिनों बाद अपने निवासस्थान आगरे के किले के शाह बुर्ज से एक जंजीर यमुना तट के पत्थर के एक खम्भे के साथ बँधवा दी। उस जंजीर को हिलाने से राजमहल का एक घण्टा बजने लगता था। यदि कोई दीन-दुखी या पीड़ित होता था, तो वह आकर वही जंजीर हिलाता था जिससे महल का घण्टा बजने लगता था और जहाँगीर को उसकी तुरन्त खबर हो जाती थी। फिर जहाँ तक हो सकता था, वह उस दुःखी का दुःख दूर करने का प्रयत्न करता था।

खुसरो का विद्रोह—जब जहाँगीर ने राजा मानसिंह को प्रसन्न और सन्तुष्ट कर दिया, तब शाहजादा खुसरो भी दरबार में हाजिर किया गया। सम्राट् ने भी उसके साथ बहुत प्रेमपूर्ण व्यवहार किया और उसे एक लाख

रुपये एक अच्छा महल बनवाने के लिए प्रदान किये। यद्यपि जहाँगीर के मन में भी खुसरो की तरफ से बहुत कुछ खटका था, पर यदि खुसरो चाहता तो उस समय अपने आचरण से अपने पिता को भली भाँति सन्तुष्ट और अपने ऊपर प्रसन्न कर लेता। पर उसका मिजाज बहुत बिगड़ गया था और लक्षणों से ऐसा जान पड़ता था कि वह कभी न सुधरेगा। खुसरो अब भी यही चाहता था कि किसी प्रकार सिंहासन मुझे मिले और साम्राज्य के संचालन का कार्य मैं करूँ। वह लोगों को, मीठी मीठी बातें करके, अपनी ओर मिलाना खूब जानता था और देखने में भी बहुत सजीला जवान था। प्रायः लोगों को उदारतापूर्वक धन भी देता रहता था। इन्हीं सब कारणों से धीरे धीरे आगरे के किले में ही, जहाँ जहाँगीर ने उसे एक प्रकार से नजरबन्द सा कर रखा था, उसके पास बहुत से खुशामदी जमा होने लगे और उनमें से कुछ लोगों ने सदा उसके प्रति निष्ठ रहने की शपथ भी खाई। एक दिन अवसर पाकर रात के समय खुसरो अपने साथ ३५० सवारों को लेकर अकबर के मकबरे की जियारत करने के बहाने से निकल पड़ा और सीधा मथुरा जा पहुँचा। वहाँ उसे हुसैन बेग बदख्शानी मिल गया जिसके साथ तीन हजार सवार थे। वहाँ लूट-पाट से कुछ धन एकत्र करके वह पानीपत पहुँचा जहाँ उसे लाहौर का दीवान अब्दुल रहीम मिला। वह लाहौर से जहाँगीर की सेवा में उपस्थित होने के लिए चला आ रहा था। पर खुसरो ने बीच में ही उसे अपनी ओर मिला लिया और मलिक अनवर की उपाधि देकर अपना वजीर बना लिया। वहाँ से वह लाहौर की ओर चला। रास्ते में तरन-तारन नामक स्थान में वह सिक्खों के गुरु अर्जुनदेव की सेवा में उपस्थित हुआ। अर्जुनदेव ने उसकी दुरवस्था देखकर धन से उसकी सहायता की। जब जहाँगीर को ये सब बातें मालूम हुईं, तब उसने लाहौर की रक्षा करने के लिए दिलावरखाँ को भेजा। वह खुसरो से पहले ही लाहौर जा पहुँचा था और वहाँ उसने खुसरो के मुकाबले के लिए काफी तैयारी भी कर रखी थी। जब खुसरो वहाँ पहुँचा, तब उसे शहर के सब फाटक बन्द मिले। उसने नगर पर घेरा डाला और उसका एक फाटक जलवा भी दिया। पर जब उसने सुना कि जहाँगीर भी बहुत सी सेना लेकर चला आ रहा है और लाहौर के बहुत पास पहुँच गया है, तब उसने वहाँ से काबुल पहुँचने के विचार से उत्तर-पश्चिम की ओर भागना निश्चित किया।

पर खुसरो के भागने से पहले ही जहाँगीर की कुछ सेना आगे बढ़ आई थी। भारोवाल नामक स्थान में खुसरो ने उस सेना के साथ युद्ध भी किया,

पर उसके बहुत से साथी मारे गये और वह बुरी तरह परास्त हुआ। वह अपने जवाहिरात आदि का सन्दूक छोड़ कर और किसी तरह जान बचाकर युद्ध-क्षेत्र से भाग निकला। जब वह काबुल की तरफ जाने के लिए भागा जा रहा था, तब रास्ते में चनाब के पास उसे फिर जहाँगीर के सैनिकों ने आ घेरा। खुसरो एक नाव पर सवार होकर नदी पार करना चाहता था, पर संयोग से वह नाव बालू के चर पर जा चढ़ी और वह गिरिफ्तार करके और बड़ी बड़ी जंजीरों में बाँध कर २७ अप्रैल सन् १६०६ को अपने पिता जहाँगीर की सेवा में उपस्थित किया गया। उस समय खुसरो की आँखों से आँसुओं की धारें बह रही थीं और वह मारे भय के थरथर काँप रहा था। जहाँगीर की आज्ञा से वह कैदखाने में बन्द कर दिया गया और उसके साथियों को बहुत कड़ी सजाएँ दी गईं। बहुत से लोग हाथी के पैरों के नीचे कुचलवा दिये गये। इसके बाद खुसरो को दस वर्ष राजधानी के कैदखाने में बिताने पड़े। पर सन् १६१६ में न जाने क्यों वह आसफखाँ की हिरासत में दे दिया गया। उस हिरासत में भी उसे चार वर्ष बिताने पड़े। इसके बाद सन् १६२० में जहाँगीर ने उसे उसके भाई शाहजादा खुर्रम की हिरासत में दे दिया। खुर्रम और खुसरो में पहले से ही बहुत वैमनस्य चला आता था। खुर्रम की हिरासत में ही मार्च सन् १६२२ में खुसरो की मृत्यु हो गई। कुछ लोगों को सन्देह है कि खुर्रम ने ही गला घोंट कर उसे मार डालने की आज्ञा दी थी। यह भी कहा जाता है कि खुसरो के मरने का जहाँगीर को भी कोई विशेष दुःख नहीं हुआ था; पर खुसरो था बहुत लोकप्रिय, इसलिए इलाहाबाद में बहुत दिनों तक लोग उसकी कब्र पर फूल-माला आदि चढ़ाया करते थे।

सन् १६०६ में खुसरो को जेलखाने भेजने और उसके साथियों को मरवा डालने के बाद जहाँगीर ने गुरु अर्जुनदेव को अपने दरबार में इस बात की कैफियत देने के लिए तलब किया था कि उन्होंने खुसरो की सहायता क्यों की। उनकी कैफियत जहाँगीर के लिए सन्तोषजनक तो हो ही नहीं सकती थी, इसलिए उन पर दो लाख रुपया जुर्माना किया गया और जुर्माना न मिलने पर उनकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गई और उन्हें कैदखाने में बन्द करके बहुत कष्ट से उनके प्राण लिये गये (१६०६)। यहीं से सिक्खों में असन्तोष उत्पन्न हो गया और वे मुग़ल शासन के घोर विद्रोही होने लगे। जहाँगीर की इस भूल का परिणाम मुग़ल साम्राज्य के लिए आगे चलकर बहुत बुरा हुआ।

नूरजहाँ—जहाँगीर के शासन काल की किसी मुख्य घटना का वर्णन तब तक पूरा नहीं कहा जा सकता, जब तक उसके साथ उसकी परम प्रिय पत्नी

नूरजहाँ का भी उल्लेख न हो। नूरजहाँ के साथ जहाँगीर का विवाह मुग़ल इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है और इसके कई कारण हैं। नूरजहाँ इतिहास की उन थोड़ी सी स्त्रियों में है जिन्होंने साम्राज्य का बहुत योग्यतापूर्वक संचालन किया है। वह अपने पति जहाँगीर के रहते हुए भी बहुत दिनों तक सारे साम्राज्य के सभी काम स्वयं करती थी और अपने पति को जिस तरह चाहती थी, उसी तरह चलाती थी। इसका आरम्भिक जीवन भी बहुत कुछ घटनापूर्ण है। यह तेहरान के रहनेवाले मिरजा गयासबेग की लड़की थी। मिरजा अपनी गर्भवती पत्नी के साथ रोजगार की तलाश में भारत की ओर आ रहा था, जब कि रास्ते में कन्धार के पास नूरजहाँ का जन्म हुआ था (१५७७)। गयास बहुत दरिद्र और कष्ट में था, इसलिए मलिक मसऊद नामक एक धनी व्यापारी उसे अपने साथ भारत ले आया और उसने गयास को अकबर के दरबार में एक मामूली नौकरी भी दिलवा दी। गयास ने अपनी योग्यता से अच्छी उन्नति की और सन् १५९५ में वह काबुल का दीवान बना दिया गया। इस बीच में उसकी लड़की मेहरउन्निसा (नूरजहाँ का पहला नाम) भी सयानी हो चली थी और अपनी माता के साथ प्रायः महल में आया जाया करती थी। मेहरउन्निसा का विवाह अली कुली इस्तजलू के साथ कर दिया गया जो इतिहास में शेर अफगन के नाम से प्रसिद्ध है। इसका जन्म भी फारस के एक बहुत ही सामान्य कुल में हुआ था, पर अपनी योग्यता और वीरता आदि के कारण यह बंगाल का सूबेदार हो गया था। पहले यह शाहजादा सलीम के मुसाहिबों और साथियों में था। पर जब सलीम ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह किया, तब और लोगों के साथ इसने भी सलीम का पक्ष छोड़ दिया था। पर सलीम ने बादशाह होने पर और लोगों के साथ इसका अपराध भी क्षमा कर दिया था और फिर से इसे बंगाल का सूबेदार बना दिया था।

बंगाल में उन दिनों फिर से अफगानों के उपद्रव आरम्भ हो गये थे और जहाँगीर को किसी प्रकार यह सन्देह हो गया कि शेर अफगन भी अन्दर अन्दर उन विद्रोहियों के साथ मिला हुआ है। इसलिए उसने कुतुबउद्दीन कोका को शेर अफगन का दमन करने और उसे दरबार में भेजवाने के लिए बंगाल भेजा। वहाँ कुतुबउद्दीन के आदमियों ने शेर अफगन को गिरिफ्तार करना चाहा जिससे कुतुबउद्दीन और शेर अफगन में झगड़ा हो गया और उस झगड़े में वे दोनों ही मारे गये। शेर अफगन की पत्नी मेहरउन्निसा उस समय तक एक बालिका की माँ हो चुकी थी। वह अपनी कन्या के साथ जहाँगीर के

महल में भेज दी गई जहाँ वह जहाँगीर की माता सुलताना सलीमा बेगम के पास रहने लगी। मार्च सन् १६११ में अर्थात् विधवा होने के प्रायः चार वर्ष बाद, एक बार मीना बाजार में वह जहाँगीर के सामने पड़ गई। जहाँगीर उसी समय उसपर पूर्ण रूप से आसक्त हो गया और उसी वर्ष मई में जहाँगीर के साथ विवाह करके वह समस्त भारत की सम्राज्ञी बन गई। साथ ही उसके पिता और भाई को भी उपाधियाँ, जागीरें और पद आदि मिल गए। विवाह हो जाने पर जहाँगीर ने पहले उसका नाम नूरमहल और तब कुछ दिनों बाद नूरजहाँ रखा था।

कुछ इतिहास-लेखकों का मत है कि नूरजहाँ को जहाँगीर ने बचपन में ही अपने महल में देखा था और तभी से वह उस पर आसक्त था। पर अकबर को यह बात पसन्द नहीं आई और इसी लिए उसने उसका विवाह शेर अफगन के साथ करके उसे बंगाल भेज दिया था। साथ ही कुछ लेखकों का यह भी मत है कि जहाँगीर ने नूरजहाँ को ही प्राप्त करने के लिए शेर अफगन को मरवा डाला था। पर इन दोनों बातों के पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते। शेर अफगन की हत्या सम्भवतः तात्कालिक झगड़े के कारण ही हुई थी। पर हाँ, जहाँगीर ने उसकी स्त्री को जो बुलवा कर अपने महल में अपनी माता के पास रखवाया था, उससे अवश्य ही यह सन्देह होता है कि या तो उसने पहले से नूरजहाँ को देखा था और या कम से कम उसके रूप की प्रशंसा सुनी थी। शेर अफगन के मारे जाने के बाद नूरजहाँ के साथ विवाह करने के लिए जहाँगीर को जो चार वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ी थी, उसका कारण कदाचित् यही था कि नूरजहाँ को अपने मृत पति का बहुत अधिक शोक था और इस दुर्घटना से वह बहुत अधिक दुःखी थी। पर चार वर्ष बाद जब उसका दुःख कुछ कम हुआ, तब चारों तरफ से बहुत कुछ दबाव और जोर पड़ने पर अन्त में उसे जहाँगीर की इच्छा पूरी करनी पड़ी थी। और फिर सारे भारत की सम्राज्ञी होने का लोभ भी कुछ कम नहीं था; और विशेषतः ऐसी अवस्था में तो उस लोभ का महत्व और भी बढ़ जाता है जब कि उसमें अनेक ईश्वरदत्त गुण थे और आगे चलकर उसने अपने आप को एक बहुत बड़े साम्राज्य के संचालन के लिए पूर्ण रूप से योग्य सिद्ध कर दिखलाया था। फिर जहाँगीर के साथ विवाह होने के समय नूरजहाँ की अवस्था लगभग ३४ वर्ष की थी और इसलिए यह बात भी कुछ असंगत सी जान पड़ती है कि जहाँगीर उतनी अधिक अवस्थावाली स्त्री को पहले-पहल देखकर उस पर आसक्त हो गया हो और उसने उसके साथ विवाह

करने के लिए विशेष आग्रह किया हो। अतः अधिक सम्भावना इसी बात की जान पड़ती है कि उसने नूरजहाँ को बहुत पहले यौवन काल में ही देखा था; अथवा कम से कम उसके अनुपम सौन्दर्य की प्रशंसा सुन रखी थी। जो हो, पर यह निश्चित है कि विवाह होते ही जहाँगीर राज-काज से बहुत कुछ उदासीन होने लग गया था और साम्राज्य के अधिकांश कार्य नूरजहाँ के ही परामर्श और आज्ञा से होने लग गये थे। प्रवाद है कि जहाँगीर स्वयं प्रायः कहा करता था--"मैंने तो एक प्याले शराब और एक बोटी गोश्त पर सारा साम्राज्य नूरजहाँ के हाथ बेच दिया है।"

नूरजहाँ ने भी इतने बड़े साम्राज्य के कार्यों का संचालन जिस योग्यता से किया, उसकी उपमा इतिहास में मिलना कठिन है। उसे परमात्मा के घर से केवल अनुपम सौन्दर्य ही नहीं मिला था, बल्कि अनेक अनुपम गुण भी मिले थे। पहले शेर अफगन के प्रति और बाद में जहाँगीर के प्रति उसने जो निष्ठा और भक्ति दिखलाई थी, वह बहुत ही प्रशंसनीय है। वह बड़े बड़े गहन राजनीतिक विषयों को बहुत सहज में समझ लेती थी और उनके सम्बन्ध में तत्काल ही उपयुक्त निर्णय भी कर लेती थी। वह कविता भी बहुत अच्छी करती थी और उसने वस्त्रों आदि के सम्बन्ध में अनेक नई नई तर्जें भी निकाली थीं। उसमें शारीरिक बल और साहस की भी कमी नहीं थी और वह अपने पति जहाँगीर के साथ प्रायः शिकार खेलने जाया करती थी। वह बड़े बड़े शेरों और चीतों का शिकार करती थी और विकट युद्धों के समय हाथी पर बैठकर शत्रुओं पर तीरों की वर्षा करती थी। वह बहुत उदार और सहृदय भी थी और विशेषतः दीनों, स्त्रियों और अनाथों आदि पर तो चरम सीमा की दया दिखलाती थी। यही सब बातें थीं जिनसे जहाँगीर पूरी तरह से उसकी मुट्ठी में हो गया था और साम्राज्य के बड़े बड़े अमीर, सरदार और सेनापति सदा उसकी कृपा के अभिलाषी बने रहते थे। यहाँ तक कि सिक्कों पर जहाँगीर के नाम के साथ नूरजहाँ का नाम भी अंकित होने लगा था जो मुगल इतिहास में एक बिलकुल नई और निराली बात थी। तात्पर्य यह कि अपने समय में वही सारे साम्राज्य की कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता बनी रही।

पर साथ ही नूरजहाँ में कुछ स्त्री-सुलभ दुर्बलताएँ भी थीं। वह अपने सम्बन्धियों आदि को प्रायः बड़े बड़े पद दिया करती थी। उसके पिता एत-मादुद्दौला और भाई आसफखाँ को साम्राज्य में बहुत ऊँचे ऊँचे पद मिल गये थे और दरबार में उनका एक बहुत प्रबल दल बन गया था। पहले शेर अफगन से उसे जो कन्या हुई थी और जो बंगाल से उसके साथ आई थी, उसका

विवाह उसने जहाँगीर के सबसे छोटे लड़के शहरयार के साथ कर दिया था और अन्त में उसी को वह साम्राज्य का अधिकारी भी बनाना चाहती थी जिससे अन्तिम दिनों में उसे और जहाँगीर को कई विपत्तियों का भी सामना करना पड़ा था। नूरजहाँ में एक दोष यह भी था कि यदि वह किसी से नाराज हो जाती थी तो उसका बदला भी बहुत बुरी तरह से चुकाती थी।

नूरजहाँ में एक और दोष यह भी था कि वह प्रायः लोगों को सन्देह की दृष्टि से देखती थी और अवसर आने पर बड़े से बड़े राजकर्मचारियों को भी अपमानित करने से न चूकती थी। जहाँगीर के शासन-काल के अन्तिम दिनों में महाबतखाँ ने जो विद्रोह किया था, उसका कारण भी यही था कि नूरजहाँ में अहम्मन्यता की मात्रा बहुत अधिक थी। खुर्रम ने अपने पिता के विरुद्ध जो विद्रोह किया था, उसका कारण भी नूरजहाँ का षडयन्त्र ही था। उसने जहाँ-गीर को इसी लिए बहुत अधिक विलासी बना दिया था कि राज्य-संचालन के समस्त सूत्र मेरे हाथ में आ जायँ। जहाँगीर के शासन काल में मुगल साम्राज्य की कीर्त्ति और वैभव बढ़ानेवाली जो कोई नई बात न हो सकी, उसका बहुत कुछ उत्तरदायित्व नूरजहाँ पर भी है। हाँ उसके शासन काल में दरबार में भी और साम्राज्य के भिन्न भिन्न भागों में भी षडयन्त्रों और कुचक्रों आदि की अवश्य भरमार रहा करती थी।

अहमदनगर से युद्ध (१६१०–१६२०)—अकबर ने अपने शासन काल के अन्त में आसीरगढ़ और अहमदनगर पर अधिकार तो कर लिया था, पर उसी समय सलीम के विद्रोह के कारण उसे वहाँ से हट जाना पड़ा था। और दूसरे वह प्रदेश भी राजधानी से बहुत दूर पड़ता था, इसलिए अकबर मरने से पहले वहाँ की ठीक ठीक व्यवस्था न कर सका था। अकबर की मृत्यु होते ही अहमदनगरवाले फिर से स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगे। उन्हें इस प्रयत्न में मलिक अम्बर नामक एक हब्शी से विशेष सहायता मिली थी। वह अहमदनगर का एक बहुत ही योग्य और चतुर मन्त्री था और दक्षिण में उसने जमीनों के बन्दोबस्त आदि की वैसी ही अच्छी व्यवस्था की थी, जैसी उत्तर में अकबर के समय टोडरमल ने की थी। साथ ही वह युद्ध विद्या में भी बहुत निपुण था और अहमनदगर की प्रजा का भी उस पर विशेष विश्वास था। इन्हीं सब कारणों से वह अहमदनगर में फिर से निजाम शाही शासन स्थापित करने में समर्थ हो सका था। उसने अपनी सैनिक शक्ति की आश्चर्यजनक वृद्धि की और दक्षिण भारत में युद्ध-विद्या का स्वरूप ही बिलकुल बदल दिया था। मराठों को नये ढंग की युद्ध विद्या पहले-पहल उसी ने सिखलाई थी जिसकी

सहायता से आगे चलकर मराठे मुगल साम्राज्य का अन्त कर सके थे। जब शाहजादा खुसरो ने भी विद्रोह कर दिया, तब मलिक अम्बर ने मुगल सेनाओं को मार मार कर भगाना और अपने खोये हुए स्थानों पर फिर से अधिकार करना आरम्भ कर दिया। जहाँगीर ने खानखानाँ को बारह हजार सैनिक देकर उससे युद्ध करने के लिए भेजा; पर उसने अपने मराठे सैनिकों की सहायता से अब्दुलरहीम खानखानाँ को परास्त करके सन् १६१० में फिर से अहमदनगर पर अधिकार कर लिया। इस पर जहाँगीर ने खानजहाँ लोदी को अनेक सुयोग्य सेनापतियों के साथ भेजा। पर मलिक अम्बर के सामने जब इन लोगों का भी कुछ बस न चला, तब वे लोग आपस में ही एक दूसरे को दोषी ठहराने और एक दूसरे की शिकायतें लिखकर बादशाह के पास भेजने लगे। पर जहाँगीर उन दिनों नूरजहाँ के साथ शादी करने के फेर में पड़ा था, इसलिए दक्षिण की कोई विशेष व्यवस्था न हो सकी। खानखानाँ को तो जहाँगीर ने वापस बुला लिया और खानजहाँ को प्रधान सेनापति बना दिया। सन् १६११ में मलिक अम्बर के मराठे सवारों ने खानजहाँ की सेना को बुरी तरह परास्त कर गुजरात की ओर भगा दिया। उस समय जहाँगीर स्वयं दक्षिण जाना चाहता था, पर उसके दरबारियों ने उसे ऐसा न करने दिया। अब अब्दुलरहीम खानखानाँ दोबारा प्रधान सेनापति बनाकर भेजा गया। उसने मलिक अम्बर की सेना को परास्त तो कर दिया, पर उसके शत्रुओं ने फिर भी उसकी शिकायतें लिखकर दरबार में भेजीं जिससे वह फिर वापस बुला लिया गया और उसके स्थान पर शाहजादा खुर्रम प्रधान सेनापति बनाया गया। खुर्रम उसी समय मेवाड़ के राणा पर विजय प्राप्त करके आया था। मार्च सन् १६१७ में खुर्रम ने बुरहानपुर पहुँचकर अहमदनगरवालों से सन्धि कर ली। आदिल शाह ने खुर्रम के पास पहुँचकर उसे बहुत से बहुमूल्य पदार्थ भेंट किये और वह सारा प्रदेश भी लौटा देने का वचन दिया जो मलिक अम्बर ने जीता था। इस पर राजधानी में बहुत आनन्द मनाया गया था, सब सेनापतियों को बहुत सा इनाम-इकराम बाँटा गया था और खुर्रम को "शाहजहाँ" की उपाधि दी गई थी। परन्तु इतना सब कुछ होने पर भी दक्षिण पर मुगल लोग वास्तविक विजय नहीं प्राप्त कर सके थे और दक्षिणवाले बराबर विद्रोह और उत्पात करते रहते थे। इन सब विद्रोहों और उत्पातों का अन्त सन् १६२९ में मलिक अम्बर की मृत्यु के बाद ही हो सका था। यहाँ प्रसंगवश हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि छत्रपति महाराज शिवाजी के पिता शाहजी भी मलिक अम्बर के साथियों और सहायकों में थे।

मेवाड़-विजय—मेवाड़ के सुप्रसिद्ध वीर महाराणा प्रताप का सन् १५९७ में देहान्त हो चुका था और तबसे उनके पुत्र राणा अमरसिंह उदयपुर की गद्दी पर बैठकर जैसे तैसे राज्य करते थे। अकबर ने भी फिर कभी उनके कामों में कोई दखल नहीं दिया था। पर अकबर की मृत्यु के उपरान्त जहाँगीर ने शाहजादा परवेज को मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भेजा था; पर शीघ्र ही दोनों पक्षों में सन्धि हो गई थी। दो वर्ष बाद जहाँगीर ने फिर महाबतखाँ की अधीनता में एक बहुत बड़ी सेना मेवाड़ पर विजय प्राप्त करने के लिए भेजी। राजपूतों ने फिर बहुत वीरतापूर्वक अपने देश की रक्षा की और मुगल सेना को फिर विफल होकर लौटना पड़ा। दूसरे वर्ष अब्दुल्लाखाँ की अधीनता में फिर एक बहुत बड़ी सेना भेजी गई; पर उसे भी सफलता न हुई। तब सन् १६१४ में एक बहुत बड़ी सेना के साथ शाहजादा खुर्रम भेजा गया। मुगल कई बार मेवाड़ में बुरी तरह से परास्त हो चुके थे और इसी लिए बहुत खिजलाये हुए थे। इस बार उन्होंने मेवाड़ को जीतने में अपनी सारी शक्ति लगा दी और देश का बहुत बड़ा अंश बिलकुल उजाड़ डाला। राणा भी उस समय बार बार के आक्रमणों से बहुत दुःखी हो गये थे और देश का अधिकांश शारीरिक बल नष्ट हो चुका था, इसलिए सब लोगों ने राणा को सन्धि कर लेने की सलाह दी। इसलिए उन्होंने भी विवश होकर मुगलों की अधीनता स्वीकृत कर ली। जहाँगीर ने भी राणा को बहुत अधिक दबाना उचित न समझा और चित्तौर का किला उन्हें वापस दे दिया। उनके परिवार की कोई कन्या भी नहीं ली गई और उनके पुत्र पंज-हजारी मन्सबदार बना दिये गये। एक दरबार हुआ जिसमें राणा अमरसिंह और शाहजादा खुर्रम मिले और दोनों ने एक दूसरे को बहुत सी वस्तुएँ भेंट कीं। यहाँ यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है है कि जहाँगीर ने इस अवसर पर उसी उदारता से काम लिया था, जिस उदारता से अकबर ऐसे अवसरों पर काम लिया करता था।

भीषण महामारी या प्लेग—अपने राज्यारोहण के दसवें वर्ष सन् १६१६ में, जब कि जहाँगीर गुजरात से लौट रहा था, तब उसने रास्ते में सुना कि हिन्दुस्तान में एक बहुत बड़ी महामारी फैली है। उस समय के लेखकों ने इस महामारी का नाम "ताऊन" दिया है और यह वही महामारी है जो आजकल प्लेग के नाम से प्रसिद्ध है। जहाँगीर ने स्वयं लिखा है कि इस रोग में बगल के नीचे, जाँघ में या गले के नीचे एक गिल्टी निकल आती है जिससे रोगी मर जाता है। यह महामारी पहले-पहल पंजाब से शुरू होकर दिल्ली और उसके आस-पास के नगरों और गाँवों तक में फैल गई थी।

उस समय भी किसी स्थान पर इस रोग के फैलने से पहले अपनी बिलों में से निकल निकल कर चूहे विकल होकर इधर उधर दौड़ते थे और अन्त में छटपटा कर मर जाते थे। यदि उसी समय लोग घर छोड़ कर भाग नहीं जाते थे तो फिर उनके प्राण भी नहीं बचते थे। कभी कभी तो गाँव के गाँव इस महामारी से उजाड़ हो जाते थे। छूत से भी यह बीमारी बहुत फैलती थी। उस समय के एक इतिहास-लेखक ने लिखा है कि मुसलमानों की अपेक्षा यह रोग हिन्दुओं को ही अधिक होता था। काश्मीर में भी इस रोग ने बहुत लोगों के प्राण लिये थे। सन् १६१८-१९ में यह रोग आगरे में भी फैला था और सैकड़ों आदमी रोज मरते थे। सब मिला कर प्रायः आठ वर्षों तक भारत में इस महामारी का भीषण प्रकोप बना रहा। उस समय के इतिहास-लेखकों का मत है कि ऐसी भीषण महामारी न तो पहले कभी देखी गई थी और न सुनी गई थी।

हॉकिन्स और रो—जहाँगीर के दरबार में दो अँगरेज भी इंग्लैंड के तत्कालीन राजा जेम्स प्रथम का पत्र लेकर आये थे। इन में से पहले का नाम कप्तान हॉकिन्स और दूसरे का नाम सर थामस रो था। कप्तान हॉकिन्स अगस्त सन् १६०८ में सूरत पहुँचा था। उसे पुर्त्तगालियों ने बहुत दिक किया था, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि भारत में अँगरेजों का प्रवेश हो। तो भी उसने किसी प्रकार जहाँगीर के दरबार में पहुँच कर उसे अनेक बहुमूल्य पदार्थ भेंट किये। जेम्स प्रथम ने अपने पत्र में लिखा था कि अँगरेजों को भी भारत में व्यापार करने का अवसर और सुभीता दिया जाय। जहाँगीर ने हॉकिन्स की अच्छी खातिर की और उसकी सब प्रार्थनाएँ भी स्वीकृत कर लीं। पर उन दिनों भारतीय समुद्र-तट पर प्रायः पुर्त्तगालियों की ही व्यवस्था और अधिकार रहता था और मक्के जानेवाले जहाजों की रक्षा आदि के भी वही लोग जिम्मेदार होते थे। इसके सिवा मुगलों के दरबार में पुर्त्तगाली जेसुइट पादरियों की भी खूब चलती थी। इन्हीं सब कारणों से अँगरेज लोग उन व्यापारिक सुभीतों से कोई विशेष लाभ न उठा सके जो उन्हें जहाँगीर की कृपा से प्राप्त हुए थे।

यहाँ हम संक्षेप में यह भी बतला देना चाहते हैं कि भारत में अँगरेजों का आगमन किन परिस्थितियों में हुआ था। पुर्त्तगालवाले भारत के व्यापार से बहुत अधिक लाभ उठा रहे थे और उनकी देखा-देखी युरोप की दूसरी शक्तियाँ भी भारत में व्यापार करना चाहती थीं। पर जब सन् १५८० में स्पेन के राजा फिलिप ने पुर्त्तगाल पर विजय प्राप्त करके उसे अपने राज्य में

मिला लिया, तब पुर्त्तगाल की राजनीतिक और सैनिक शक्ति का एक प्रकार से अन्त हो गया। पर आठ ही वर्ष बाद जब स्पेन ने इंग्लैंड पर चढ़ाई की, तब वहाँ की इंग्लिश चैनेल में उनका सुप्रसिद्ध अजेय और विशाल बेड़ा, जो आरमेडा (Armada) कहलाता था, पूर्ण रूप से नष्ट हो गया और कुछ प्राकृतिक कारणों से अँगरेजों को उन पर पूर्ण विजय प्राप्त हो गई। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कप्तान हॉकिन्स भी उस युद्ध में सम्मिलत था। बस तभी से अँगरेज और डच लोग जगह जगह से पुर्त्तगालियों और स्पेनियों को निकाल कर अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न करने लग गये थे। सन् १६०० में भारत के साथ व्यापार करने के लिए इंग्लैंड में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना हुई थी और तब से सन् १६०८ तक उस कम्पनी ने तीन बार अपने आदमी भारत में भेजे थे। इन्हीं में से तीसरी बार आनेवालों में कप्तान हॉकिन्स भी था। हॉकिन्स तीन वर्ष तक भारत में रहा था और उसने जहाँगीर और उसके शासन आदि के सम्बन्ध में बहुत सी अच्छी और जानने योग्य बातें लिखी थीं।

हॉकिन्स के आने के सात वर्ष बाद सन् १६१५ में इंग्लैंड के राजा के प्रतिनिधि के रूप में थामस रो का भारत में आगमन हुआ था। यह हिन्दुस्तान के बादशाह के साथ व्यापारिक सन्धि करने के लिए आया था। यह बहुत योग्य, चतुर और अनुभवी तथा कार्य-कुशल था। यद्यपि पुर्त्तगालियों ने इसके मार्ग में भी बहुत सी अडचनें खड़ी की थीं, तो भी इसने बहुत कुछ प्रयत्न करके और शाहजादा खुर्रम, नूरजहाँ तथा आसफखाँ आदि को अपनी ओर मिला कर अँगरेजों के लिए बहुत कुछ सुभीते प्राप्त कर ही लिये थे। शाहजादा खुर्रम ने तो उसे यहाँ तक वचन दिया था कि जब गुजरात का सूबा मेरे हाथ में आवेगा, तब मैं सूरत नगर अँगरेजों को ही दे दूँगा। तो भी सन्धि का जो मसौदा रो ने पहले पेश किया था, वह पुर्त्तगालियों के प्रभाव के कारण ना-मंजूर कर दिया गया था। पर पीछे से उसकी कई बातें मंजूर कर ली गईं और अँगरेजों को स्वतन्त्रतापूर्वक सब जगह व्यापार करने की आज्ञा मिल गई। इस सम्बन्ध में जहाँगीर ने जो फरमान निकाला था, उसी से मानों पहले-पहल भारत के साथ अँगरेजों का सम्बन्ध दृढतापूर्वक स्थापित हुआ था। सर थामस रो ने भी जहाँगीर के दरबार और दरबारियों आदि का बहुत अच्छा वर्णन लिखा है जिससे उस समय की बहुत सी बातों का पता चलता है। रो के साथ एडवर्ड टेरी नाम का एक पादरी भी भारत आया था। उसने भी उस समय के भारत की

सामाजिक अवस्था और शासन प्रणाली का बहुत अच्छा वर्णन किया है।

बंगाल में पठानों का विद्रोह—यद्यपि अकबर ने सन् १५७५ में ही दाऊद को परास्त करके बंगाल का सूबा अपने साम्राज्य में मिला लिया था, पर फिर भी अभी तक अफगानों या पठानों की शक्ति पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुई थी। उनके उस्मान नामक एक नेता ने सन् १५९९ में अकबर के विरुद्ध विद्रोह किया था जिसका दमन राजा मानसिंह ने किया था। जब जहाँगीर ने इस्लामखाँ को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया, तब उस्मान ने फिर बंगाल के बहुत से पठानों और जमींदारों को अपने साथ मिला कर विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। पहले ही दिन जहाँगीर के सैनिकों के साथ उसका भीषण युद्ध हुआ। उस युद्ध में उस्मान के सिर में बहुत गहरा और भारी घाव लगा था। पर उसमें शारीरिक शक्ति इतनी अधिक थी कि उस दशा में भी वह अपनी सेना का भली भाँति संचालन करता रहा। पर अन्त में पठान हार कर भाग गये और उस्मान की भी मृत्यु हो गई। जहाँगीर को इस विजय का समाचार १ अप्रैल सन् १६१२ को मिला था। उसने अपने सैनिक पदाधिकारियों को बड़े बड़े पुरस्कार देकर उत्साहित किया और साथ ही पठानों पर भी इतनी कृपा दिखलाई कि सरकारी नौकरियों का द्वार उनके लिए भी खोल दिया। तभी से पठान लोग भी मुगलों की सेवा करने लगे और उनके मन से विद्रोह का भाव निकल गया।

काँगड़ा-विजय—जहाँगीर ने अपने शासन-काल में सब से अधिक महत्वपूर्ण विजय नवम्बर सन् १६२० में काँगड़े के किले पर प्राप्त की थी। यह किला एक बहुत ऊँची पहाड़ी पर बना था और स्वयं प्रकृति ने ही इस-की रक्षा की अनेक योजनाएँ कर रखी थीं। इसके चारों ओर और भी कई छोटे छोटे गढ़ थे जो पहाड़ी राजाओं के अधिकार में थे। ज्वालामुखी का सुप्रसिद्ध मन्दिर भी इसी के पास था। यद्यपि एक बार सन् १००९ में महमूद गजनवी इस मन्दिर और प्रान्त को अच्छी तरह लूट चुका था, पर उसके बाद ही पहाड़ी राजाओं ने फिर वहाँ अपना अधिकार जमा लिया था। फीरोज तुगलक ने भी काँगड़े पर आक्रमण किया था, पर उसे सफलता नहीं हुई थी। अकबर भी बहुत दिनों तक घेरा डाले रहने के उपरान्त विफल-मनोरथ हो चुका था। जहाँगीर ने पंजाब के सूबेदार मुर्त्तजाखाँ को इस पर अधिकार करने की आज्ञा दी थी। पर वह भी इस किले पर अधिकार न कर सका और अन्त में उसकी मृत्यु भी हो गई। तब जहाँगीर ने शाहजहाँ को बहुत बड़ी सेना देकर इस किले पर आक्रमण करने के लिए

भेजा। वह प्रायः चौदह महीनों तक किले के चारों ओर घेरा डाले पड़ा रहा जिससे किले के अन्दर की रसद बिलकुल खतम हो गई। तब किलेवालों ने लाचार होकर वह किला मुगलों को सपुर्द कर दिया।

कन्धार का पतन—यद्यपि कन्धार को बाबर ने ही जीत लिया था और पीछे से वह बहुत दिनों तक हुमायूँ के अधिकार में भी रहा था, पर फारस के बादशाह उस पर अपना पैतृक और स्वाभाविक अधिकार समझते थे। कन्धार का महत्व इसलिए भी अधिक था कि भारत और फारस का सारा व्यापार कन्धार के ही मार्ग से होता था। इसलिए हुमायूँ के मरने पर सन् १५५८ में फारस के शाह ने फिर उस पर अधिकार कर लिया था। पर बाद में वह प्रदेश फिर अकबर के हाथ में आ गया था और उसके जीवन-काल में उसी के हाथ में रहा। जब अकबर की मृत्यु हो गई और खुसरो ने भारत में विद्रोह किया, तब फारस के तत्कालीन बादशाह शाह अब्बास ने, जो अपने समय के बहुत बड़े बादशाहों में गिना जाता है, बहुत बड़ी सेना भेज कर कन्धार पर आक्रमण किया। वहाँवालों ने शाह अब्बास की सेना का बहुत वीरतापूर्वक सामना किया। जब जहाँगीर को यह समाचार मिला, तब उसने भारत से एक बड़ी सेना उस प्रदेश की रक्षा के लिए भेजी। इससे डर कर फारसवालों ने नगर पर से घेरा उठा लिया। इसके बाद शाह अब्बास ने अपने कुछ राजदूत मुगल दरबार में भेज कर मेल-मिलाप करना चाहा। इसलिए जहाँगीर ने भी कन्धार की रक्षा की ओर विशेष ध्यान देना छोड़ दिया। सन् १६२२ में शाह अब्बास ने फिर कन्धार के किले पर घेरा डाला। जहाँगीर उस समय नूरजहाँ के साथ काश्मीर में था। उसने तुरन्त वहाँ से आ कर कन्धार भेजने के लिए एक बहुत बड़ी फौज तैयार कराई। वह शाहजहान को उस सेना का सेनापति बना कर भेजना चाहता था, पर शाहजहान ने यह सोच कर वहाँ जाने से इन्कार कर दिया कि कहीं मेरे भारत से हट जाने पर नूरजहाँ कोई नया षडयन्त्र न रचे और मुझे सिंहासन से वंचित करके शहरयार को साम्राज्य का उत्तराधिकारी न बना दे। नूरजहाँ ने इस बात से भी लाभ उठाया और अपने पति के मन में यह बात अच्छी तरह बैठा दी कि शाहजहाँ विद्रोही है और कोई भारी छल करना चाहता है। तुरन्त शाहजहाँ के पास, जो उस समय दक्षिण में था, आज्ञा भेजी गई कि तुम सारी सेना और सब सेनापतियों आदि को दरबार में भेज दो। पर शाहजहाँ ने इस आज्ञा का पालन नहीं किया। इस बीच में एक और घटना हो गई जिससे शाहजहाँ और भी

चौकन्ना हो गया। वह बहुत दिनों से धौलपुर की जागीर लेना चाहता था, पर नूरजहाँ ने वह जागीर शहरयार को दिलवा दी और उसका मन्सब बढ़वाकर कन्धार जानेवाली सेना का सेनापति भी उसी को बनवा दिया। जब शाहजहाँ ने यह रुख देखा, तब उसने जहाँगीर को प्रसन्न करने के उपाय आरम्भ किये, पर उनका कोई फल न हुआ। तब शाहजहाँ ने खुले आम विद्रोह खड़ा कर दिया। इसी बीच में उधर कन्धार पर फारसवालों का अधिकार हो गया। जब यह समाचार पाकर जहाँगीर सेना भेजने में और भी जल्दी करने लगा, तब उसे समाचार मिला कि शाहजहाँ ने विद्रोह कर दिया है।

शाहजहाँ का विद्रोह—शाहजहाँ यह बात बहुत अच्छी तरह जानता था कि नूरजहाँ की शक्ति बहुत अधिक है और वह शहरयार को बादशाह बनाने के लिए अपनी ओर से कोई बात उठा नहीं रखेगी। इसलिए वह अपने पिता जहाँगीर के साथ, बल्कि यों कहना चाहिए कि विमाता नूरजहाँ के साथ, लड़ने की पूरी तैयारी करने लगा। उसके अनुयायियों की संख्या भी कम नहीं थी। वह एक बड़ी सेना लेकर जनवरी १६२३ में उत्तर की ओर बढ़ा। दिल्ली के दक्षिण में बलोचपुर नामक स्थान में साम्राज्य की सेना के साथ उसका मुकाबला हुआ जिसमें उसकी बुरी तरह से हार हुई। जब वह वहाँ से हटा, तब साम्राज्य के सेनापतियों ने फिर उसका पीछा किया और महाबतखाँ ने कई स्थानों पर लड़कर उसे हराया। उस ओर साम्राज्य की सारी शक्ति लगी हुई थी और उसका मुकाबला करना आसान नहीं था। पर फिर भी मामला कुछ संगीन होता जा रहा था, इसलिए जहाँगीर युद्ध की व्यवस्था करने के लिए स्वयं अजमेर जा पहुँचा। अब शाहजहाँ मालवे के रास्ते दक्षिण की ओर बढ़ने लगा। उसे गुजरात के सूबेदार से सहायता मिलने की आशा थी, पर वहाँ से भी उसे कोई सहायता न मिली। उधर शाहजादा परवेज के साथ महाबतखाँ उसका पीछा करता हुआ चला आता था। शाहजहाँ ने आसीरगढ़ के किले पर तो अधिकार कर लिया था, पर वहाँ उसके बहुत से सैनिकों ने उसका साथ छोड़ दिया। तब वह गोलकुंडा चला गया। पर वहाँ के सुलतान ने भी उसे कोई सहायता न दी। तब वह तिलंगाना से होता हुआ समुद्र के किनारे किनारे पहले उड़ीसा और तब वहाँ से बंगाल जा पहुँचा (सन् १६२४)। बंगालवालों ने अवश्य शाहजहाँ को अच्छी सहायता दी जिससे सारे बंगाल और बिहार पर उसका अधिकार हो गया। वहाँ से उसने आगे बढ़कर अवध और इलाहाबाद पर भी अधिकार करना चाहा। पर शाहजादा परवेज और महाबतखाँ बुरहानपुर से उसका पीछा करना छोड़कर सीधे इलाहाबाद चले

आये थे। इलाहाबाद में युद्ध होने पर शाहजहाँ फिर पूर्ण रूप से परास्त हुआ और दोबारा दक्षिण की ओर भागा। इस बार मलिक अम्बर ने शाहजहाँ की अच्छी खातिर की और मुग़ल साम्राज्य का मुकाबला करने के लिए उसके साथ मेल कर लिया। शाहजहान ने बुरहानपुर पर घेरा डाला था, पर महाबतखाँ के आते ही उसे फिर वहाँ से भागना पड़ा। अब तक सेनापति अब्दुल्लाखाँ से ही शाहजहाँ को सबसे अधिक सहायता मिलती थी, पर जब अब्दुल्लाखाँ संसार से विरक्त हो गया, तब वह बहुत दुःखी हुआ। उसने लाचार होकर अपने पिता को एक पत्र लिखा जिसमें उससे क्षमा माँगी और अपने दुष्कृत्यों पर खेद प्रकट किया। इधर शाहजहाँ का पीछा करते समय शाहजादा परवेज के साथ महाबतखाँ की घनिष्ठता बहुत बढ़ गई थी और साथ ही साम्राज्य में उसका प्रभाव भी बहुत बढ़ता जा रहा था; और नूरजहाँ को यह बात पसन्द न थी, इसलिए मार्च सन् १६२६ में उसने पिता-पुत्र में मेल हो जाने दिया। जहाँगीर ने उसे लिखा कि रोहतास और आसीरगढ़ के किलों पर से अपना अधिकार हटा लो और अपने दो पुत्रों दारा और औरंगजेब को (जिनकी अवस्था उस समय क्रमशः दस और आठ वर्ष की थी) ओल में रखने के लिए दरबार में भेज दो। शाह-जहाँ ने तुरन्त इस आज्ञा का पालन किया और आप अपनी स्त्री तथा सबसे छोटे बच्चे मुराद के साथ नासिक चला गया।

महाबतखाँ का जहाँगीर को गिरिफ्तार करना—हम ऊपर कह आये हैं कि महाबतखाँ का प्रभुत्व और प्रभाव बहुत बढ़ता जा रहा था और नूरजहाँ, जो अपने दामाद शहरयार को बादशाह बनाना चाहती थी, उससे बहुत जलती थी। जब खुसरो की मृत्यु हो गई और शाहजहाँ एक प्रकार से अपमानित तथा दीन हो चुका, तब उसने सोचा कि अब महाबतखाँ को किसी तरह दबाना और नीचा दिखाना चाहिए जिसमें वह परवेज को बादशाह न बना सके। महाबतखाँ बहुत उच्च कोटि का सेनापति भी था और कूटनीतिज्ञ भी। उधर बादशाह बहुत अधिक शराब पीने के कारण बहुत दुर्बल हो गया था और प्रायः बीमार रहा करता था। नूरजहाँ ने महाबतखाँ के पास आज्ञा भेजवा दी कि अपनी सारी सेना को छोड़कर बंगाल चले जाओ और वहाँ की सूबेदारी करो। पर शाहजादा परवेज उसे जाने नहीं देता था। तब सन् १६२६ के आरम्भ में उसके पास यह आज्ञा भेजी गई कि शाहजादा परवेज को बुर-हानपुर में ही छोड़कर यहाँ आओ और दरबार में हाजिर हो। साथ ही उस पर कई प्रकार के अभियोग भी लगाये गये थे और उससे कई तरह के हिसाब भी माँगे गये थे। महाबतखाँ ने समझ लिया कि दरबार में पहुँचने पर मेरे साथ

कुछ न कुछ कपट अवश्य किया जायगा; इसलिए वह अपने साथ अपने पाँच हजार वीर और विश्वसनीय राजपूत सैनिकों को लेकर दरबार की तरफ चल पड़ा।

जहाँगीर उस समय लाहौर से काबुल जाने के लिए निकला था और झेलम के किनारे उसका पड़ाव पड़ा हुआ था। अधिकांश बादशाही सेना नदी के उस पार जा चुकी थी। महाबतखाँ ने अच्छा अवसर देखकर शाही खेमों को चारों ओर से घेर लिया और जहाँगीर को वन्दी बना लिया। वह नूरजहाँ को भी गिरिफ्तार करना चाहता था, पर वह भेस बदल कर किसी प्रकार पुल के उस पार जा पहुँची। वहाँ उसने अपने भाई आसफखाँ को उसकी लापरवाही के लिए बहुत फटकारा और फिर इस पार पहुँच कर और महाबतखाँ से लड़कर अपने पति को छुड़ाने का विचार किया। पर जहाँगीर ने गुप्त रूप से उसके पास आदमी भेजकर उसे ऐसा करने से मना किया, क्योंकि वह जानता था कि एक तो इन राजपूतों से इस समय लड़कर जीतना कठिन है; और दूसरे यदि दोनों दलों में लड़ाई छिड़ी तो फिर मेरी जान की खैरियत नहीं। पर नूरजहाँ और उसके परामर्शदाताओं को यह बात नहीं जँची। दूसरे दिन नूरजहाँ लड़ाई की पूरी तैयारी करके और स्वयं अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर हाथी पर नदी पार करने के लिए निकली। इस प्रयत्न में उसके कुछ साथी नदी में डूब भी गये। तिस पर उस पार से राजपूत लोग बराबर तीरों की वर्षा कर रहे थे, इससे शाही सैनिक तितर-बितर होकर भाग खड़े हुए। यहाँ तक कि आसफखाँ भी तीन हजार सैनिकों को साथ लेकर अटक के किले में जा छिपा। यद्यपि नूरजहाँ ने उस समय उच्च कोटि की और पुरुषोचित वीरता का परिचय दिया था, तो भी अन्त में उसे विवश होकर महाबतखाँ के हाथ आत्म-समर्पण करना पड़ा। निश्चित हुआ कि वह भी अपने पति के साथ कैद होकर काबुल जायगी। आसफखाँ पर चढ़ाई करने के लिए भी एक सेना भेजी गई और आसफखाँ ने आत्म-समर्पण कर दिया। इस प्रकार कुछ समय के लिए सारे साम्राज्य में महाबतखाँ का मुकाबला करनेवाला कोई न रह गया था। पर महाबतखाँ की कैद में रहकर भी नूरजहाँ बराबर स्वयं अपने आपको और अपने पति को छुड़ाने के उपाय सोचती और करती रहती थी। इस प्रकार वे दोनों प्रायः एक सौ दिनों तक महाबतखाँ की कैद में रहे। पर इस बीच में अवसर पाकर कुछ शाही सेनाओं ने महाबतखाँ पर आक्रमण करके उसका वह सारा खजाना लूट लिया जो वह बंगाल से लाया था और जिसके भरोसे वह इतना बड़ा साहस का काम कर बैठा था। इसलिए उसे लाचार होकर दक्षिण की ओर भागना पड़ा।

उसके दक्षिण जाने का एक कारण यह भी था कि उसने सुना था कि शाहजहाँ ने परवेज को बहुत घातक विष दिलवा दिया है। वहाँ पहुँच कर उसने शाहजहाँ से मेल कर लिया।

जहाँगीर की मृत्यु—जहाँगीर का स्वास्थ्य बहुत दिनों से खराब था, इसलिए वह नूरजहाँ के साथ काश्मीर चला गया था। वहाँ से मार्च सन् १६२७ में वह लौट रहा था और बैरमकाला (आज कल का बहरमगुला) नामक स्थान में शिकार खेलने के लिए ठहर गया था। वहीं एक पैदल सिपाही की मृत्यु देखकर वह बहुत घबरा गया और उसके मन में यह बात समा गई कि मुझे लेने के लिए भी मौत का फरिश्ता आ पहुँचा है। बस तभी से उसकी तबीयत और भी ज्यादा खराब होने लगी और किसी प्रकार की चिकित्सा से कोई फल न हुआ। अन्त में भिम्भर के पास चंगेज हटली नामक स्थान पर २८ अक्तूबर सन् १६२७ को उसका देहान्त हो गया। उसकी लाश लाहौर लाई गई और शहर के बाहर उस मकबरे में गाड़ दी गई जो उसने अपने जीवन-काल में ही स्वयं अपने लिए बनवाया था।

उत्तराधिकार के लिए झगड़ा—जहाँगीर के मरने पर यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि साम्राज्य का उत्तराधिकारी कौन हो। जहाँगीर के कुल चार लड़के थे। सबसे बड़ा खुसरो था जो बहुत दिनों तक कैद में रहने के बाद सन् १६२१ में शाहजहान की आज्ञा से गला घोंटकर मार डाला गया था। दूसरा लड़का शाहजादा परवेज था जो जहाँगीर की मृत्यु से साल भर पहले ही मर चुका था। तीसरा लड़का खुर्रम या शाहजहान और चौथा शहरयार था; और यही दोनों उस समय जीवित थे। दोनों में शाहजहान ही बड़ा था और वस्तुतः वही उत्तराधिकारी होता था; पर नूरजहाँ चाहती थी कि सिंहासन शहरयार को मिले, क्योंकि उसी के साथ उसने अपनी उस कन्या का विवाह किया था जो उसके पहले पति शेर अफगन से उत्पन्न हुई थी। पर नूरजहाँ का भाई आसफखाँ चाहता था कि शाहजहान हो बादशाह हो; और इसका कारण यह था कि उसकी कन्या मुमताज महल शाहजहाँ को ब्याही थी। शहरयार उस समय आगरे में था और शाहजहाँ दक्षिण में। आसफखाँ ऊपर से तो अपनी बहन नूरजहाँ के मत का ही समर्थन करता था; पर अन्दर अन्दर शाहजहाँ को बादशाह बनाने का प्रयत्न कर रहा था। उसने तुरन्त गुप्त रूप से शाहजहाँ के पास जहाँगीर के मरने का समाचार भेज दिया, और इस बीच में समय बिताने के लिए खुसरो के लड़के दिलावर बख्श को कैदखाने से निकालकर उसके सम्राट् होने की घोषणा कर दी। इसके बाद जहाँगीर की अन्त्येष्टि क्रिया

हुई और वह लाहौर के पास शाहदरे में दिलकुशा बाग में गाड़ा गया। शहरयार को उसकी पत्नी ने परामर्श दिया कि तुम चटपट लाहौर पहुँच कर शाही खजाने पर कब्जा कर लो और अपने सम्राट् होने की वहीं घोषणा कर दो। पर आसफखाँ ने उससे पहले ही लाहौर पहुँच कर सब तैयारियाँ कर लीं और शहरयार को आते ही गिरिफ्तार करके कैदखाने में बन्द करके अन्धा करवा दिया। कुछ और शाहजादे भी थे जो बादशाह होने का दावा कर सकते थें; पर उन सब को भी आसफखाँ ने शाहजहाँ की आज्ञा से मरवा डाला। २४ जनवरी सन् १६२८ को शाहजहाँ ने आगरे में राजसी ठाठ से प्रवेश किया और सब लोगों को बहुत सा धन बाँट कर अपनी ओर मिला लिया और थोड़े ही दिनों बाद वह नियमानुसार सिंहासन पर आसीन हुआ। आसफखाँ को उसने बहुत सा पुरस्कार देकर उसका मन्सब बढ़ाया और उसे यमीनउद्दौला की उपाधि प्रदान की।

शहरयार की आँखें फोड़ डाली गई थीं, और बाद में वह मार भी डाला गया था, इसलिए अब नूरजहाँ निराश होकर चुपचाप बैठ गई। शाहजहाँ ने भी उसके लिए दो लाख रुपए सालाना भत्ता मुकर्रर कर दिया। उसने समस्त भोग-विलास और सुखों का परित्याग कर दिया और लाहौर में बहुत सीधी-सादी तरह से अपने पति के शोक में रहने लगी। अन्त में ८ दिसम्बर १६४५ को उसकी मृत्यु हो गई और वह भी अपने पति की कब्र के पास शाहदरेवाले मकबरे में गाड़ दी गई।

जहाँगीर का व्यक्तित्व—जहाँगीर अवश्य ही बहुत योग्य, चतुर, वीर और कार्य-कुशल था; पर कुछ तो शराब ने उसे खराब कर दिया था और कुछ नूरजहाँ ने उसे पूर्ण रूप से अपने वश में कर लिया था, इसलिए अन्तिम दिनों में वह एक प्रकार से असमर्थ सा हो गया था। वह बहुत ही दृढ़-निश्चयी था और प्रायः सब बातों का निर्णय आप ही करता था। मन्त्रियों आदि के परामर्श की वह कभी परवाह नहीं करता था। वह बहुत बड़ा न्यायप्रिय था और अत्याचारी राजकर्मचारियों को कठोर दंड देता था। उसके समय में साम्राज्य के सभी भागों में न्याय और व्यवस्था में कभी कमी नहीं होने पाती थी। पर वह क्रोधी भी था और कभी कभी लोगों को सामान्य अपराध के लिए भी कठोर दंड दे बैठता था। वह बहुत बड़ा उदार और दानी भी था और दिल खोल कर लोगों को इनाम बाँटता था। साधु-महात्माओं के प्रति उसमें श्रद्धा और भक्ति भी थी। उज्जैन में जदुरूप नामक एक हिन्दू साधु रहता था जिसके पास जहाँगीर प्रायः जाया

करता था। यद्यपि उसने अपने पिता के समय कई बार विद्रोह किया था, पर फिर भी वह अपने पिता का बहुत भक्त था और हृदय से उसका सम्मान करता था। वह फारसी का अच्छा ज्ञाता था और हिन्दी के कवियों का विशेष आदर करता था। वह प्राकृतिक सौन्दर्य का बहुत बड़ा प्रेमी था और पशु-पक्षियों आदि की प्रकृति का बहुत सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करता था। काश्मीर के पशु-पक्षियों का उसने जो वर्णन किया है, वह आश्चर्यजनक है। वास्तु और चित्र कला का भी वह बहुत अच्छा पारखी था। वह यद्यपि नमाज पढ़ता था, पर उसका कोई निश्चित धार्मिक मत नहीं था। वेदान्त की बातें वह बहुत ध्यान से सुनता था और ईसाई धर्म का भी अच्छा आदर करता था। भारतवर्ष और यहाँ की वस्तुओं के प्रति उसका प्रेम अगाध था।

सातवाँ अध्याय

शाहजहाँ

ताजमहल का निर्माता

(सन् १६२८—१६५६)

आरम्भिक जीवन—जैसा कि हम पिछले अध्याय में बतला चुके हैं, शाहजहाँ अपने पिता जहाँगीर का तीसरा पुत्र था और उसका जन्म सन् १५९२ में अकबर के जीवन-काल में ही एक राजपूत राजकुमारी के गर्भ से, जिसका नाम जगत गोसाईं था, हुआ था। अकबर ने ही इसका नाम खुर्रम रखा था और वह इसे बहुत प्यार भी करता था और जहाँगीर के और लड़कों से अधिक योग्य और चतुर समझता था। बाल्यावस्था में इसे बहुत अच्छी शिक्षा मिली थी और यह सदाचारी भी था। इसके बड़े भाई तो छोटी अवस्था से ही शराब पीने लग गये थे, पर यह बहुत दिनों तक शराब से बचा रहा। जहाँगीर भी इसके गुणों को देखकर इसी को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था और इसी लिए उसने अपने राज्यारोहण के पाँच छः वर्ष के अन्दर ही इसे दस हजार जात और पाँच हजार सवार का मन्सब प्रदान किया था। अप्रैल सन् १६१२ में इसका विवाह आसफखाँ की कन्या अर्जमन्द-बानो से हुआ था जो आगे चलकर मुमताज महल के नाम से प्रसिद्ध हुई और जिसके लिए इसने सुप्रसिद्ध ताज महल बनवाया जिसकी गणना संसार के सात अद्भुत और आश्चर्यजनक पदार्थों में होती है। अपने पिता के जीवन-काल में ही इसने कई युद्धों में अच्छी वीरता का परिचय दिया था और इसी लिए उसने इसे शाहजहाँ की उपाधि प्रदान की थी। दरबार में और सब लोग तो खड़े रहते थे, पर इसे जहाँगीर के सिंहासन के पास बैठने के लिए कुरसी भी मिलने लगी थी। पहले तो कुछ दिनों तक नूरजहाँ भी इस पर कृपा रखती थी और इसे अपनी ओर मिलाये रखती थी, पर आगे चल कर वह अपने दामाद को ही बादशाह बनाने के लिए गुप्त रूप से प्रयत्न करने लगी थी। नूरजहाँ ने ही इसकी शिकायतें कर करके जहाँगीर का मन इसकी तरफ से फेर दिया था। और इसी लिए इसे दुःखी होकर अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करना पड़ा था। यदि नूरजहाँ के षड्यन्त्र न होते तो बहुत

सम्भव था कि यह अपने पिता का अन्तिम समय तक पूरा भक्त और निष्ठ पुत्र बना रहता। इसके विद्रोहों आदि का पूरा वर्णन पिछले अध्याय में हो चुका है। जहाँगीर के मरने पर किन परिस्थितियों में इसने राज्यारोहण किया था, यह भी पिछले अध्याय में बतलाया जा चुका है; इसलिए इन सब बातों को फिर से यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

राज्यारोहण और आरम्भिक कार्य—शाहजहाँ ६ फरवरी सन् १६२८ को आगरे में सिंहासन पर बैठा था। उस समय इसने अपना नाम रखा था— अब्दुल मुजफ्फर शहाबुद्दीन मुहम्मद साहबे किराँ द्वितीय शाहजहाँ बादशाह गाजी। इसके आगरे पहुँचने तक के लिए जिस दावरबख्श को आसफखाँ ने दिखावे के लिए बादशाह बना दिया था, वह चुपचाप सिंहासन पर से हटा दिया गया और इसने सिंहासन पर बैठकर अपने नाम का खुतबा पढ़वाया और सिक्के बनवाये। नूरजहाँ के नाम के जितने सिक्के थे, वे सब खजाने में मँगवा लिये गये। इसके बाद इसने आज्ञा दी कि राजकीय कार्यों में केवल चान्द्र मास और हिजरी सन् का व्यवहार किया जाय, क्योंकि सौर मास और किसी दूसरे सन् का प्रयोग कुछ मुल्लाओं के मत से धर्म-विरुद्ध था। दरबार के अदब-कायदों में भी कुछ सुधार किये। आगरे का नाम इसने अपने दादा अकबर के नाम पर अकबराबाद रखा और प्रान्तों के शासन और व्यवस्था के सम्बन्ध में भी कुछ सुधार किये। अकबर और जहाँगीर के समय दरबार में इस्लाम धर्म का विशेष आदर नहीं होता था। पर इसने आरम्भ में कई ऐसे काम किये जिनसे कट्टर मुसलमान बहुत प्रसन्न हुए। इसके सिवा अमीरों और दरबारियों आदि को और यहाँ तक कि अपने पुराने विरोधियों और शत्रुओं आदि को भी यथेष्ट पुरस्कार और अच्छे अच्छे पद देकर इसने भली भाँति सन्तुष्ट कर लिया और अपनी ओर मिला लिया।

बुँदेलों का विद्रोह—शाहजहाँ के तख्त पर बैठने के कुछ ही दिनों बाद (उसी वर्ष सन् १६२८ में) बुन्देले राजपूतों ने बुन्देलखंड में विद्रोह खड़ा कर दिया। जबसे जहाँगीर के इशारे पर सुप्रसिद्ध राजा वीरसिंह देव ने अब्बुलफजल की हत्या की थी, तभी से बुन्देलों का महत्व बढ़ने लग गया था। जहाँगीर ने भी तख्त पर बैठने पर बुन्देलों को बहुत सी जागीरें दी थीं और उनका मान बढ़ाया था। जहाँगीर के अन्तिम दिनों में साम्राज्य का शासन और व्यवस्था कुछ ढीली पड़ गई थी और मुसलमानों के विरुद्ध प्रतिक्रिया का क्रम भी चला चलता था; इसलिए बुन्देलों ने धीरे धीरे बुन्देलखंड में अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली। सन् १६२७ में राजा वीरसिंह

देव की मृत्यु होने पर उनका पुत्र जुझारसिंह बिना शाहजहाँ की आज्ञा लिये ही राजधानी से अपने घर बुन्देलखंड चला गया। शायद उसके मन में शाहजहाँ की ओर से कुछ भय उत्पन्न हुआ था। एक तो बुन्देलखंड यों ही पहाड़ी देश है, और प्रकृति देवी ने उसे चारों ओर से यथेष्ट रूप से रक्षित कर रखा है। दूसरे वहाँ धन-धान्य आदि की भी प्रचुरता थी और तीसरे बुन्देले राजपूत होते भी बहुत वीर और योद्धा थे। इसलिए जुझारसिंह को बहुत अच्छा अवसर मिल गया था। वह आगरे से चलकर चुपचाप ओड़छा जा पहुँचा और वहाँ विद्रोह की तैयारी करने लगा। इस पर शाहजहाँ ने उस पर तीन ओर से चढ़ाई करने की आज्ञा दी। उत्तर की ओर से महाबत खाँ, पश्चिम में मालवे की ओर से खानजहाँ और पूरब में कन्नौज की ओर से फीरोजजंग बुन्देलखंड पर चढ़ाई करने चला। इन सब सेनापतियों के पास कुल मिला कर प्रायः ३५ हजार सवार और पैदल थे। यद्यपि जुझारसिंह ने भी अपनी शक्ति बहुत कुछ बढ़ा ली थी, पर उसे स्वप्न में भी यह अनुमान नहीं हुआ था कि मुझ पर आक्रमण करने के लिए तीन ओर से इतनी बड़ी बड़ी सेनाएँ आवेंगी। युद्ध में उसके कई हजार आदमी मारे गये और उसके किले पर शाही सैनिकों का अधिकार हो गया। वह अधीनता स्वीकृत करके फिर बादशाह की सेवा में उपस्थित हुआ। उस पर १५ लाख रुपया जुरमाना किया गया और केवल थोड़ी सी जागीर उसके पास रहने दी गई। इस प्रकार बुन्देलों के पहले विद्रोह का अन्त हुआ। पर कुछ ही दिनों बाद जुझारसिंह फिर विद्रोही हो गया और उसने दोबारा विद्रोह किया। इस विद्रोह का कारण यह हुआ कि जुझारसिंह ने चौरागढ़ के राजा को मार कर उसके बहुत बड़े खजाने पर अधिकार कर लिया था। जब निहत राजा के लड़के देवीसिंह ने शाहजहाँ से इस बात की शिकायत की, तब शाहजहाँ ने जुझारसिंह को दंड देने के बदले उससे लूट का हिस्सा माँगा। जुझारसिंह के देने से इन्कार करने पर शाहजहाँ ने तीन बड़ी बड़ी सेनाएँ फिर बुन्देलखंड पर आक्रमण करने के लिए भेजीं। जुझारसिंह अपने लड़के विक्रमाजीत के सहित जंगल में भाग गया। वहाँ गोंडों ने उन दोनों को मार डाला और उनके सिर काटकर शाहजहाँ के दरबार में भेज दिये गये (दिसम्बर १६३५)। कई बुन्देले राज-परिवारों की स्त्रियाँ पकड़ कर शाही हरम में भेज दी गई और ओडछा का सुप्रसिद्ध मन्दिर तोड़कर वहाँ मसजिद बनाई गई; और जुझार का खजाना जब्त कर लिया गया। देवीसिंह ने मुग़लों को सहायता दी थी, इसलिए वह ओड़छा का राजा बना दिया गया। फिर महेबा के राजा चम्पत राय ने

और उसके बाद उनके पुत्र सुप्रसिद्ध छत्रसाल ने बहुत दिनों तक स्वतन्त्रता का युद्ध जारी रखा और बुन्देलखंड में मुग़लों को बहुत दिक किया। पर वे भी मुग़लों का शासन हटाने में समर्थ न हुए।

खानजहाँ लोदी का विद्रोह—शाहजहाँ के राज्यारोहण के दूसरे वर्ष खानजहाँ लोदी ने मालवे में विद्रोह खड़ा किया। पर जब उस पर भी चढ़ाई करने की तैयारियाँ होने लगीं, तब वह समझ गया और उसने माफी माँग ली। शाहजहाँ ने उसे क्षमा करके दक्षिण का सूबेदार बना दिया। कुछ दिनों बाद वह दरबार में बुला लिया गया। वह सात आठ महीने तक दरबार में रहा, पर उसके मन का खटका किसी तरह दूर नहीं होता था। इसलिए वह फिर दरबार से भाग गया और दक्खिन पहुँच कर निजाम उल्मुल्क से मिल गया। शाही सेना वहाँ भी उसका पीछा करती हुई पहुँची और कई स्थानों पर उसके साथ छोटी मोटी लड़ाइयाँ भी हुईं, पर किसी प्रकार उसका दमन न हो सका। वह इधर उधर लूट-पाट करता हुआ कालिंजर जा पहुँचा, पर वहाँ के किलेदार से भी परास्त हुआ। वहीं एक युद्ध में शाही सैनिकों ने उसे फिर परास्त किया और अन्त में उसका सिर काट कर शाहजहाँ के दरबार में भेज दिया। उसके प्रायः एक सौ साथियों की भी यही दशा हुई। वे सब सिर विद्रोहियों को सचेत करने के लिए आगरे के किले के फाटक पर टाँग दिये गये। यहाँ हम प्रसंगवश यह भी बतला देना चाहते हैं कि खानजहाँ जब दक्खिन में गया था, तब उसे वहाँ शिवाजी के पिता शाह जी और उनके भाई काल्लू जी भोंसला से भी यथेष्ट सहायता मिली थी। पर उन लोगों ने पहले ही बादशाह की अधीनता स्वीकृत कर ली थी, इसलिए उनको क्षमा करके उनकी जागीरें उन्हें लौटा दी गईं थीं। खानजहाँ के विद्रोह का अन्त सन् १६३० में हुआ था।

दक्खिन और गुजरात का अकाल—सन् १६३० में दक्खिन, गुजरात और खान्देश में भीषण अकाल पड़ा था जिसमें हजारों आदमी मर गये थे। कहते हैं कि उन दिनों अन्न के अभाव के कारण माता-पिता अपने बच्चों तक को खाने लगे थे! और बाजारों में हड्डी का चूरा मिला हुआ आटा और कुत्तों तक का गोश्त बिकने लग गया था! इसके बाद ही बहुत भीषण महामारी फैली जिसने घर के घर और गाँव के गाँव तबाह कर दिये। गलियाँ और सड़कें लाशों से भर जाती थीं, इसलिए उन प्रदेशों से बहुत से लोग भाग कर उत्तर भारत में चले आये थे। उस समय शाहजहाँ ने दरिद्रों की धन से यथेष्ट सहायता की थी और गुजरात तथा दक्खिन के अनेक नगरों में लंगर

खुलवा दिये थे जिनमें गरीबों को मुफ्त भोजन बाँटा जाता था। साथ ही उसने वहाँ की मालगुजारी भी, जो लगभग ७० लाख के थी, माफ कर दी थी।

मुमताज महल की मृत्यु—सन् १६३० में, जब कि शाहजहाँ बुरहानपुर की छावनी से खानजहाँ लोदी के विद्रोह के दमन की व्यवस्था कर रहा था, उसकी पत्नी मुमताज महल के गर्भ से एक कन्या उत्पन्न हुई थी। यह उसकी चौदहवीं सन्तान थी। उसी अवसर पर ७ जून सन् १६३१ को अपने पति की आँखों के सामने उसकी मृत्यु हो गई। पति पत्नी में बहुत अधिक प्रेम था। शाहजहाँ उसे इतना अधिक चाहता था कि वह उसके वियोग में पागल सा हो गया। एक हफ्ते तक उसने बिलकुल कोई काम नहीं किया। वह प्रायः कहा करता था कि यदि ईश्वर ने मुझ पर साम्राज्य का यह भार न सौंपा होता तो मैं संसार के सब झगड़ों को छोड़ कर फकीर हो जाता। वह यह भी कहा करता था कि अब मुझे चारों ओर अन्धकार दिखाई देता है और किसी का मुँह अच्छा नहीं लगता। प्रायः दो वर्ष तक उसने न तो बढ़िया कपड़े और न गहने या जवाहिरात आदि ही पहने और न कोई सुगन्धित द्रव्य ही लगाया। मुमताज महल के मरने के बाद महल में उसका स्थान जहानारा बेगम को मिला था।

यहाँ हम संक्षेप में मुमताज महल के सम्बन्ध की कुछ बातें बतला देना चाहते हैं। यह नूरजहाँ के भाई आसफखाँ की कन्या थी और इसका पहला नाम अर्जुमन्द बानो था। इसका जन्म सन् १५९४ में हुआ था और सन् १६१२ में यह शाहजहाँ के साथ ब्याही गई थी। यह बहुत ही रूपवती, गुणवती और शिक्षिता थी और अपने पति के प्रति बहुत अधिक श्रद्धा और भक्ति रखती थी। जिन दिनों शाहजहाँ विद्रोही बनकर चारों तरफ मारा मारा फिरता था, उन दिनों यही सदा उसके साथ रहती थी और हर तरह से उसे प्रसन्न रखने का प्रयत्न करती थी। शाहजहाँ भी बिना इससे पूछे कोई काम न करता था, और यह भी सदा उसे बहुत अच्छी सलाह देती थी। शाहजहाँ ने तख्त पर बैठने पर इसका नाम मुमताज महल रखा था और इसे मलिकए-ज़माँ की उपाधि दी थी। यह दीन-दुःखियों और अनाथों पर बहुत दया करती थी, और जो कोई इसके पास अपनी प्रार्थना लेकर आता था, उसे यह विमुख नहीं लौटाती थी। यह नमाज और रोजे आदि की पूरी पाबन्द थी और इसके विचार कट्टर मुसलमानों के से थे।

मरने के प्रायः छः महीने बाद इसकी लाश अकबराबाद (आगरा) लाई गई और वहाँ कुछ दिनों के लिए ताज-महल के बाग में गाड़ दी गई थी। फिर

जब ताज महल का सुप्रसिद्ध मकबरा बना, तब वह लाश उठाकर उस मकबरे में रख दी गई। ताज महल संसार के सात सबसे अधिक अद्भुत और आश्चर्य-जनक पदार्थों में गिना जाता है। इसकी इमारत का काम सन् १६३२ में शुरू हुआ था और सन् १६४३ में यह बन कर तैयार हुआ था। इसमें पचास लाख रुपये से अधिक लागत आई थी। इसके लिए बीसियों तरह के बहुमूल्य पत्थर सारे संसार से ढूँढ़कर मँगवाये गये थे और इसे तैयार करने के लिए विदेशों से भी कुछ कारीगर बुलवाये गये थे। शाहजहाँ ने इसके व्यय आदि के लिए तीस गाँव वक्फ कर दिये थे जिनकी वार्षिक आय लगभग एक लाख रुपये थी। साथ ही उसने मकबरे के आस-पास बहुत सी दूकानें और सराएँ आदि भी बनवा दी थीं जिनसे एक लाख रुपये वार्षिक की आय होती थी। यह सिर से पैर तक संगमरमर और संग मूसा आदि अनेक बहुमूल्य पत्थरों की इमारत है जो आगरे में जमना के किनारे बनी है। इसमें पच्चीकारी और जाली के कटाव आदि के जो काम बने हैं, वे अनुपम हैं और सुन्दरता में सारे संसार में इसके जोड़ की कोई इमारत नहीं है।

पुर्त्तगालियों को दंड—मुमताज महल की मृत्यु के थोड़े ही दिन बाद पुर्त्तगालियों का उपद्रव आरम्भ हो गया। इन लोगों को पहले से ही व्यापार सम्बन्धी कुछ विशेष अधिकार मिल गये थे और इन्होंने हुगली में अपना एक खासा उपनिवेश स्थापित कर लिया था। वहाँ इन लोगों ने अच्छी अच्छी इमारतें बनाकर पूरी किलेबन्दी कर ली थी और तोपें तथा दूसरी बहुत सी युद्ध सामग्री सदा प्रस्तुत रखते थे। हुगली के आस-पास के गाँवों में कुछ और विदेशी भी बसे हुए थे जिनसे ये लोग अनेक प्रकार के कर वसूल करते थे और साथ ही उनपर अत्याचार भी करते थे। इन लोगों ने वहाँ दासों का व्यापार भी आरम्भ कर दिया था। तात्पर्य यह कि व्यापार सम्बन्धी जो अधिकार इन लोगों को दिये गये थे, उनका ये लोग पूरा पूरा दुरुपयोग कर रहे थे। ये लोग हिन्दुओं और मुसलमानों के लड़के-बच्चों को भी उठा ले जाते थे और उन्हें बलपूर्वक ईसाई बनाते थे। जिस समय शाहजहाँ ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया था, उस समय ये लोग मुमताज महल की दो बाँदियों को भी उठा ले गये थे। शाहजहाँ पहले से ही इन लोगों से चिढ़ा हुआ था। अब उनका अत्याचार दिन पर दिन बढ़ता हुआ देखकर सन् १६३१ में उसने बंगाल के सूबेदार कासिमखाँ को आज्ञा दी कि पुर्त्तगालियों के सब स्थान नष्ट कर दिये जायँ और उन्हें पूरा पूरा दंड दिया जाय। कासिमखाँ तीन चार महीने तक हुगलीवाले उपनिवेश के चारों ओर घेरा डाले पड़ा

रहा। इस बीच में ऊपर से तो पुर्त्तगाली धन आदि देकर सन्धि भी करना चाहते थे और अन्दर ही अन्दर युद्ध की तैयारियाँ भी करते रहते थे। तो भी अन्त में युद्ध हुआ ही जिसमें पुर्त्तगालियों की पूरी हार हुई। बहुत से पुर्त्त-गाली मार डाले गये, बहुतेरे हुगली नदी और उपनिवेश के आस-पास की खाइयों में डूब गये और जो बचे, वे गिरफ्तार कर लिये गये। कहा जाता है कि प्रायः दस हजार पुर्त्तगाली पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे मारे गये थे और कैद होनेवालों की संख्या साढ़े चार हजार थी। पुर्त्तगालियों ने आस-पास के प्रायः दस हजार आदमियों को कैद कर रखा था। उन सबको शाही सेना ने मुक्त और स्वतन्त्र कर दिया। पुर्त्तगाली कैदियों में से बहुतों ने तो इस्लाम धर्म ग्रहण करके जान बचाई, पर कुछ ऐसे भी थे जो धर्म को प्राणों से अधिक प्रिय समझते थे। वे लोग कैद में पड़े पड़े सड़ते रहे और अन्त में मर भी गये। इस प्रकार पुर्त्तगालियों के अत्याचारों का अन्त हुआ। पर साथ ही हम यहाँ यह बतला देना भी आवश्यक समझते हैं कि पुर्त्तगालियों का अन्त बहुत निर्दयतापूर्वक किया गया था और उनके अत्याचारों का पूरा पूरा बदला उन पर भी पूरा पूरा अत्याचार करके चुकाया गया था।

दक्षिण-विजय का प्रयत्न—पुर्त्तगालियों से छुट्टी पाकर शाहजहाँ ने दक्षिण की ओर ध्यान दिया। वह भी अपने पूर्वजों की भाँति दक्षिण को अपने अधिकार में लाना चाहता था। अकबर ने भी अपने जीवन के अन्तिम पाँच वर्ष दक्षिण-विजय की चिन्ता में ही बिताये थे और खान्देश तथा अहमदनगर के कुछ अंश पर अधिकार भी कर लिया था। वह उत्तर के प्रायः सभी प्रदेशों पर अधिकार कर चुका था, इसलिए जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब सभी उत्तराधिकारी बराबर दक्षिण पर विजय प्राप्त करने के उपाय सोचते और करते रहते थे। इन लोगों के पास धन-बल भी यथेष्ट था और जन-बल की भी कमी नहीं थी। इसी लिए अकबर के सभी उत्तराधिकारी दक्षिण की रियासतों के साथ लड़ते और उन्हें अपने अधीन करने का प्रयत्न करते रहे। यहाँ तक कि अन्त में औरंगजेब ने दक्षिण की गोलकुंडा और बीजापुर की बची हुई दो रियासतों के नाम भी भारत के राजनीतिक मानचित्र पर से मिटाकर ही छोड़े। जहाँगीर ने मलिक अम्बर के साथ जो युद्ध किये थे, उनका वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। शाहजहाँ ने भी उसी समय मलिक अम्बर के साथ युद्ध करके बहुत कुछ प्रसिद्धि प्राप्त की थी। तब भला बादशाह होने पर वह दक्षिणवालों को कैसे शान्तिपूर्वक रहने देता।

अहमदनगरवालों ने विद्रोही खानजहाँ लोदी को सहायता दी थी, इससे शाहजहाँ पहले से ही उनसे नाराज था। कुछ ही दिनों बाद अहमद-नगर और बीजापुर में मेल हो गया। मलिक अम्बर के लड़के फतहखाँ ने निजामशाही सुलतान मुर्त्तजा निजाम शाह को पहले तो कैद कर लिया और तब आसफखाँ के कहने से उसकी हत्या भी कर डाली और मुर्त्तजा निजाम शाह के दस वर्ष के लड़के हुसैन शाह को गद्दी पर बैठा दिया। यहाँ कदाचित् यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि आसफखाँ ने यह परामर्श शाहजहाँ की आज्ञा से ही दिया था; और शाहजहाँ यह चाहता था कि दक्षिण में कोई नया उपद्रव खड़ा हो जिससे मुझे वहाँ के कार्यों में हस्तक्षेप करने का अवसर मिले। इसके बाद उसने आसफखाँ को बीजापुर के सुलतान के पास भेजकर यह कहलाना चाहा कि तुम मुग़लों की अधीनता फिर से स्वीकृत करो। आसफखाँ ने वहाँ पहुँचते ही बीजापुर पर घेरा डाल दिया (१६३१)। तीन हफ्ते तक लड़ाई होती रही। पर इस बीच में वहाँ अनाज बहुत महँगा हो गया और रुपये सेर मिलने लगा जिससे आसफखाँ के आदमी और जानवर भूखों मरने लगे। इसलिए उसने बीजापुर पर से तो घेरा उठा लिया और आस-पास के प्रदेशों को खूब लूटना शुरू कर दिया। इस प्रकार बीजापुर के आस-पास का सारा प्रदेश उजाड़ डाला गया। पूरी तरह से लूट-पाट करने के बाद आसफखाँ लौट आया।

निजाम शाही का अन्त—दौलताबाद के किले के सम्बन्ध में शाह जी भोंसला और मलिक अम्बर के लड़के फतहखाँ में कुछ झगड़ा चल रहा था। शाह जी ने बीजापुर के सुलतान की सहायता से दौलताबाद पर आक्रमण करना चाहा। इस पर फतहखाँ ने महाबतखाँ को लिखा कि मैं वह किला बादशाही सेना को सौंप देना चाहता हूँ। इस पर महाबतखाँ तुरन्त वहाँ जा पहुँचा। बीजापुर की सेना ने महाबतखाँ की सेना का बहुत वीरतापूर्वक मुकाबला किया। पर इसी बीच में फतहखाँ की नीयत बदल गई और वह दौलताबाद का किला महाबतखाँ को सौंपने में हीला-हवाली करने लगा। महाबतखाँ ने सुरंग लगाकर किले की दीवार का कुछ हिस्सा तोड़ डाला और तब प्रायः दस लाख रुपये रिश्वत देकर फतहखाँ को फिर अपनी ओर मिला लिया और १८ जून सन् १६३३ को उससे किला ले लिया। बालक सुलतान हुसैन शाह पकड़ कर कैद कर लिया गया और ग्वालियर भेज दिया गया। शाहजहाँ ने फतहखाँ को बहुत अच्छा वेतन देकर अपनी सेवा में रख लिया और इस प्रकार अहमदनगर के निजाम शाही राज्य का अन्त हो गया।

इसके बाद बीजापुरवालों ने फिर दौलताबाद के किले पर घेरा डाला था, पर साम्राज्य की सेना ने उन्हें फिर परास्त कर दिया। परेन्दा के गढ़ पर भी महाबतखाँ ने घेरा डाला था, पर उस पर वह अधिकार न कर सका। इसके बाद ही २६ अक्तूबर सन् १६३४ को महाबतखाँ का देहान्त हो गया और उसके स्थान पर मालवे का सूबेदार खानेदौरान प्रधान सेनापति नियुक्त हुआ।

दक्खिन के शेष राज्य—बहमनी साम्राज्य जिन पाँच छोटे छोटे राज्यों में विभक्त हुआ था, उनमें से बरार का इमादशाही राज्य और अहमदनगर का निजाम शाही राज्य तो इस प्रकार मुग़ल साम्राज्य में मिल गया और बीदर का बरीदशाही राज्य, जो मूल बहमनी साम्राज्य का प्रत्यक्ष अवशिष्ट और बचा हुआ रूप था, धीरे धीरे आपसे आप नष्ट हो गया और उसका कुछ भी महत्व न रह गया। अब केवल दो प्रबल राज्य बाकी रह गये थे जो मुग़लों की अधीनता स्वीकृत नहीं करते थे। इनमें से पहला बीजापुर का आदिलशाही राज्य था और दूसरा गोलकुंडा का कुतुबशाही राज्य था। अतः अब शाहजहाँ ने इन दोनों पर अधिकार करने का विचार किया। इसी बीच में शाह जी भोंसला ने अहमद-नगर में भी एक उपद्रव खड़ा किया। शाह जी भोंसला का प्रभुत्व इधर कुछ दिनों से बराबर बढ़ता जाता था। उसने अहमदनगर के निजामशाही वंश के एक लड़के को फिर से वहाँ का राजा घोषित कर दिया और बीजापुरवालों की सहायता से पुराने अहमदनगर राज्य के समस्त पश्चिमी भाग पर समुद्र तक अधिकार कर लिया। शाहजहाँ ने बीजापुर और गोलकुंडा के सुलतानों को लिख भेजा कि तुम लोग हमारी अधीनता स्वीकृत करो और शाह जी भोंसला तथा उनके साथियों को सहायता देना बन्द करो। साथ ही उसने यह भी लिखा कि यदि तुम लोग यह आज्ञा न मानोगे और अहमदनगर के इन्तजाम में दखल दोगे तो तुम लोगों पर चढ़ाई की जायगी। आतंक जमाने के लिए फरवरी सन् १६३६ में शाहजहाँ स्वयं भी दौलताबाद जा पहुँचा और वहाँ उसने ५०००० सैनिक एकत्र कर लिये। इस पर गोलकुंडा के सुलतान ने तो दबकर शाहजहाँ की सब शर्तें मंजूर कर लीं और लिख दिया कि हम सालाना खिराज भी देंगे, शाहजहाँ के नाम का खुतबा भी पढ़ावेंगे और उसी के नाम के सिक्के भी चलावेंगे। और उसने ये सब काम किये भी। पर बीजापुर के सुलतान ने न तो शर्त्तें ही मानीं और न कोई उत्तर ही दिया।

बीजापुर पर चढ़ाई—इस पर शाहजहाँ ने बीजापुर पर सब तरफ से चढ़ाई करने की आज्ञा दी। खानेजहाँ ने शोलापुर की ओर से, खानेजमाँ ने इन्दापुर की ओर से और खानेदौरान ने बीदर की ओर से बीजापुर पर चढ़ाई

की। स्वयं बीजापुर नगर पर तो मुग़लों का अधिकार न हो सका, पर हाँ, उसके आस-पास का सारा प्रदेश मुग़लों ने पूरी तरह से उजाड़ डाला। हजारों आदमी पकड़कर मार डाले गये और आस-पास के बहुत से गढ़ छीन लिये गये। बीजापुरवालों ने भी मुग़लों को परेशान करने में कोई कसर नहीं की। उन लोगों ने चारों तरफ के कूओं में जहर मिला दिया और नगर के आस-पास की सब जमीन पानी से भर दी। तात्पर्य यह कि दोनों ही पक्ष बहुत अधिक कष्ट भोगने और क्षति उठाने के बाद अन्त में सन्धि की बात-चीत करने लगे। सन्धि की सब शर्तें तय हो गईं। बीजापुर के सुलतान ने बीस लाख रुपये देना मंजूर किया और अधीनता स्वीकृत करके वचन दिया कि अब हम कभी अहमदनगर या गोलकुंडा के मामले में दखल न देंगे। साथ ही बीजापुरवालों ने यह भी मंजूर किया कि हम शाह जी भोंसला को अपने यहाँ नौकरी नहीं देंगे, और यदि वे निजाम शाही किले और प्रदेश साम्राज्य को लौटा न देंगे तो उनकी किसी प्रकार से सहायता भी न करेंगे। साथ ही सुलतान ने शाहजहाँ से यह भी प्रार्थना की कि अब आप दौलताबाद में अधिक समय तक रहने का कष्ट न करें जिसमें हमारी प्रजा के मन का भय और आतंक दूर हो। शाह जी भोंसला ने भी अधिक लड़ना निरर्थक जानकर बादशाह की अधीनता स्वीकृत कर ली थी। इसलिए शाहजहाँ ने अब दौलताबाद में ठहरने की आवश्यकता नहीं समझी और वह जुलाई १६३६ में वहाँ से मांडू के लिए रवाना हो गया। अब अहमदनगर का स्वतन्त्र राज्य के रूप में कोई अस्तित्व न रह गया और वह राज्य शाहजहाँ और बीजापुर के सुलतान में बँट गया (१६३६)। शाहजहाँ ने अपने पुत्र औरंगजेब को दक्षिण का सूबेदार बना दिया। औरंगजेब के अधीन खान्देश, बरार, तेलिंगाना और दौलताबाद के प्रदेश थे जिनमें सब मिलाकर चौंसठ बड़े बड़े किले थे और जहाँ की आमदनी लगभग पाँच करोड़ रुपये सालाना थी। औरंगजेब ने सन् १६३६ से १६४४ तक प्रायः आठ वर्ष वहाँ की सूबेदारी की और इस बीच में नासिक के पास का कुछ और प्रदेश भी अपने अधीन कर लिया। सन् १६४४ में जब औरंगजेब की बहन शाहजादी जहानारा बहुत ज्यादा जल गई थी, तब वह सूबेदारी से इस्तीफा देकर उसे देखने के लिए आगरे चला गया और वहीं कुछ दिन उसने शान्ति से आराम करने में बिताये। शाहजहाँ ने सन् १६३६ में दक्षिण की जो यह व्यवस्था की थी, वह प्रायः बीस वर्षों तक ज्यों की त्यों चलती रही और इतने समय तक दक्षिणवाले शान्तिपूर्वक और चुपचाप बैठे रहे।

कन्धार पर अधिकार—पिछले अध्यायों में हम बतला चुके हैं कि किस प्रकार कन्धार कभी तो मुग़लों के हाथ में आ जाता था और कभी फारस-वालों का उस पर अधिकार हो जाता था। पिछली बार सन् १६२२ में शाहजहाँ के समय में फिर उसपर फारस के शाह अब्बास ने अधिकार कर लिया था और तबसे वह फारसवालों के ही अधीन था। फारस के शाह ने अलीमरदानखाँ को कन्धार का सूबेदार बना दिया था और तब से बराबर वही वहाँ की व्यवस्था करता आता था। जब जहाँगीर को दक्षिण के झगड़ों से छुट्टी मिल गई, तब उसने फिर कन्धार पर अधिकार करने का विचार किया, क्योंकि सामरिक दृष्टि से भी और व्यापारिक दृष्टि से भी मुग़ल साम्राज्य के लिए कन्धार का महत्व बहुत अधिक था। पहले तो अलीमरदानखाँ को रिश्वत देकर कन्धार पर अधिकार करने का प्रयत्न किया गया, पर जब इसमें सफलता न हुई, तब सैनिक शक्ति का प्रयोग करना निश्चित हुआ। अलीमरदाँ ने पास के एक पहाड़ पर रक्षा के विचार से एक नया किला बनवाना आरम्भ किया और अपने स्वामी फारस के शाह से अधिक सहायता माँगी। पर शाह ने भूल से यह समझ लिया कि अलीमरदाँ स्वयं ही स्वतन्त्र होने का प्रयत्न कर रहा है। इसलिए उसने एक सेनापति को बहुत बड़ी सेना देकर कहने को तो अलीमरदाँ की सहायता के लिए भेजा, पर वास्तविक उद्देश्य यह था कि अलीमरदाँ गिरफ्तार कर लिया जाय। जब अलीमरदाँ को यह भीतरी रहस्य मालूम हुआ, तब उसने काबुल के सूबेदार सईदखाँ की मारफत जहाँगीर से कहलाया कि मैं कन्धार का किला मुग़लों के हाथ सौंपने को तैयार हूँ। जहाँगीर ने तुरन्त एक बड़ी सेना भेजकर कन्धार के किले पर अधिकार कर लिया। फारस के शाह ने जो सेना भेजी थी, उसे मुग़ल सेना ने परास्त भी किया। अलीमरदाँ खाँ का जहाँगीर के दरबार में बहुत अच्छा स्वागत हुआ और वह काश्मीर तथा काबुल का सूबेदार बना दिया गया। उसे छः हजारी मन्सब और बहुत सा धन भी दिया गया। अलीमरदाँ केवल योग्य शासक और योद्धा ही नहीं था, बल्कि वास्तु कला का भी बहुत अच्छा ज्ञाता था, और भारत में उसने दिल्ली के पास एक बहुत बड़ी नहर और लाहौर का शालाभार बाग भी अपने निरीक्षण में बनवाया था।

बल्ख और बदख्शाँ—बल्ख और बदख्शाँ पर किसी समय बाबर का अधिकार था और वह स्थान बाबर के साम्राज्य की राजधानी समरकन्द के रास्ते में पड़ते थे। इसलिए शाहजहाँ चाहता था कि इन दोनों प्रदेशों पर भी हमारा अधिकार हो जाय। उन दिनों ये दोनों प्रदेश बुखारा राज्य के

अधीन थे, पर अरक्षित अवस्था में थे। इसी बीच में बुखारा के राज-परिवार में कुछ झगड़ा हुआ। शाहजहाँ ने उपयुक्त अवसर देखकर सन् १६४५ में अली-मरदाँखाँ और शाहजादा मुरादबख्श को बल्ख पर अधिकार करने के लिए भेज दिया। पर सेना भेजते समय शाहजहाँ ने शायद इस बात का विचार नहीं किया कि हिन्दूकुश पर्वत को पार करके मध्य एशिया में चढ़ाई करने के लिए सेना भेजना कोई मामूली बात नहीं है। सम्भव है कि उसके खुशामदी दरबारियों ने भी लम्बी-चौड़ी बातें बनाकर उसे यह सेना भेजने के लिए उत्साहित कर दिया हो। शाहजादा मुराद के साथ पचास हजार सवार और दस हजार पैदल सिपाही भेजे गये थे। मार्ग में बहुत बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ झेलने के उपरान्त जून सन् १६४६ में ये लोग बल्ख जा पहुँचे और बल्ख तथा बुखारा का बादशाह नजर मुहम्मदखाँ इन लोगों को देखते ही पारस भाग गया। बिना किसी लड़ाई–झगड़े के बल्ख पर मुग़लों का अधिकार हो गया और प्रायः ७० लाख रुपयों का खजाना भी मुग़ल सैनिकों ने खूब अच्छी तरह लूटा। पर मुराद और उसके साथी वहाँ रहना नहीं चाहते थे, क्योंकि वहाँ उन लोगों को तरह तरह की तकलीफें होती थीं। शाहजहाँ के बहुत मना करने पर भी शाहजादा मुराद लौटकर भारत आ गया। शाहजहाँ ने इस पर मुराद का मन्सब तोड़ दिया और उसका दरबार में आना बन्द कर दिया। इसके बाद सादुल्लाखाँ को बल्ख भेजा गया; पर वह भी केवल तीन हफ्ते वहाँ रहकर लौट आया। तब शाहजहाँ ने शुजा और औरंगजेब को वहाँ भेजा और आप भी वहाँ की व्यवस्था करने के लिए काबुल जा पहुँचा। इस बीच में उजबकों ने खासी तैयारी कर ली थी और वहाँ बल्ख के लिए लड़नेवालों की संख्या एक लाख तक पहुँच गई थी। पर मुग़ल सैनिकों की संख्या २५ हजार से अधिक नहीं थी। इसके सिवा उजबकों का लड़ने का ढंग भी कुछ ऐसा विलक्षण था कि शाहजहाँ की सेना उनके सामने ठहर नहीं सकती थी। फिर भी औरंगजेब ने बहुत वीरतापूर्वक लड़कर उजबकों को कई युद्धों में परास्त किया और बल्ख पर अधिकार करके वहाँ की व्यवस्था माधवसिंह हाडा को सौंपी। पर उजबक लोग अभी तक चारों ओर उपद्रव करते फिरते थे और मुग़ल सेना को बहुत कष्ट पहुँचाते थे; इसलिए औरंगजेब उन्हें दंड देने के लिए निकला। पर जब उसने सुना कि बल्ख को छीनने के लिए बुखारा से बहुत बड़ी सेना आ रही है, तब वह फिर बल्ख लौट आया। दोनों में युद्ध हुआ। मुग़लों की सेना के आगे बुखारावाले न ठहर सके। युद्ध बन्द हो गया और सन्धि की बात-चीत चलने लगी। पर सन्धि की शर्तें तय करने में ही तीन महीने लग गये। अन्त में जैसे

तैसे सन्धि हो गई। अधीनता स्वीकृत कर लेने पर बल्ख नजर मुहम्मद के पोतों को दे दिया गया और मुग़ल सेना काबुल लौटने लगी। मुग़ल सैनिक तो जैसे तैसे औरंगजेब के साथ काबुल पहुँच गये, पर राजपूत सैनिक पीछे रह गये थे। उन्हें उस पहाड़ी और बरफीले रास्ते में शत्रुओं के हाथों बड़े बड़े कष्ट उठाने पड़े और उनमें से बहुतेरे वहीं बिना अन्न-जल के बरफ में ही पड़े पड़े मर गये। इस प्रकार मुग़लों की धन-जन की भी बहुत अधिक हानि हुई और बल्ख पर भी अधिकार न हो सका। शाहजहान का यह अभियान पूर्ण रूप से मूर्खतापूर्ण ही सिद्ध हुआ।

कन्धार का पतन—सन् १६४२ में जब शाह अब्बास द्वितीय फारस के सिंहासन पर बैठा, तब उसने फिर कन्धार पर अधिकार करने की तैयारी शुरू की। वह चाहता था कि जाड़ा शुरू होने से कुछ पहले ही मैं अपनी सेना लेकर कन्धार पहुँच जाऊँ जिसमें जाड़ा शुरू होने पर भारत से कोई सेना वहाँ आकर न पहुँच सके। जब शाहजहाँ के पास यह समाचार पहुँचा, तब उसके मन्त्रियों ने उसे उचित रूप से परामर्श दिया कि जाड़े में सेना को कन्धार भेजना ठीक नहीं। इस पर जाड़े भर इधर कोई व्यवस्था नहीं की गई और उधर शाह ने कन्धार पर चढ़ाई कर दी। कन्धार के किले में जो थोड़ी बहुत मुग़ल सेना थी, वह प्रायः दो मास तक वीरतापूर्वक लड़ती रही। पर जब भारत से उसकी सहायता के लिए कोई न पहुँचा, तब उन लोगों ने फरवरी १६४९ में वह किला फारसवालों को सौंप दिया। इसके कुछ दिनों बाद शाहजादा औरंगजेब और सादुल्लाखाँ अपने साथ साठ सत्तर हजार सैनिक लेकर वहाँ पहुँचे। स्वयं बादशाह भी युद्ध की व्यवस्था करने के लिए काबुल चला गया। जब औरंगजेब कन्धार पहुँचा, तब उसने देखा कि फारसवाले यहाँ पूरी तरह से अपना अधिकार और किलेबन्दी कर चुके हैं। तो भी उसने कन्धार का किला चारों ओर से घेर लिया। प्रायः पौने चार महीने तक घेरा पड़ा रहा, पर कोई फल न हुआ। अन्त में विवश होकर शाहजहाँ ने औरंगजेब को वापस आने का हुक्म दिया।

उस समय तो औरंगजेब चुपचाप लौट आया, पर उसके मन में यह बात बहुत खटक रही थी कि फारसवालों के सामने मुझे नीचा देखना पड़ा और मुग़ल साम्राज्य का भी भारी अपमान हुआ। फिर दोबारा कन्धार विजय करने की तैयारियाँ होने लगीं और नई नई तोपें आदि भी बनीं। मई सन् १६५२ में मुग़लों की एक बहुत बड़ी सेना ने फिर कन्धार पहुँच कर वहाँ घेरा डाला। पर फारसवाले भी पहले से पूरी तैयारी करके बैठे हुए थे। मुग़लों की तोपें

कन्धार के किले की दीवारें न तोड़ सकीं। जब जन-बल से काम न निकला, तब मुग़लों ने धन-बल से काम निकालना चाहा। पर जब किलेवालों ने रिश्वत लेने से भी इन्कार कर दिया और रसद आदि की भी कमी होने लगी, तब शाहजहाँ ने फिर घेरा उठा लेने की आज्ञा भेजी। औरंगजेब ने कहा भी कि अभी घेरा पड़ा रहने दिया जाय और मैं जैसे होगा, कन्धार को जीत कर छोड़ूँगा। पर शाहजहाँ ने नहीं माना। इसलिए लाचार सारी सेना फिर लौटकर काबुल आ गई। कहते हैं कि उस समय शाहजहाँ को औरंगजेब की सैनिक योग्यता में भी सन्देह होने लग गया था। जो हो, औरंगजेब फिर दक्षिण का सूबेदार बनाकर वहाँ भेज दिया गया (१६५२) और काबुल की सूबेदारी दारा को दी गई।

अब दारा ने सोचा कि जो काम औरङ्गजेब नहीं कर सका, वह यदि मैं कर दिखलाऊँ तो बादशाह मुझपर बहुत प्रसन्न होगा। इसलिए उसने शाहजहाँ से फिर तीसरी बार कन्धार पर घेरा डालने की आज्ञा ले ली। कहते हैं कि इस काम के लिए दारा ने प्रायः साठ बड़ी बड़ी तोपों, पचास हजार गोलों और दस हजार गोलन्दाजों का प्रबन्ध किया था। शाहजहाँ ने उसे शाह बुलन्द-इकबाल की उपाधि और एक करोड़ रुपये इस काम के लिये दिये। दिसम्बर सन् १६५२ में दारा ने फिर कन्धार पहुँच कर वहाँ का किला चारों ओर से घेर लिया।

प्रायः सात मास तक कन्धार के चारों ओर मुग़ल सेना का घेरा पड़ा रहा। इस बीच में फारसवालों के साथ उनकी कई लड़ाइयाँ हुईं, पर सभी में उन्हें हारना पड़ा। साथ ही शीत आदि के अनेक कष्ट भी सहने पड़े और रसद तथा युद्ध सामग्री भी समाप्त हो चली। अब जाड़ा फिर सिर पर आ गया था, इससे लाचार होकर दारा को भी वहाँ से विफल-मनोरथ होकर लौटना पड़ा। इस प्रकार कन्धार पर अधिकार करने के प्रयत्न में मुग़लों के प्रायः बारह करोड़ रुपये भी खर्च हुए, बीसियों हजार आदमी भी मारे गये और मुगलों की सैनिक अयोग्यता और दुर्बलता भी सिद्ध हुई। इसके सिवा फारसवालों का जो हौसला बढ़ गया, वह अलग। इसके बाद बहुत दिनों तक दिल्ली के शासकों को फारसवालों के आक्रमण का भय बना रहता था।

औरंगजेब और दक्खिन—जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, शाहजहाँ ने औरंगजेब को कन्धार से बुलाकर दोबारा नवम्बर सन् १६५३ में दक्खिन का सूबेदार बना कर वहाँ भेजा। इस बीच में वहाँ जो और सूबेदार गये थे, उन्होंने वहाँ की प्रजा का रक्त चूसने के सिवा और कुछ भी नहीं किया था

जिसके परिणाम स्वरूप सारा देश उजाड़ हो गया था और वहाँ की राजकीय आय बहुत कम हो गई थी। इसलिए औरंगजेब को वहाँ पहुँचते ही अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। तो भी उसने वहाँ की आर्थिक अवस्था में बहुत ही योग्यतापूर्वक सुधार किया। संयोग से उसे इस काम में सहायता देने के लिए मुरशिदकुलीखाँ मिल गया था जिसने दक्षिण में जमीनों का बहुत कुछ वैसा ही बन्दोबस्त किया, जैसा अकबर के समय में उत्तर भारत में राजा टोडरमल ने किया था। इसका फल यह हुआ कि शीघ्र ही दक्षिण की प्रजा की अवस्था भी बहुत कुछ सुधर गई और राजकीय आय भी बढ़ गई।

गोलकुंडा और बीजापुर के साथ युद्ध—गोलकुंडा और बीजापुर पर मुग़लों की नजर बहुत दिनों से चली आती थी और दक्षिण की बची हुई इन दोनों रियासतों की धन-सम्पत्ति और परिमित स्वतन्त्रता भी मुग़लों की आँखों में बराबर खटकती रहती थी। इसके सिवा इन दोनों राज्यों के सुलतान शीया सम्प्रदाय के थे जिन्हें कट्टर सुन्नी मुग़ल एक तरह से काफिर ही समझते थे। इस बीच में गोलकुंडा की तरफ सालाना खिराज की कुछ रकम भी बाकी पड़ गई। फिर गोलकुंडा के सुलतान ने कर्नाटक पर विजय प्राप्त कर ली थी और मुग़लों की दृष्टि में यह भी एक बहुत बड़ा अपराध था और इसके दंड स्वरूप भी वे गोलकुंडा से एक बड़ी रकम माँगते थे। इसी बीच में संयोग से एक और ऐसी घटना हो गई जिसने गोलकुंडा पर आक्रमण करने का एक बहुत बड़ा बहाना खड़ा कर दिया। गोलकुंडा में एक बहुत ही योग्य और चतुर मन्त्री था जिसका नाम मीर मुहम्मद सईद था और जो इतिहास में मीर जुमला के नाम से प्रसिद्ध है। गोलकुंडा के सभी बड़े बड़े कार्य यही मीर जुमला करता था और कर्नाटक पर विजय भी इसी ने प्राप्त की थी। कुछ तो पहले से ही इसके पास बहुत सम्पत्ति थी और कुछ दक्षिण के मन्दिरों को लूटकर और गोलकुण्डा की हीरे की खानों से भी इसने बहुत अधिक सम्पत्ति प्राप्त कर ली थी और उसकी रक्षा आदि के लिए इसने अपने पास बहुत से सैनिक भी रख लिये थे। गोलकुंडा राज्य के अन्तर्गत इसने मानों अपना एक छोटा सा राज्य ही स्थापित कर लिया था। इस पर गोलकुंडा के सुलतान अब्दुल्ला कुतुबशाह ने भयभीत होकर मीर जुमला को कैद कर लेना चाहा। मीर जुमला ने अपनी रक्षा के विचार से कई रियासतों और बादशाहों से लिखा-पढ़ी शुरू कर दी। इसी बीच में मीर जुमला के लड़के मुहम्मद अमीन ने एक दिन भरे दरबार में कुछ गुस्ताखी की जिससे वह और उसके परिवार के सब लोग पकड़ कर कैदखाने में बन्द कर दिये

गये। इस पर औरंगजेब ने गोलकुंडा के सुलतान को लिखा कि मीर जुमला के परिवारवालों को छोड़ दो; और साथ ही बिना उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये उसने गोलकुंडा पर चढ़ाई भी कर दी। अब अब्दुल्ला कुतुब शाह की आँखें खुलीं। उसने मीर जुमला के परिवारवालों को कैद से छोड़ दिया और क्षमा-प्रार्थना का पत्र भी भेजा। पर फिर भी गोलकुंडा पर चढ़ाई करके औरंगजेब ने वहाँ का राजकोश, जिसमें अपार धन-सम्पत्ति और रत्न आदि थे, लूट लिया। सुलतान ने बहुत सा धन और जवाहिरात देकर औरंगजेब को प्रसन्न करना चाहा था, पर औरंगजेब बिना राजकोश को लूटे और गोलकुंडा का राज्य नष्ट किये प्रसन्न ही नहीं हो सकता था, इसलिए सुलतान की प्रार्थनाओं आदि का कुछ भी फल न हुआ। उस अवसर पर औरंगजेब ने जैसी क्रूरता, निर्दयता और कुटिलता आदि का व्यवहार किया था और जैसी हृदय-हीनता का परिचय दिया था, उसे देखकर शाहजहाँ भी उससे बहुत नाराज हो गया था। औरंगजेब हर तरह से गोलकुंडा को तबाह करना चाहता था, सुलतान को हर तरह से अपमानित करता था और किसी प्रकार की विनती या प्रार्थना नहीं सुनता था। इसलिए अन्त में शाहजहाँ ने उसे आज्ञा दी कि तुम तुरन्त गोलकुंडा पर से घेरा हटा लो और वहाँ से अपने स्थान पर चले आओ। इसलिए लाचार होकर औरंगजेब को गोलकुंडा के सुलतान के साथ सन्धि करनी पड़ी। सुलतान कुतुब शाह को अपनी कन्या का विवाह औरंगजेब के लड़के शाहजादा मुहम्मद के साथ करना पड़ा और कुरान उठाकर सदा सम्राट् के राजभक्त बने रहने की शपथ खानी पड़ी। इस प्रकार गोलकुंडा की स्वतन्त्रता और सम्मान का नाश करके उसे मुगल साम्राज्य के अधीन और अन्तर्गत किया गया।

मीर जुमला गोलकुण्डा से चलकर शाहजहाँ के दरबार में आ पहुँचा था। वहाँ उसने बादशाह को अनेक बहुमूल्य रत्न आदि भेंट किये थे जिनमें से एक हीरा पन्द्रह लाख रुपये का था। उसे मुअज्जमखाँ की उपाधि और छः हजारी मन्सब प्रदान किया गया और वह सादुल्लाखाँ के स्थान पर प्रधान मन्त्री बना दिया गया, क्योंकि सादुल्लाखाँ की सन् १६५६ में मृत्यु हो गई थी। इसके बाद मीर जुमला को साम्राज्य की और भी कई बड़ी-बड़ी सेवाएँ सौंपी गई थीं जिनका निर्वाह उसने बहुत ही योग्यता और दक्षतापूर्वक किया था।

सन् १६५६ के अन्त में बीजापुर के सुलतान मुहम्मद आदिल शाह की मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर उसका अठारह वर्ष का लड़का अली आदिल शाह द्वितीय के नाम से सिंहासन पर बैठा। साथ ही बीजापुर में कुछ छोटे

मोटे उपद्रव भी हुए। बस औरंगजेब को फिर अपनी राज्य-लिप्सा और हृदय-हीनता का परिचय देने का अच्छा अवसर मिल गया और उसने शाहजहाँ से आज्ञा लेकर बीजापुर पर चढ़ाई कर दी। यह चढ़ाई इतनी अन्यायपूर्ण और अनुचित थी कि उस समय के मुगल दरबार के कई इतिहास-लेखकों को भी इसकी निन्दा करनी पड़ी थी। पर औरंगजेब में इस प्रकार की बातों पर विचार करने के योग्य विवेक ही नहीं था। उसने चढ़ाई के काम में सहायता देने के लिए मीर जुमला को भी बुला लिया और दोनों ने एक बहुत बड़ी सेना लेकर बीदर नगर को जा घेरा। वहाँ का किला भी बहुत बड़ा, अच्छा और मजबूत था और प्रायः अजेय समझा जाता था। वहाँ के किलेदार सीदी मरजान ने बहुत वीरतापूर्वक मुगल सेना का सामना किया; पर संयोग से किले के बारूदखाने में आग लग गई और मुगलों को किले पर अधिकार करने का बहुत अच्छा अवसर मिल गया। औरंगजेब ने नगर में प्रवेश करके शाहजहाँ के नाम का खुतबा पढ़वाया और तब महाबत खाँ को १५ हजार सवार देकर गुलबरगा की ओर भेजा, क्योंकि वहाँ बीजापुरवाले युद्ध की बहुत बड़ी तैयारी कर रहे थे। वहाँ खान मुहम्मद और अफजल खाँ आदि सरदारों ने मुगलों के साथ युद्ध किया, पर वे लोग भी अन्त में परास्त हुए और भाग गये।

इसके बाद औरंगजेब ने चालुक्यों की प्राचीन राजधानी कल्याणी पर, जो बीदर से ४० मील पश्चिम में थी, घेरा डाला। यद्यपि कल्याणी की सेना ने भी घोर युद्ध करके मुगलों को बहुत क्षति पहुँचाई थी, पर फिर भी अन्त में वह हार गई और सन् १६५८ के मध्य में वहाँ भी मुगलों का अधिकार हो गया। अब औरंगजेब बीजापुर पर आक्रमण करना चाहता था, पर इसी बीच में शाहजहाँ ने आज्ञा भेजी कि युद्ध बन्द कर दिया जाय; इसलिए औरंगजेब को लाचार होकर बीजापुर के सुलतान के साथ सन्धि कर लेनी पड़ी। मुगलों को डेढ़ करोड़ रुपया लड़ाई का हरजाना और बीदर, कल्याणी तथा परेन्दा के किले मिल गये।

उत्तराधिकार के लिए झगड़े—मुगल काल में सदा से किसी बादशाह के सिंहासन पर बैठने से पहले उत्तराधिकार के लिए राज-परिवार के लोगों में झगड़े होते चले आते थे। हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ सभी को सिंहासन पर बैठने से पहले अपने प्रतियोगी सम्बन्धियों से कुछ न कुछ लड़ाई-झगड़ा करना पड़ा था। जब सन् १६५७ के आरम्भ में शाहजहाँ अचानक बीमार पड़ा, तब फिर इस पुरानी प्रथा की पुनरावृत्ति हुई। शाहजहाँ के चार लड़के थे जो एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न हुए थे; पर वे भी इतना

बड़ा साम्राज्य पाने के लिए आपस में बिना लड़े नहीं रह सकते थे। उस समय दारा शिकोह की अवस्था ४३ वर्ष, शुजा की ४१ वर्ष, औरंगजेब की ३९ वर्ष और मुरादबख्श की ३३ वर्ष के लगभग थी। चारों ही सेना तथा शासन विभाग में अच्छा अनुभव प्राप्त कर चुके थे, चारों ही उस समय किसी न किसी प्रान्त के सूबेदार थे, और चारों के ही पास बड़ी बड़ी सेनाएँ थीं। दारा शिकोह था तो पंजाब का सूबेदार, पर रहता अपने पिता के पास दरबार में ही था। शुजा बंगाल का, मुराद गुजरात का और औरंगजेब दक्खिन का सूबेदार था। दारा में यद्यपि अनेक गुण थे, पर वह क्रोधी और अभिमानी था; और इसी लिए दरबार में बहुत से लोग उसके शत्रु हो गये थे। उसके धार्मिक विचार भी बहुत उदार थे और वह हिन्दुओं तथा उनके वेदान्त की ओर अधिक अनुरक्त रहता था, इसलिए कट्टर मुसलमान उसे काफिर समझते थे। शुजा ने भोग-विलास में ही अपने अनेक गुणों और शक्तियों का नाश कर डाला था और वह विकट समय पड़ने पर कोई उचित निर्णय नहीं कर सकता था। फिर उसका अभाग्य यहाँ आकर भी अटका था कि वह शीया सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को अच्छा समझता था और इसी लिए कट्टर सुन्नी दरबारी उससे भी नाराज थे। मुराद बहादुर तो जरूर था, पर मूर्ख और विलासी था। पर औरंगजेब में इस प्रकार का कोई दुर्गुण नहीं था। वह वीर, सुयोग्य, चतुर और शान्त होने के अतिरिक्त बहुत बड़ा धूर्त और कूटनीतिज्ञ भी था और कट्टर सुन्नी मुसलमान उसके छल-कपट और धूर्त्तता आदि को भी बहुत बड़ा गुण ही समझते थे; और इसी लिए वे औरंगजेब को बादशाह बनाना चाहते थे। पर शाहजहाँ की कृपा अपने सब से बड़े लड़के दारा पर थी और वह उसी को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। शाहजहाँ की बड़ी लड़की जहान आरा भी दारा के ही पक्ष में थी और सब प्रकार से उसकी सहायता करती थी।

ज्यों ही शाहजहाँ की बीमारी की खबर इन लोगों के पास पहुँची, त्यों ही ये साम्राज्य पर अधिकार करने की तैयारियाँ करने लगे। सब से पहले शुजा ने सितम्बर सन् १६५७ में बंगाल की राजधानी राजमहल में अपने सम्राट् होने की घोषणा की और तब अहमदाबाद में मुराद ने उसका अनुकरण किया। पर औरंगजेब ऐसा मूर्ख नहीं था कि किसी को अपने विचारों या गति-विधि का कुछ भी पता लगने देता। वह अपने सब काम बहुत ही गुप्त रूप से करता था। अक्तूबर मास में उसने नर्मदा के सभी घाटों पर अपने विश्वसनीय सेवकों को नियुक्त कर दिया जिससे उसकी रक्षा भी होती थी

और उसे सब समाचार भी मिलते रहते थे। उसकी बहन शाहजहाँ की छोटी लड़की रोशनआरा भी उसी के पक्ष में थी और गुप्त रूप से आगरे के सब समाचार उसके पास भेजा करती थी। मीर जुमला के पास बहुत अच्छा युरोपियन तोपखाना था, इसलिए उस पर भी वह पूरी दृष्टि रखता था और उसे किसी प्रकार अपने चंगुल से निकलने नहीं देना चाहता था। यह सब व्यवस्था करके औरंगजेब ने सीधे-सादे मुराद को समझौते की बात-चीत छेड़कर अपने जाल में फँसाना चाहा। कहते हैं कि उसने मुराद से यह भी कहा था कि मुझे साम्राज्य की कोई विशेष लालसा नहीं है। मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि दारा सरीखा काफिर सिंहासन पर न बैठने पावे। बल्कि यदि तुम चाहोगे तो मैं तुम्हें सिंहासन पर बैठाकर इन सब झगड़ों से अलग हो जाऊँगा और हज करने के लिए मक्के चला जाऊँगा। अन्त में इन दोनों भाइयों में पक्की लिखा-पढ़ी हो गई कि दोनों भाई सारा साम्राज्य आपस में बाँट लेंगे। मुराद का पंजाब, काबुल, काश्मीर और सिन्ध मिलना निश्चित हुआ और शेष अंश औरंगजेब को। अब दोनों अपने अपने स्थान से आगरे की ओर बढ़े और मालवे में दिपालपुर नामक स्थान में दोनों की भेंट हुई।

इस बीच में शाहजहाँ की तबीयत कुछ सँभल गई थी और वह दारा को अपना उत्तराधिकारी बनाने की व्यवस्था करने लगा। इसी बीच में समाचार मिला कि शुजा बंगाल से आ रहा है और बनारस तक पहुँच गया है। इसलिए शाहजहाँ ने दारा के लडके सुलैमान शिकोह को मिरजा राजा जयसिंह के साथ कुछ सेना देकर बनारस की ओर भेजा। शुजा की सेना के साथ इन लोगों का युद्ध बहादुरगढ़ में फरवरी सन् १६५८ में हुआ जिसमें शुजा हार गया। उधर महाराज जसवन्तसिंह और कासिमखाँ की अधीनता में एक दूसरी सेना मालवे की ओर मुराद और औरंगजेब को रोकने के लिए भेजी गई। १५ अप्रैल सन् १६५८ को उज्जैन के पास धरमत नामक स्थान में दोनों पक्षों की मुठभेड़ हुई। औरंगजेब और मुराद ने साम्राज्य की सेना को परास्त किया और तब वे फिर आगरे की ओर बढ़ने लगे।

दारा भी चारों तरफ दृष्टि रखता था। जब उसने यह समाचार सुना, तब तुरन्त एक बड़ी सेना एकत्र करके वह अपने इन दोनों भाइयों का मार्ग रोकने के लिए निकल पड़ा। शाहजहाँ तथा कुछ और लोगों ने उससे कहा था कि तुम अभी जरा रुक जाओ और उस सेना को लौट आने दो जो शुजा के विरुद्ध भेजी गई है। पर वह किसी की सुननेवाला नहीं था। वह अपने पास की सेना को लेकर चल पड़ा, पर वह सेना औरंगजेब के साथ ही अधिक सहानुभूति

रखती थी, उसके साथ नहीं। २९ मई को सामूगढ़ में दोनों सेनाओं का युद्ध हुआ। उस युद्ध में मुराद और औरंगजेब अपनी जान हथेली पर रखकर और सबसे आगे होकर लड़े थे, क्योंकि उनके लिए यह जीवन और मरण का प्रश्न था। दारा के साथ जो ५० हजार सैनिक थे, उनमें राजपूतों की संख्या यथेष्ट थी। वे राजपूत बहुत वीरतापूर्वक लड़े थे। पर अभाग्यवश दारा का हाथी एक तीर लगने से बुरी तरह घायल हुआ था, इसलिए वह उसपर से उतर कर एक घोड़े पर सवार हो गया। बस उसी समय अपने नेता को न देख सकने के कारण शाही फौज में भगदड़ मच गई। लाचार दारा को भी युद्ध-क्षेत्र से भागना पड़ा। उसकी छावनी और तोपों आदि पर अधिकार करके औरंगजेब आगरे की ओर बढ़ा। वहाँ पहुँच कर उसने आगरे के किले पर आक्रमण किया। इस पर दारा अपने परिवार के लोगों को लेकर किले से किसी प्रकार भाग निकला। आगरे के किले में पीने का पानी जमना से ही जाता था। औरंगजेब ने वह पानी जाना बन्द कर दिया। बुड्ढा शाहजहाँ अपने पुत्र औरंगजेब की यह करतूत देखकर अवाक् रह गया। फिर भी उसने किसी तरह अपने होश ठिकाने करके औरंगजेब को शान्त करना चाहा और उसके पास पैगाम भेजा और साथ ही आलमगीर नाम की अपनी सुप्रसिद्ध तलवार भेजी। पर औरंगजेब भला इस तरह की बातों के फेर में कब आनेवाला था! जब शाहजहाँ और किले के अन्दर रहनेवाले दूसरे लोग प्यासे मरने लगे, तब शाहजहाँ को लाचार होकर किले के दरवाजे खुलवा देने पड़े। औरंगजेब ने किले में प्रवेश करके शाहजहाँ को गिरिफ्तार कर लिया और कैदी बनाकर कड़े पहरे में रख दिया। (८ जून)

शीघ्र ही मुराद को पता चल गया कि औरंगजेब मुझे धोखा देना चाहता है और उसने जो वचन मुझे दिये हैं, उनका पालन करने की उसकी तनिक भी इच्छा नहीं है। इसलिए वह धीरे धीरे अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने लगा। पर औरंगजेब की चालाकियों का उसे पता भी नहीं चल सकता था। औरंगजेब ने उससे कहा कि दारा दिल्ली की तरफ भाग गया है और उधर कुछ उपद्रव करना चाहता है, इसलिए पहले चलकर उसे गिरिफ्तार करना चाहिए। सीधा सादा मुराद उसकी बातों में आकर उसके साथ हो लिया। मथुरा पहुँचते ही औरंगजेब ने अपना मतलब पूरा करना चाहा और रात को अपने यहाँ मुराद की दावत की। उस दावत में उसने पहले तो मुराद को बहुत अधिक शराब पिलाई; और जब वह बदहोश हो गया, तब उसे भारी भारी हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ पहनाकर कैद कर लिया और पहले तो उसे दिल्ली के पास सलीमगढ़

के कैदखाने में और तब वहाँ से गवालियर भेज दिया। उसके कुछ साथियों ने एक बार उसे वहाँ से छुड़ाने का भी प्रयत्न किया था और सब तैयारियाँ भी कर ली थीं। पर इसी बीच में एक विशिष्ट घटना के कारण पहरेदार जाग गये और मुराद भाग न सका। अब औरंगजेब ने सोचा कि जैसे हो, मुराद का अन्त कर देना चाहिए। कुछ ही दिनों बाद मुराद पर हत्या का अभियोग लगाया गया और काजियों तथा मुफ्तियों आदि से उसका न्याय करा के दिसम्बर सन् १६६१ में उसे प्राण-दण्ड दिलवा दिया गया।

शुजा और दारा का अन्त—मुराद का काम तमाम करके औरंगजेब ने शुजा और दारा का भी सदा के लिए अन्त कर देना निश्चित किया। युद्ध-क्षेत्र में हारने के उपरान्त पहले तो दारा दिल्ली गया; और जब उसने देखा कि औरंगजेब यहाँ भी मेरा पीछा करता हुआ चला आ रहा है, तब वह भागकर पहले लाहौर और तब वहाँ से मुलतान जा पहुँचा। औरंगजेब भी उसका पीछा करता हुआ मुलतान गया। इतने में उसे समाचार मिला कि बंगाल में शुजा फिर से लड़ाई की तैयारी कर रहा है। इसलिए दारा का पीछा करने का काम वह अपने कुछ विश्वसनीय कर्मचारियों को सौंप कर आप बंगाल की ओर चला। ५ जनवरी सन् १६५९ को फतहपुर जिले के खजवाह नामक स्थान में युद्ध करके उसने शुजा को भी पूर्ण रूप से परास्त किया। शुजा वहाँ से भागकर बंगाल चला गया; और जब वहाँ भी उसका ठिकाना न लगा, तब वह अराकान चला गया। फिर किसी को उसका पता न चला। पर अब एक डच व्यापारी के लेख से पता चला है कि मघों के देश में पहुँचकर उसने वहाँ के शासक को सिंहासन से उतारने का प्रयत्न किया था, इसलिए मघों ने ही उसे मार डाला था।

उधर दारा भी चारों तरफ भागता फिरता था और औरंगजेब की सेना उसका पीछा करती थी। वह मुलतान से गुजरात पहुँचा और वहाँ सूरत पर उसका अधिकार भी हो गया। पर इस बीच में उसने एक भूल यह की कि अपने एक सच्चे सहायक दाऊदखाँ को अपने यहाँ से निकाल दिया। दाऊदखाँ जाकर औरंगजेब के पक्ष में मिल गया। उस समय यदि दारा दक्षिण की ओर चला जाता तो बहुत सम्भव था कि वहाँ उसे यथेष्ट सहायता मिलती; पर उसने कन्धार होते हुए फारस की ओर निकल जाना ही अच्छा समझा। यद्यपि काठियावाड़ के सूबेदार शाहनवाज खाँ ने उसे यथेष्ट सहायता दी थी और सूरत पर उसका अधिकार कराके उसे बहुत सा धन भी दिला दिया था, पर फिर भी वह किसी की सलाह मानने को तैयार नहीं

होता था और जो मन में आता था, वही करता था। इसलिए वह सिन्ध होता हुआ बोलन के दर्रे के पास दादर नामक स्थान में जा पहुँचा। वहाँ के सरदार मलिक जीवन का उसने एक बार बड़ा उपकार किया था और उसे आशा थी कि इस समय वह मेरी पूरी सहायता करेगा। बरनियर ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि उसकी स्त्री और बच्चों ने उस समय उससे घुटने टेक कर प्रार्थना की थी कि तुम पठान सरदार के पास मत जाओ, नहीं तो वह तुम्हें भारी धोखा देगा। पर दारा ने उन लोगों की बात नहीं मानी और वह सीधा मलिक जीवन के पास जा पहुँचा। मलिक जीवन ने उसके उपकार का बदला इस प्रकार चुकाया कि उसे औरंगजेब के आदमियों के सपुर्द कर दिया (९ जून सन् १६५९)। दारा पकड़कर दिल्ली लाया गया और औरंगजेब की आज्ञा से बहुत बुरी तरह से अपमानित करके और एक बहुत ही गन्दे हाथी पर फटे-चीथड़े पहनाकर सारे शहर में घुमाया गया। उस समय विश्वासघातक मलिक जीवन भी बड़ी शान से घोड़े पर सवार होकर उसके साथ साथ घूमा था। इससे दिल्लीवाले मलिक जीवन पर भी बहुत बिगड़े थे और उन्होंने उसे मार डालने का भी प्रयत्न किया था। पर वह बच गया। इस पर औरंगजेब ने आज्ञा दे दी कि दारा का सिर काट लिया जाय। अन्त समय में दारा का लड़का सिपहर शिकोह अपने पिता से लिपट गया था। पर हत्यारों ने जबरदस्ती उसे दारा से अलग करके दारा का सिर काट डाला। (३० अगस्त)

फरवरी सन् १६५८ में दारा ने बनारस के पास बहादुरगढ़ में शुजा को परास्त करके उसका पीछा करने के लिए अपने बड़े लड़के सुलेमान शिकोह को भेज दिया था। इसके बाद मई में जब समूगढ़ में दारा और औरंगजेब का युद्ध हुआ था, तब तक सुलेमान शिकोह लौटकर अपने पिता के पास नहीं पहुँच सका था। इसलिए वह भागकर गढ़वाल चला गया था। पर औरंगजेब ने वहाँ से भी उसे पकड़वा मँगाया और कैद करके ग्वालियर के किले में रख दिया। वहाँ उसे खूब पोस्त पिला पिलाकर अन्त में उसके भी प्राण ले लिये गये। उसका छोटा भाई सिपहर शिकोह बच गया था, पर उसकी अवस्था उस समय अधिक नहीं थी। इसलिए औरंगजेब ने उसे छोड़ दिया और कुछ दिनों बाद जब वह बड़ा हुआ, तब उसके साथ अपनी तीसरी कन्या का विवाह कर दिया। इसी प्रकार मुराद के लड़के के साथ भी उसने अपनी पाँचवीं कन्या का विवाह कर दिया था। पर औरंगजेब के इन दोनों भतीजों के प्राण केवल इसलिए बच गये थे कि औरंगजेब का साम्राज्य पर पूर्ण रूप से

अधिकार हो चुका था और इन लड़कों की ओर से उसे कोई खटका नहीं था, क्योंकि उनका कोई साथी और सहायक नहीं था। और साथ ही शायद औरंगजेब यह भी समझता था कि यदि आवश्यकता होगी तो मैं इनका भी तुरन्त अन्त कर डालूँगा।

औरंगजेब का राज्यारोहण—यों तो जिस दिन औरंगजेब ने आगरे के किले पर अधिकार किया था, उसी दिन से शाहजहाँ के शासन का अन्त हो गया था, पर अपने सम्राट् होने की घोषणा औरंगजेब ने २१ जुलाई सन् १६५८ को उस समय दिल्ली पहुँच कर की थी, जब वह दारा का पीछा करता हुआ पंजाब की ओर जा रहा था। आलमगीर की उपाधि भी उसने उसी समय धारण की थी और अपने राज्याभिषेक का उत्सव किसी उपयुक्त समय के लिए टाल दिया था।

कैद में शाहजहाँ—हम पहले बतला चुके हैं कि आगरे के किले में पहुँचते ही औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहाँ को कैद कर लिया था। उसने उसे जनाने महल के एक कमरे में रखकर ताकीद कर दी थी कि सिवा थोड़े से खास खास आदमियों के और कोई उसके पास न जाने पावे। शाहजहाँ का अपनी कन्या जहान आरा पर बहुत अधिक प्रेम था, इसलिए वह भी उसके पास रहकर बहुत ही निष्ठा और भक्तिपूर्वक उस विपत्ति काल में अपने वृद्ध पिता की सेवा करती थी और उसे सान्त्वना देकर सुखी करने का प्रयत्न करती थी। पर फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि औरंगजेब ने उस अवस्था में भी उसे बहुत अधिक कष्ट में रखा था। जहान आरा ने अपने पिता और भाई में मेल कराने का भी प्रयत्न किया था, पर कुछ तो औरंगजेब मेल करने-वाला आदमी ही नहीं था और कुछ इस कारण वह और भी सतर्क हो गया था कि उसके हाथ में शाहजहाँ का लिखा हुआ एक ऐसा गुप्त पत्र पड़ गया था जिसमें उसने दारा को लिखा था कि अभी तुम कुछ दिन दिल्ली में ठहरो तो मैं तुम्हारी कुछ व्यवस्था कर दूँगा। और शायद यही कारण था कि औरंगजेब ने दारा की हत्या कराने से पहले उसे अत्यन्त अपमानित कराके सारे नगर में घुमाया था। जो हो, शाहजहाँ को प्रायः आठ वर्ष बहुत ही कष्ट में आगरे के किले की कैद में बिताने पड़े थे। अन्त में २२ जनवरी सन् १६६६ को ७४ वर्ष की अवस्था में शाहजहाँ का देहान्त हो गया। मरते समय उसकी दृष्टि सामनेवाले ताज महल की ओर लगी थी और उसने कह दिया था कि मेरी लाश भी वहीं गाड़ी जाय। शाहजहाँ मरता मरता मर गया, पर औरंगजेब कभी उसे देखने तक न गया। उसके मरने पर जहान आरा

चाहती थी कि कम से कम उसकी लाश ही राजसी ठाठ से ले जाकर दफनाई जाय। पर औरंगजेब ने इसे भी मंजूर नहीं किया, और यहाँ तक कि उसे किले के सदर फाटक से भी नहीं निकलने दिया। लाचार किले के समन बुर्ज के नीचे दीवार तोड़कर रास्ता बनाया गया और हीजड़ों तथा नीच जाति के लोगों से उसकी लाश उठवा कर उसी रास्ते से चुपचाप ताज महल में भेज दी गई। जहान आरा ने जो दो हजार अशरफियाँ मुरदे पर से लुटाने के लिए भेजी थीं, वह भी छीन ली गईं। शाहजहाँ सरीखे न्यायशील और लोकप्रिय बादशाह का इस बुरे प्रकार से अन्त होता देखकर सारा आगरा शोक सागर में डूब गया। यों तो औरंगजेब ने अपने जीवन काल में बहुत से निन्दनीय कृत्य किये थे, पर कदाचित् इससे अधिक निन्दनीय उसका और कोई कार्य नहीं हो सकता।

अपने पिता के मरने के बाद जहान आरा लाहौर चली गई और वहीं ६ सितम्बर सन् १६८१ को उसका देहान्त हो गया। वह बहुत ही दयालु, उदार और धर्मात्मा थी और मरने पर निजामउद्दीन औलिया की दरगाह में गाड़ी गई थी।

शाहजहाँ का व्यक्तित्व—शाहजहाँ अनेक दृष्टियों से बहुत ही योग्य शासक था और उसके सूक्ष्मदर्शी दादा अकबर ने उसकी बाल्यावस्था में ही समझ लिया था कि जहाँगीर के सब लड़कों में यही सबसे अधिक होनहार है। बाल्यावस्था में उसे बड़े बड़े विद्वानों से बहुत अच्छी शिक्षा दिलवाई गई थी और २४ वर्ष की अवस्था तक वह मद्यपान आदि दोषों से बिलकुल बचा रहा था। उन दिनों शाहजादों आदि को जिन जिन विषयों की शिक्षा दी जाती थी, प्रायः उन सब में वह बहुत कुशल था। वह तुर्की, फारसी और हिन्दी भाषा में बहुत अच्छी तरह बात-चीत कर सकता था। संगीत शास्त्र और वास्तु कला का भी वह बहुत अच्छा ज्ञाता था। वह सौन्दर्य का भी उपासक था और सदा बहुत स्वच्छता तथा पवित्रता-पूर्वक रहता था। उसने भारत के बड़े बड़े नगरों में जैसे सुन्दर महल, मसजिदें, मकबरे, नहरें और बाग आदि बनवाये थे, वैसे उससे पहले के और किसी बादशाह ने नहीं बनवाये थे। तात्पर्य यह कि वास्तु में उसने बहुत अधिक धन व्यय किया था। उसके बनवाये हुए ताज महल का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। आगरे के किले में उसने कई बहुत सुन्दर इमारतें बनवाई थीं। दिल्ली के पास उसने शाहजहानाबाद नाम का एक नया नगर बसाया था। उसके खजाने में बहुत से बहुमूल्य रत्न थे जो बन्द

पड़े रहते थे और जिन्हें कोई देखने नहीं पाता था। इसलिए उसने सुप्रसिद्ध मयूर सिंहासय बनवाया था, जिसमें खजाने के भी बहुत से जवाहिरात लगाये गये थे और दूर दूर से भी जवाहिरात मँगाये गये थे। यह सिंहासन सवा तीन गज लम्बा, ढाई गज चौड़ा और पाँच गज ऊँचा था और इसे तैयार करने के लिए खजाने से एक लाख तोले सोना और ८४ लाख रुपये मूल्य के जवाहिरात दिये गये थे। यह सिंहासन ठोस सोने का था और इसमें सिर से पैर तक जवाहिरात जड़े हुए थे। इसमें पन्ने के बारह खम्भे थे और प्रत्येक खम्भे पर जवाहिरात का एक एक मोर बना था। इसी से इसे तख्त-ताऊस (मयूर सिंहासन) कहते थे। सिंहासन पर चढ़ने की तीन सीढ़ियाँ थीं और उन सब पर जवाहिरात जड़े हुए थे। दोनों ओर हाथ टेकने के जो तख्ते थे, वे दस लाख रुपये के थे। यह सन् १६३४ में बनकर तैयार हुआ था। नादिर शाह ने जिस समय भारत पर आक्रमण किया था, उस समय वह यह तख्त भी भारत से अपने साथ फारस ले गया था।

शाहजहाँ अपने सम्बन्धियों और परिवार के लोगों के साथ बहुत अधिक प्रेम का व्यवहार करता था। विशेषतः अपनी बेगम अर्जमन्द बानो और बड़ी लड़की जहानआरा के साथ उसका बहुत अधिक प्रेम था। लड़कों में वह दारा को सब से अधिक चाहता था। पर दुःख है कि उसे अपने जीवन काल में ही अपने तीन तीन पुत्रों का शोक सहना पड़ा और साथ ही औरंगजेब के हाथों वर्णनातीत कष्ट भोगना पड़ा। औरंगजेब से वह बहुत अधिक नाराज रहता था। कहते हैं कि जब औरंगजेब ने अपने राज्यारोहण के समय शाहजहाँ से कुछ जवाहिरात माँगे थे, तब वह मारे क्रोध के आपे से बाहर हो गया था और कई दिनों तक उसकी दशा पागलों की सी हो गई थी। वह अपनी लड़की से बिगड़ बिगड़कर कहा करता था कि तुम ऊखली और मूसल ले आओ और मैं इन सब जवाहिरात को चकनाचूर कर डालूँगा, पर औरंगजेब के हाथ नहीं लगने दूँगा।

शाहजहाँ दानी भी बहुत बड़ा था और प्रायः मुल्लाओं आदि को यथेष्ट धन देता था। उसने कई बार बहुत बड़ी रकमें मक्के के शरीफ के पास भी भेजी थीं। वह अपने धर्म का पक्का अनुयायी था और शायद इसी लिए वह कभी कभी हिन्दुओं पर अत्याचार भी कर बैठता था। एक बार उसने आज्ञा दी थी कि मेरे राज्य में मेरे शासन काल में जितने नये मन्दिर बने हों, वे सब गिरा दिये जायँ। उस समय एक काशी नगरी में ही ७६ नये मन्दिर तोड़े गये थे।

पर शाहजहाँ ने भोग-विलास में पड़ कर अपने शरीर और आत्मा को नितान्त दुर्बल बना लिया था और यही कारण था कि जब उसके हाथ से अधिकार छीना जाने लगा, तब वह चुपचाप मुँह ताकता रह गया और उसका कुछ भी प्रतिकार न सका। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उसके शासन काल में मुगल साम्राज्य का वैभव अपनी चरम सीमा को पहुँच गया था। जिस प्रकार अकबर का महत्व बड़े बड़े देशों पर विजय प्राप्त करने और अच्छे अच्छे कानून आदि बनाने में है, उसी प्रकार शाहजहाँ का महत्व साम्राज्य का योग्यतापूर्वक शासन करने में माना जाता है। उसके शासन काल में बरनियर और टैवरनियर नामक जो दो फ्रान्सीसी यात्री भारत आये थे, उनके लेखों से भी इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं। उसके समय में प्रजा बहुत सुख और शान्तिपूर्वक रहती थी और अपराधियों को कठोर दंड दिया जाता था। उसने अपने जीवन काल में बहुत अधिक वैभव और सुख का भोग किया था; पर उसके अन्तिम आठ वर्ष भी उतने ही कष्ट में बीते थे और उसका अन्त बहुत ही बुरी तरह से हुआ था। और इसके लिए दोषी एक मात्र औरंगजेब था।

नियन्त्रण में रखा करते थे कि कहीं इनके आचारणों के कारण शाह जी भोंसला पर कोई भारी विपत्ति न आ जाय। पर जब सन् १६४७ में दादो जी की मृत्यु हो गई, तब शिवा जी को परम स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी योजनाओं को कार्य रूप में परिणत करने का अच्छा अवसर मिल गया।

बीजापुर के किलों पर अधिकार—बीजापुर का सुलतान मुहम्मद आदिल शाह सन् १६४६ में बीमार पड़ा और तभी से उसका शासन शिथिल होने लगा। उसी वर्ष शिवा जी ने सबसे पहले बीजापुर राज्य के तोरण नामक किले पर अधिकार कर लिया जहाँ उन्हें सौभाग्य से बहुत अधिक धन भी मिल गया। बीजापुर की सरकार ने इस पर आपत्ति की और शाह जी ने शिवा जी को समझाना चाहा, पर उन्होंने किसी की न सुनी और वे बराबर अपने उद्योग में लगे रहे। धीरे धीरे उन्होंने चाकन, कोडन और पुरन्दर आदि के बहुत से किलों पर अधिकार कर लिया और कोंकण में प्रवेश करके कल्याण पर भी अधिकार कर लिया; और कोलाबा के आस-पास के हिन्दू सरदारों और जागीरदारों को मुसलमानों के शासन के विरुद्ध भड़काना आरम्भ किया। शिवा जी की इन कार्रवाइयों से बीजापुर दरबार में खलबली मच गई। आदिल शाह ने और कोई उपाय न देखकर शिवा जी के पिता शाह जी को क़ैद कर लिया और उनकी जागीरें जब्त करने की आज्ञा दे दी। शिवा जी को भय हुआ कि कहीं सुलतान पिता जी के प्राण न ले ले, इसलिए वे कुछ दिनों तक शान्त रहे और एक दूसरे मार्ग से अपना उद्देश्य सिद्ध करने का प्रयत्न करने लगे। वे शाहजादा मुराद से मिल गये जो उन दिनों दक्षिण का सूबेदार था और उससे कहा कि यदि आप मेरे पिता को मुक्त करा दें तो मैं मुगल साम्राज्य की सेवा में आ जाऊँगा। पर इसी बीच में शाह जी ने बीजापुर दरबार के दरबारी और अपने मित्र दो मुसलमान सरदारों की सहायता से अपना छुटकारा करा लिया (दिसम्बर १६४९)। शाह जी को छोड़ने में शर्त्त यह थी कि शिवा जी शान्त रहें और कोई नया उपद्रव न करें। इसलिए अपने पिता की रक्षा के विचार से सन् १६५५ तक शिवा जी को चुपचाप बैठे रहना पड़ा। इस बीच में उन्होंने बीजापुर राज्य में कोई नया आक्रमण नहीं किया और सारा समय अपना शासन संघटित और दृढ़ करने में लगाया। पर सन् १६५५ में उन्होंने जावली राज्य पर अधिकार कर लिया, क्योंकि बिना ऐसा किये वे दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ नहीं सकते थे। इसके बाद जब सन् १६५६ में मुहम्मद आदिल शाह की मृत्यु हो गई, और उसका अठारह वर्ष का लड़का सिंहासन

पर बैठा, तब औरंगजेब ने मार्च सन् १६५७ में मीर जुमला को साथ लेकर बीजापुर पर आक्रमण कर दिया। उस समय बीजापुर ने मुगलों के साथ सन्धि कर ली। पर उसी समय शाहजहाँ बीमार पड़ गया और औरंगजेब उत्तरी भारत की ओर चला गया जिससे दक्षिण का मैदान शिवा जी के लिए बिल्कुल साफ हो गया। तब बीजापुर दरबार से अफजल खाँ शिवा जी का दमन करने के लिए भेजा गया। शिवा जी ने अफजल खाँ का जिस प्रकार अन्त किया, उसका वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है, अतः यहाँ उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं।

अफजल खाँ का वध करने के उपरान्त शिवा जी ने उसकी सेना को तितरी-बितर करके पन्हालगढ़ के किले पर अधिकार कर लिया। जब बीजापुर की सेना किसी प्रकार शिवा जी का दमन न कर सकी, तब लाचार होकर बीजापुर दरबार को शिवा जी के साथ सन्धि कर लेनी पड़ी; और शिवा जी ने जिन प्रदेशों और किलों आदि पर अपना अधिकार कर लिया था, उन सबका उन्हें स्वामी मान लेना पड़ा।

मुगल प्रान्तों पर आक्रमण—इस प्रकार दक्षिण में पूर्ण रूप से अपना प्रभुत्व स्थापित करके शिवा जी ने अब मुगल प्रान्तों पर आक्रमण आरम्भ किये। इस पर सन् १६६० में औरंगजेब ने शाइस्ता खाँ को दक्षिण का सूबेदार बनाकर शिवा जी का दमन करने के लिए भेजा। यद्यपि शाइस्ता खाँ ने अपनी बहुत बड़ी सेना की सहायता से शिवा जी के कुछ किलों पर अधिकार कर लिया, पर फिर भी शिवा जी ने मुगल सेना पर छापे मार मार कर और उनका माल-असबाब लूट-लूट कर उसे बहुत परेशान किया। इसके बाद शाइस्ता खाँ किस प्रकार तंग होकर पूने चला गया और वहाँ पहुँच कर शिवा जी ने किस प्रकार उसपर आक्रमण करके और उसके हाथ की उँगलियाँ काट कर उसे वहाँ से भगाया और तब बाद में किस प्रकार उसे कई बार अपमानित और लज्जित किया, यह पिछले पृष्ठों में विस्तार-पूर्वक बतलाया जा चुका है। हम यह भी बतला चुके हैं कि शिवा जी किस प्रकार आगरे पहुँचे और वहाँ कैद हुए और तब किस प्रकार वे वहाँ से छूट कर अपने देश में आये। अन्त में औरंगजेब को विवश होकर उनका अधिकार स्वीकृत करना पड़ा था और उन्हें बरार में जागीर, राजा की उपाधि और चौथ वसूल करने का अधिकार देना पड़ा था। पर शिवाजी फिर भी समय समय पर मुगल प्रान्तों पर आक्रमण करते ही रहते थे और बराबर अपना अधिकार

बढ़ाते जाते थे। यहाँ तक कि अन्त में उन्होंने एक बहुत बड़े राज्य की स्थापना कर ली। वे अजेय और अदम्य थे और अन्त तक ऐसे ही बने रहे।

शिवा जी का राज्याभिषेक—जब शिवा जी ने अपने राज्य का यथेष्ट विस्तार कर लिया और कोई उनका सामना करनेवाला न रह गया, तब जून सन् १६७४ में उन्होंने रायगढ़ में पूरे राजसी ठाठ-बाट के साथ अपना राज्याभिषेक कराके छत्रपति की उपाधि धारण की और इस प्रकार मुसलमानों के घोर विरोध करते रहने पर भी एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी। उन्होंने अपने नाम का एक संवत् भी चलाया। हेनरी आक्सिडन नामक एक अँगरेज राजदूत भी उस समय उनके दरबार में उपस्थित था जिसे उन्होंने सिरोपाव दिया था। इसके बाद वे दक्षिण में अपने राज्य का विस्तार करने लगे। उन्होंने तंजौर पहुँच कर अपने भाई वेंका जी से अपने पिता की जागीर में से अपना अंश ले लिया और जिंजी तथा वेल्लौर पर भी अधिकार कर लिया। इसके बाद उन्होंने मुगलों के विरुद्ध बीजापुर को भी सहायता दी और दक्षिण के मुगलों को निकाल दिया। अब उत्तर में बदनौर से लेकर दक्षिण में तंजौर तक उनका राज्य हो गया और बीजापुर तथा गोलकुंडा सरीखे राज्य उनके मित्र और सहायक बन गये।

शिवाजी का परलोक-वास—जिस समय शिवाजी का राज्य और वैभव अपनी चरम सीमा को पहुँचा था, लगभग उसी समय उनका अन्त आ गया। उनके अन्तिम दिन कुछ चिन्ता में बीते थे। उनके दो लड़के शम्भाजी और राजाराम थे और ये दोनों मुगल शाहजादों का अनुकरण करते हुए आपस में राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए लड़ रहे थे। तंजौर में उनके भाई वंकोजी भी कुछ उपद्रव करने लग गये थे। इससे शिवाजी को भय होने लगा था कि मेरा सारा किया-कराया परिश्रम कहीं नष्ट न हो जाय। मुगलों के विरुद्ध शिवाजी की कई बड़ी बड़ी योजनाएँ थीं, पर क्रूर तथा कराल काल ने वे योजनाएँ पूरी नहीं होने दीं और केवल एक सप्ताह बीमार रहने के बाद ४ अप्रैल सन् १६८० को ५३ वर्ष की अवस्था में उनका परलोक-वास हो गया।

राज्य का विस्तार और व्यवस्था—शिवाजी का राज्य पश्चिमी घाट और कोंकण में कल्याण से गोआ तक था। उत्तर और पूर्व में बगलाना तक और दक्षिण में नासिक और पूना तक था। इसके सिवा मृत्यु से कुछ दिन पहले उन्होंने दक्षिण में समस्त पश्चिमी कर्नाटक पर अधिकार कर लिया था। यह अंश बेलगाँव से लेकर तुंगभद्रा नदी तक था जो आजकल के मदरास प्रान्त के बेलारी जिले के पास पड़ता है।

कुछ युरोपियन इतिहास-लेखकों का मत है कि मराठों के राज्य का आधार केवल लूट-पाट था और वे देशों को जीतकर उनसे कर वसूल करके ही उन्हें छोड़ देते थे। परवर्त्ती मराठों के सम्बन्ध में यह बात भले ही किसी अंश में ठीक हो, पर शिवाजी के शासन के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। वे बहुत बड़े योद्धा, चतुर शासक और कुशल राजनीतिज्ञ थे और समय देखकर सब काम करते थे। उन्होंने जितने प्रदेशों को जीता था, उन सबके शासन की बहुत अच्छी व्यवस्था की थी। वे अपनी प्रजा को सदा सब प्रकार से सुखी रखते थे और मुसलमानों के अत्याचारों से बराबर उनकी पूरी पूरी रक्षा करते थे। उन्होंने राज-कार्यों के संचालन के लिए आठ मन्त्री रखे थे जो अष्ट-प्रधान कहलाते थे। उनके नाम और कार्य इस प्रकार हैं—(१) पेशवा या प्रधान मन्त्री जो राज्य के सभी कार्यों की देख-रेख करता था। (२) अमात्य या अर्थ-मन्त्री। (३) मन्त्री जो राज्य और दरबार की घटनाएँ लिखता था। (४) सुमन्त या पर-राष्ट्र सचिव। (५) सचिव जो शिवाजी के पत्र आदि लिखता था और सरकारी कागजों पर जिसकी मोहर होती थी। (६) पंडितराव या दानाध्यक्ष जो विद्वानों और धार्मिक कार्यों के लिए दान आदि की व्यवस्था करता था। (७) सेनापति जो राज्य की समस्त सेनाओं का अध्यक्ष था। और (८) न्यायाध्यक्ष या न्याय विभाग का प्रधान।

राज्य में अठारह विभाग थे जिनका प्रबन्ध मन्त्री लोग स्वयं शिवाजी के निरीक्षण में करते थे। सारा राज्य तीन सूबों और बहुत से छोटे छोटे प्रान्तों या जिलों में बँटा हुआ था। राजकर्मचारियों को वेतन मिलता था, जागीरें नहीं दी जाती थीं। प्रान्तों के शासक और अष्ट-प्रधान में के मन्त्री आदि वही लोग हो सकते थे जो अच्छे वीर और योद्धा होते थे और युद्धों में अच्छे अच्छे काम कर दिखलाते थे। शिवाजी के समय में प्रान्तीय शासकों का पद पैतृक नहीं होता था; क्योंकि इसमें इस बात का भय होता था कि कहीं वे लोग समय पाकर स्वतन्त्र न हो जायँ। पर शिवाजी के बाद में ये पद वंशानुक्रम से दिये जाने लगे थे जिसका परिणाम मराठा साम्राज्य के लिए बहुत ही बुरा हुआ था।

चौथ और सरदेशमुखी—शिवाजी और उनके बाद के मराठे शासक दूसरे प्रदेशों से चौथ और सरदेशमुखी नामक कर वसूल किया करते थे। इन करों के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न विद्वानों और इतिहास-लेखकों के भिन्न भिन्न मत हैं। परन्तु सुप्रसिद्ध विद्वान और राजनीतिज्ञ जस्टिस महादेव गोविन्द रानडे ने बहुत कुछ खोज के बाद निश्चित किया है कि दूसरे राज्यों से चौथ यों ही नहीं वसूल की जाती थी, बल्कि उसके साथ मराठों पर इस बात का

उत्तरदायित्व और भार भी रहता था कि यदि कोई बाहरी शक्ति चौथ देनेवाले किसी राज्य या प्रदेश पर आक्रमण करेगी, तो मराठे उनकी रक्षा करेंगे। कुछ विद्वानों का मत है कि इस प्रकार का कर शिवाजी के समय से पहले भी भारत के अनेक भागों में लिया जाता था। यह चौथ भूमिकर से होनेवाली आय का एक चतुर्थांश होती थी। सरदेशमुखी वह कर होता था जो किसी प्रान्त या देश के प्रधान शासक अपने वेतन या पारिश्रमिक के रूप में प्राप्त करते थे। छोटे जिलों के अधिकारी और शासक देसाई या देशमुख कहलाते थे; और इस प्रकार के बहुत से देशमुखों का जो प्रधान होता था, वह सरदेशमुख कहलाता था। सरदेशमुखी कर उसी के व्यय के निर्वाह के लिए लिया जाता था। अपने समय में शिवाजी ही अपने अधीनस्थ समस्त देश के सरदेशमुख थे।

सैनिक व्यवस्था—शिवजी स्वयं बहुत बड़े योद्धा और सेनापति थे, इसलिए उन्होंने अपनी सेना का बहुत अच्छा संघटन किया था और प्राचीन सैनिक व्यवस्था में अनेक सुधार भी किये थे। सेनाओं के मुख्य केन्द्र गढों या किलों में होते थे; और कहा जाता है कि शिवाजी के पास सब मिलाकर २८० किले और गढ थे और उन्हीं के बल पर वे सारे देश का शासन और शत्रुओं से अपनी रक्षा करते थे। प्रत्येक गढ में सैनिक व्यवस्था के लिए एक मराठा हवलदार, आस-पास की प्रजा का शासन करने और कर संग्रह करने के लिए एक एक ब्राह्मण सूबेदार और सेना की रसद और चारे आदि की व्यवस्था करने के लिए प्रभु या कायस्थ जाति का एक और कर्मचारी रहता था। सेना में भी सभी जातियों के सैनिक भरती किये जाते थे। चतुर राजनीतिज्ञ शिवाजी शासन आदि कार्यों में कभी किसी एक जाति को प्रधानता नहीं देते थे, बल्कि सभी जातियों के लोगों को उसमें रखते थे। उनकी सेना में वेतन पानेवाले स्थायी सैनिक होते थे। शिवाजी की मृत्यु के समय उनकी सेना में प्रायः चालिस हजार घुड़-सवार और एक लाख पैदल सैनिक थे। इसके सिवा १२०० से ऊपर हाथी और बहुत सी तोपें आदि भी थीं। सेना विभाग में हिन्दू मुसलमान का भी कोई भेद नहीं किया जाता था। जो निष्ठ सैनिक वीरतापूर्वक लड़ते हुए युद्ध-क्षेत्र में मारे जाते थे, उनके बाल-बच्चों की भी शिवाजी परवरिश करते थे। उनकी वीरता, उदारता, सज्जनता और सच्चरित्रता आदि गुणों के कारण दूर दूर से लोग आकर उनके यहाँ नौकरी करते थे। सेना की व्यवस्था के लिए भी उन्होंने बहुत अच्छे नियम बनाये थे। उनमें से एक नियम यह भी था कि सेना विभाग में भरती होनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को अपनी नेकचलनी की जमानत देनी पड़ती थी।

पुराने मुसलमान इतिहास-लेखकों ने और उन्हीं के ग्रन्थों के आधार पर कई युरोपियन लेखकों ने भी शिवाजी के सम्बन्ध में बहुत सी निन्दात्मक बातें कही हैं। पर इधर हाल में जो ऐतिहासिक अन्वेषण हुए हैं, उनसे भली भाँति सिद्ध हो चुका है कि उनका चरित्र, नीति और सिद्धान्त आदि सभी बहुत उच्च कोटि के थे। उनकी योग्यता, कार्य-कुशलता और दूसरे गुणों का एक बड़ा प्रमाण यही है कि एक छोटे से जागीरदार के लड़के होकर भी उन्होंने एक बहुत बड़े और अच्छे राज्य की स्थापना कर दिखलाई और वे आज तक भारत के राष्ट्रीय वीरों में अग्रगण्य हैं। उन्होंने अव्यवस्था की जगह व्यवस्था और अशान्ति की जगह शान्ति स्थापित की थी और अनेक छिन्न भिन्न तथा क्षीण शक्तियों को एकत्र करके एक राष्ट्र का स्वरूप प्रदान किया था। उन्होंने हिन्दुओं पर होनेवाला मुसलमानों का अत्याचार एक बहुत बड़ी सीमा तक रोक दिया था और देश में धर्म तथा राष्ट्रीयता की भावनाओं का बहुत अच्छा प्रचार किया था। बड़े बड़े राजनीतिज्ञों और शासकों में छत्रपति शिवाजी महाराज सचमुच सूर्य के समान प्रकाशमान जान पड़ते हैं।

एक बात हम और बतला देना चाहते हैं। वह यह कि यद्यपि शिवाजी मुसलमानी अत्याचारों और मुसलमानी शासन के बहुत बड़े विरोधी थे, पर फिर भी वे मुसलमानों के धार्मिक भावों का यथेष्ट आदर करते थे और मुसलमान फकीरों और खानकाहों आदि को भी माफी की जमीनें और वृत्तियाँ आदि देते थे। उनकी आज्ञा थी कि कोई बस्ती लूटते समय मसजिदों को कोई हानि न पहुँचाई जाय, कुरान का अपमान न किया जाय और किसी जाति की स्त्री के साथ नाम को भी कोई छेड़-छाड़ न की जाय। हिन्दू अथवा मुसलमान जाति की जो स्त्रियाँ कैद की जाती थीं, उनके मान और सतीत्व आदि की बहुत ही सतर्कतापूर्वक रक्षा की जाती थी और उनके सैनिक पर-स्त्री को माता और बहन के समान समझते थे।

मराठा शक्ति के पतन का आरम्भ—दुःख है कि शिवाजी ने जिस विशाल मराठा राज्य की स्थापना की थी, वह उनकी मृत्यु के उपरान्त अधिक दिनों तक न ठहर सका। यही बात उस सिक्ख शक्ति के सम्बन्ध में भी हुई थी जो महाराज रणजीतसिंह ने इसके कुछ दिनों बाद पंजाब में खड़ी की थी। विद्वानों ने इस प्रकार की शक्तियों के पतन के भिन्न भिन्न कारण बतलाये हैं। पर मुख्य कारण यही है कि इन लोगों के उत्तराधिकारी उतने योग्य नहीं हुए और वे राज्य का संचालन ठीक तरह से न कर सके। शिवाजी की मृत्यु के

उपरान्त भी यद्यपि कई योग्य मराठे शासक और सेनापति आदि हुए थे और उन्होंने शिवाजी की कीर्त्ति की रक्षा के अनेक उपाय किये थे, पर उनमें न तो वैसा अच्छा संघटन था और न अपेक्षित एकता ही थी। जगह जगह मराठे जागीरदार स्वतन्त्र होने लग गये थे और किसी का प्रभुत्व न मानकर केवल स्वार्थ-साधन में ही लगे रहते थे। शक्ति और धन के लिए आपस में सरदारों आदि ने लड़-लड़कर ही अपनी शक्ति बहुत कुछ क्षीण कर ली थी। फिर इसके बाद जब मराठों ने मुगलों के साथ युद्ध करना आरम्भ किया, तब दोनों ही दलों की भारी हानि होने लगी और अन्त में दोनों का ही विनाश हो गया। पर इस विनाश में भी पचासों वर्ष लगे थे। यहाँ हम शिवाजी की मृत्यु के समय से लेकर मराठा शक्ति के विनाश के समय तक की कुछ मुख्य-मुख्य घटनाओं का वर्णन करके यह अध्याय समाप्त करेंगे।

शिवाजी के उत्तराधिकारी—शिवाजी ने मरते समय अपना कोई उत्तराधिकारी नियत नहीं किया था। अपने बड़े लड़के शम्भा जी से वे बहुत असन्तुष्ट थे, क्योंकि एक तो वह अयोग्य था और दूसरे उसने शिवाजी के शत्रुओं के साथ मिलकर अपने पिता के साथ विश्वासघात किया था। इसके दंड-स्वरूप शिवाजी ने उसे पन्हालगढ़ के किले में कैद कर दिया था। एक इतिहास-लेखक का मत है कि शिवाजी की मृत्यु का समाचार भी कुछ समय तक शम्भाजी को नहीं सुनाया गया था। शिवाजी की धर्मपत्नी सोयराबाई उस समय जीवित थी। उसने मन्त्रियों को अपनी ओर मिलाकर अपना एक प्रबल दल खड़ा कर लिया और अपने पुत्र राजाराम को सिंहासन पर बैठा दिया। इस पर मराठों में दो दल हो गये। एक दल शम्भाजी का पक्षपाती था और दूसरा राजाराम का समर्थक और सहायक। अपने साथियों की सहायता से शम्भाजी ने पन्हाल के किले पर अधिकार कर लिया और रायगढ़ में अपना राज्याभिषेक भी करा लिया। राजाराम सिंहासन से उतार दिया गया, पर उसे कोई दंड नहीं दिया गया; पर उसके कई सहायक कैद कर लिये गये। अपनी विमाता सोयराबाई के साथ शम्भाजी ने बहुत अनुचित व्यवहार किया और उस पर शिवाजी को विष देने का अभियोग लगाकर उसे कैद करके अन्त में भूखों मार 'डाला। उस अवसर पर उसने शिवाजी के गुरु श्री समर्थ रामदास जी की सेवा में उपस्थित होकर उनका आशीर्वाद और परामर्श ग्रहण करने के लिए प्रार्थना की थी; पर रामदास जी ने उसकी यह प्रार्थना स्वीकृत नहीं की। उन्होंने शम्भाजी को एक पत्र में कुछ भर्त्सना करके केवल यही लिख दिया कि तुम अपने पिता जी के अनुकरण का प्रयत्न करो।

शम्भाजी और शाहजादा अकबर—जून सन् १६८१ में औरंगजेब का लड़का शाहजादा अकबर विद्रोही होकर औरंगजेब के कोप से बचने के लिए भाग आया और उसने शम्भाजी के दरबार में आश्रय प्राप्त किया। राजाराम अपने भाई से अपनी माता की हत्या का बदला चुकाना चाहता था, इसलिये वह षड्यन्त्र रचने लगा। वह चाहता था कि राज्य शम्भाजी के हाथ से निकल कर अकबर के हाथ में चला जाय। उस दशा में मैं केवल थोड़ी सी भूमि पाकर भी सन्तुष्ट हो जाऊँगा। पर अकबर ने राजाराम के इस प्रकार के षड्यन्त्र में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया और इस सम्बन्ध की सब बातें शम्भाजी से कह दीं। इस पर शम्भाजी ने राजाराम के साथियों पर बहुत अत्याचार किया जिससे लोग शम्भाजी से और भी अधिक असन्तुष्ट हो गये।

शम्भाजी की भूलें—शम्भाजी ने आरम्भ से ही कई बड़ी-बड़ी भूलें की थीं जिनमें से एक दो भूलों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसके सिवा एक और भूल उसने यह की थी कि उसने सन् १६८१ से १६८९ तक विदेशी औपनिवेशिकों के हाथ से जंजीरा और गोआ छीनने का निरर्थक प्रयत्न किया था। इस प्रकार शिवाजी का एकत्र किया हुआ बहुत सा धन उसने व्यर्थ नष्ट कर डाला। सैनिकों का वेतन चुकाने के लिए राजकोश में धन नहीं रह गया था, इसलिये उन्हें आज्ञा दे दी गई कि तुम लोग लूट-पाट करके अपना निर्वाह करो। परिणाम यह हुआ कि सेना पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न रह गया। ऐसा उपयुक्त अवसर देखकर मुगल बराबर मराठों पर आक्रमण करने और उन्हें भारी क्षति पहुँचाने लगे।

इसके सिवा शम्भाजी ने एक और बड़ी भूल की। उसे अपने किसी दरबारी का विश्वास नहीं रह गया था, इसलिये उसने कलश नामक एक कनौजिया ब्राह्मण को, जो हिन्दी का कवि भी था, अपना विश्वासपात्र बना लिया और उसी के परामर्श से वह सब काम करने लगा। कलश मूर्ख, अयोग्य और अनाचारी था और सब लोग उससे घृणा करते थे। जिस समय मुगल सेनाएँ मुगलों पर बड़े-बड़े आक्रमण करती थीं, उस समय शम्भाजी अपने मित्र कलश के साथ मिलकर भोग-विलास में मत्त रहता था। जब कभी वह होश में आता था, तब वह फिर गोआ पर अधिकार करने की तरकीबें सोचने लगता था। इन सब बातों से दुःखी होकर शाहजादा अकबर फारस चला गया। इस बीच में औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुंडा पर अधिकार कर लिया था और वह शम्भाजी को गिरफ्तार करना चाहता था। जनवरी सन् १६८९ में उसने पता लगाकर अचानक संगमेश्वर पर आक्रमण कर दिया और शम्भाजी तथा

कलश को घेर लिया। उस समय भी कुछ लोगों ने शम्भाजी से कहा था कि आप घोड़े पर सवार होकर यहाँ से भाग जायँ। पर शराब के नशे में चूर शम्भाजी ने उत्तर दिया कि कलश तन्त्र-मन्त्र और जादू का बहुत अच्छा जानकार है और वह अपने मंत्र और जादू के बल से ही सब शत्रुओं को नष्ट कर देगा।

शम्भाजी का अन्त—शम्भाजी और कलश दोनों गिरफ्तार करके औरंगजेब के सामने पेश किये गये। कदाचित् उस समय शम्भाजी इतना अधिक लज्जित हो रहा था कि वह अपनी मृत्यु के सिवा और किसी बात की कामना नहीं करता था और इसी लिए उसने औरंगजेब और इस्लाम धर्म को बहुत बुरी-बुरी गालियाँ दीं और उससे यहाँ तक कहा कि तुम अपनी कन्या का विवाह मेरे साथ कर दो तो मैं मुसलमान हो सकता हूँ। इसपर औरंगजेब ने आज्ञा दी कि लोहे की सलाखें लाल करके इसकी आँखों में घुसेड़ दी जायँ, इसकी जबान खींच ली जाय और सिर काट डाला जाय। उसकी आज्ञा का तुरन्त पालन हुआ। कलश पर यह कृपा की कई कि उसके प्राण बिलकुल मामूली तौर पर लिये गये।

मराठों में उत्तेजना—औरंगजेब ने जिस क्रूरतापूर्वक शम्भाजी की हत्या कराई थी, उससे मराठों के क्रोध की सीमा न रह गई। वे शम्भाजी के अपराधों और दोषों को भूलकर मुगलों से इसका बदला चुकाने के लिए कटिबद्ध हो गये। बहुत से मराठे नेताओं ने रायगढ़ में एकत्र होकर शम्भाजी के बालक पुत्र शिवाजी को अपना राजा मान लिया और राजाराम को उसका संरक्षक तथा अभिभावक बना दिया। अब फिर सेनाएँ व्यवस्थित की जाने लगीं और जगह-जगह किलेबन्दियाँ होने लगीं। सारे महाराष्ट्र देश में एक नये आवेश और नये उत्साह का संचार हो गया। राजाराम की सेनाओं ने कई बार मुगलों पर बड़े-बड़े आक्रमण किये और यहाँ तक कि एक बार स्वयं औरंगजेब के शिविर पर भी मराठे चढ़ गये। इस पर औरंगजेब ने निश्चित किया कि चाहे जैसे हो, रायगढ़ पर अधिकार किया जाय। उसने एतकादखाँ की अधीनता में एक बहुत बड़ी सेना रायगढ़ पर आक्रमण करने के लिए भेजी। वहाँ सूर्याजी पिशल नामक एक देशद्रोही ने किले के दरवाजे खोल दिये और मुगल सेना बेखटके अन्दर चली गई। शिवाजी और उसकी विधवा माता दोनों गिरफ्तार कर लिये गये और दिल्ली पहुँचाये गये। पर वहाँ औरंगजेब की कन्या जीनतउन्निसा की कृपा से उन लोगों के साथ अच्छा व्यवहार किया गया। औरंगजेब को भी न जाने क्यों बालक शिवाजी के साथ प्रेम हो गया था, इसलिये उसने उसे वहाँ रख लिया। वह उसे प्यार से शाहू पुकारा करता था।

राजाराम का पलायन—अक्तूबर सन् १६८९ में रायगढ़ पर अधिकार करने के उपरान्त मुगलों ने कोंकण के और बहुत से किले ले लिये। पहले तो मराठों ने कुछ समय तक मुगलों के साथ बहुत वीरतापूर्वक युद्ध किया, पर जब फल कुछ भी न हुआ, तब राजाराम साधु के वेष में भागकर बँगलौर होता हुआ जिंजी चला गया और वहीं अप्रैल सन् १६९० में उसने अपने राज्य का केन्द्र स्थापित किया। अब वह फिर अपने राज्य का संघटन करने लगा। उसे बहुत से योग्य और निष्ठ सहायक मिल गये थे, इसलिए उसने फिर से अष्ट-प्रधान की नियुक्ति की। उधर शम्भाजी की पत्नी येशूबाई ने दिल्ली से किसी प्रकार एक सन्देश राजाराम के पास भेज दिया था कि जब तक मैं शाहू (शिवा जी) को लेकर न आऊँ, तब तक तुम सिंहासन पर बैठकर राज-कार्यों का संचालन करो। इसके अनुसार राजाराम राजा बनकर सिंहासन पर बैठ गया। जब औरंगजेब की ओर से जुलफिकार खाँ जिंजी पर आक्रमण करने के लिए आया, तब राजाराम ने उसे अपनी ओर मिला लिया और दक्षिण तथा कोंकण में पुराने किलों पर अधिकार करने के लिये अपनी सेनाएँ भेज दीं। उसने एक और तरकीब की। बहुत सी बड़ी-बड़ी जमीनें ऐसी थीं जो पहले छत्रपति शिवाजी के अधिकार में थीं, पर अब जिन पर औरंगजेब का अधिकार हो गया था। राजाराम ने वे जमीनें अपने दरबारियों और सेनापतियों के नाम लिख दीं। उन लोगों ने अपनी निजी सेनाओं की सहायता से उन स्थानों पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार मुगल साम्राज्य में भी बहुत से स्थानों पर मराठों का अधिकार हो गया। सन् १६९२ में मराठों ने रायगढ़ और पन्हाल पर भी अधिकार कर लिया और इसके बाद कुछ और किले भी ले लिये।

जिंजी का घेरा—सन् १६९१ में ही मुगलों की बहुत बड़ी सेना ने जिंजी पर घेरा डाल दिया था जो किसी न किसी रूप में सन् १६९८ तक पड़ा रहा। कई मुगल सेनापति आये और चले गये, पर किसी को सफलता न हुई। मराठे सैनिक बराबर किले में से निकल निकल कर मुगलों पर छापा मारते थे और जो कुछ पाते थे, लूट ले जाते थे। पर फिर भी सन् १६९८ में जिंजी के किले पर मुगलों का अधिकार हो ही गया। पर मुगलों को बहुत अधिक हानि उठानी पड़ी थी। किले पर मुगलों का अधिकार होने से पहले ही राजाराम वहाँ से सतारा चला गया था। वहाँ से वह फिर दक्षिण के किलों पर अधिकार करने और उत्तर की ओर मुगल साम्राज्य पर आक्रमण करने का प्रयत्न करने लगा। इस काम के लिए उसने अपने साठ हजार सैनिकों को तीन भागों में विभक्त करके धानाजी यादव, परशुराम त्र्यम्बक और शंकर नारायण को उनका सेनापति

बनाया और उन्हें तीन ओर भेज दिया। सन् १६९९ में वह स्वयं भी मुगलों से युद्ध करने निकला। एक सेना ने पंढरपुर में मुगलों को परास्त किया और दूसरी सेना ने पूने से मुगलों को निकाल बाहर किया। मराठे जहाँ जाते थे, वहीं चौथ और सरदेशमुखी वसूल करते थे। फिर मराठों ने खान्देश और बरार में पहुँच कर वहाँ भी वसूल किये और वहाँ के शासन की भी व्यवस्था की। खंडेराव गुजरात का और परसा जी भोंसले बरार का सूबेदार नियुक्त हुआ। बड़ौदा और नागपुर के मराठे राजवंशों का श्रीगणेश यहीं से होता है।

राजाराम की मृत्यु—सन् १६९९ में मुगलों ने अचानक सतारा की ओर रुख किया और वहाँ के किले पर घेरा डाला। परशुराम त्र्यम्बक ने बहुत वीरतापूर्वक छः मास तक मुगलों से युद्ध किया। उसने औरंगजेब के लड़के आजम शाह को भी अपनी ओर मिलाकर मुगलों की बहुत सी रसद लूटी थी। पर सन् १७०० में सतारा पर मुगलों का अधिकार हो गया। उसी वर्ष राजाराम भी बीमार पड़ा और मर गया। मरते समय उसने मराठे सरदारों से कह दिया था कि जब तक शाहू का छुटकारा न हो जाय और महाराष्ट्र देश से मुगल बिलकुल निकाल न दिये जायँ, तब तक मुगलों को कहीं चैन न लेने दिया जाय।

उत्तराधिकार का झगड़ा—राजाराम के दो लड़के थे। बड़ा शिवाजी था जो ताराबाई के गर्भ से उत्पन्न हुआ था और छोटे का नाम शम्भाजी था जो राजसबाई के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। दोनों के पक्ष में कुछ लोग होकर सिंहासन के लिए लड़ने-झगडने लगे। पर अन्त में ताराबाई ने अपने दस वर्ष के पुत्र शिवाजी को सिंहासन पर बैठा दिया और आप उसकी अभिभाविका बनकर राज्य का कार-बार योग्यतापूर्वक देखने लगी। उसने कई अवसरों पर मुगलों के साथ लड़कर उनके दाँत खट्टे किये थे और बहुत ही विकट समय पर मराठा शक्ति को नष्ट होने से बचाया था। वह स्वयं सैनिक शिविरों में घूम घूमकर युद्ध की सारी व्यवस्था करती थी। मुसलमान इतिहास-लेखक खफी खाँ को भी यह मानना पड़ा है कि उसी की योग्यता और युद्ध-कुशलता का यह परिणाम था कि औरंगजेब मरते दम तक मराठों पर विजय न प्राप्त कर सका।

सन् १७०२ से १७०७ तक ताराबाई ने कोंकण के बहुत से किलों पर अधिकार कर लिया। सन् १७०५ में मराठों की एक बहुत बड़ी सेना ने नर्मदा पार करके मालवे को भी खूब लूटा और तब गुजरात पहुँचकर मुगलों को परास्त किया। सिंहगढ़ और रायगढ़ पर भी मराठों का फिर से अधिकार हो गया था। मराठों की इन विजयों से औरंगजेब बहुत अधिक दुःखी हुआ था और अब उसे

मराठों के दमन की कोई आशा नहीं रह गई थी। इसी चिन्ता में कुढ कुढकर सन् १७०७ में वह मर गया।

जब औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसके लड़के उत्तराधिकार के लिए झगड़ने लगे, तब ताराबाई ने मुगलों के कुछ और किलों और प्रदेशों पर भी अधिकार कर लिया। अन्त में बहादुर शाह के नाम से शाह आलम दिल्ली के तख्त पर बैठा। उस समय जुलफिकार खाँ ने सोचा कि यदि शाहूजी इस समय छोड़ दिया जायगा तो मराठों में एक नया झगड़ा खड़ा हो जायगा, इसलिए उसने नये सम्राट् से कहकर शाहूजी को कैद से छुड़वा दिया। जुलफिकार खाँ का सोचना ठीक निकला। कुछ लोग शाहू के पक्ष में और कुछ ताराबाई तथा उसके लड़के के पक्ष में हो गये और आपस में ही लड़ने झगड़ने लगे जिससे मुगलों को कुछ दम लेने का अवसर मिल गया।

यद्यपि ताराबाई ने बहुत ही वीरतापूर्वक मराठों के सम्मान की रक्षा और वृद्धि की थी, पर फिर भी शाहू जी के समर्थकों की संख्या अधिक थी, इसलिए सन् १७०८ में वह सतारा में सिंहासन पर बैठा दिया गया। पर फिर भी ताराबाई बराबर अपने पुत्र को राज्य दिलवाने के लिए लड़ती रही। पर सन् १७१२ में उसके लड़के शिवा जी तृतीय की मृत्यु हो गई। उस समय उसके साथियों ने राजाराम के दूसरे लड़के शम्भाजी को राजा बनाकर खड़ा कर दिया। पर अन्त में विजय शाहू जी की ही हुई और वही राजा बना रहा।

शाहू जी का चरित्र—शाहू जी का लालन-पालन औरंगजेब के महल में उस की लड़की जीनत-उन्निसा ने किया था और इसी कारण वह मराठों की रीति-नीति आदि से नितान्त अपरिचित था। उसे अपने चारों ओर गृह-युद्ध और अराजकता ही दिखाई पड़ती थी। वह बुद्धिमान् भी था और दयालु भी, इसलिए बहुत से लोग उसके समर्थक और सहायक हो गये। पर वह मुगल शाहजादों की तरह बहुत आराम-तलब हो गया था और मराठों पर शासन करने के योग्य नहीं था, इसलिए उसने राज्य के सब काम अपने सहायकों और समर्थकों पर ही छोड़ दिये थे। उस समय बाला जी विश्वनाथ नामक एक कोंकणस्थ ब्राह्मण राज्य की अच्छी अच्छी सेवाएँ करने के कारण शाहू जी का पेशवा या प्रधान मन्त्री हो गया। वह बहुत ही चलता हुआ राजनीतिज्ञ था, इसलिए राज्य के सब अधिकार उसने अपने हाथ में ले लिये। पर वह अपने स्वामी के प्रति सदा निष्ठ रहा। हाँ उसने इतना अवश्य किया कि पेशवा का पद अपने वंशजों के लिए वंशानुक्रमिक करा लिया। (सन् १७१४)। बस तभी से महाराष्ट्र देश में पेशवाओं का शासन आरम्भ हो गया।

दसवाँ अध्याय

सिक्खों का उदय

सिक्ख धर्म का आरम्भ—जिस प्रकार मराठों ने मुगल साम्राज्य के विनाश में बहुत कुछ सहायता की थी, उसी प्रकार सिक्खों ने भी उसका अन्त करने में बहुत कुछ मदद दी थी। इसलिए आगे बढ़ने से पहले सिक्खों के सम्बन्ध की कुछ मुख्य मुख्य बातें बतला देना भी आवश्यक जान पड़ता है। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में भारत के भिन्न भिन्न भागों में जो अनेक बड़े बड़े साधु और महात्मा उत्पन्न हुए थे, उन्हीं में सिक्ख धर्म के प्रवर्त्तक गुरु नानक भी एक थे। इनका जन्म सन् १४६९ में और परलोकवास सन् १५३९ में हुआ था। वे सच्चे महात्मा और धर्म तथा समाज के बहुत बड़े सुधारक थे और लोगों को एक मात्र ईश्वर की उपासना करने और सच्चरित्र बनने का उपदेश करते थे। वे पंडितों और मुल्लाओं के समान रूप से विरोधी थे और हिन्दुओं तथा मुसलमानों में कोई भेद न करते थे। वे सबको सच्चे परमात्मा की भक्ति का उपदेश देते थे और उनका पारस्परिक विरोध और वैमनस्य दूर करना चाहते थे। पंजाबवालों पर उनके उपदेशों का बहुत शुभ प्रभाव पड़ा था और बहुत से हिन्दू तथा कुछ मुसलमान भी उनके भक्त और अनुयायी हो गये थे।

गुरु नानक ने अपने पुत्रों में से किसी को अपना उत्तराधिकारी नहीं बनाया, बल्कि लहना नामक एक शिष्य को अपना स्थान दिया जो गुरु अंगद के नाम से प्रसिद्ध हुए। यद्यपि गुरु अंगद अशिक्षित थे, तो भी उन्होंने गुरुमुखी लिपि निकाली थी जिसमें सिक्खों के धार्मिक ग्रन्थ लिखे मिलते हैं और जिसका आज तक पंजाब में यथेष्ट प्रचार है। उनके बाद गुरु अमरदास हुए जिनका उदासी साधुओं ने बहुत विरोध किया, पर फिर भी उन्होंने सिक्ख धर्म का यथेष्ट प्रचार किया और सब जगह अपने प्रचारक नियुक्त किये। चौथे गुरु रामदास (१५७४–८१) ने अमृतसर के सुप्रसिद्ध तालाब और मन्दिर की स्थापना की थी। इसके लिए उन्हें अकबर ने जमीन दान दी थी। तभी से अमृतसर सिक्खों का केन्द्र हो गया और सम्राट् अकबर की कृपा-दृष्टि के कारण जाटों आदि में इस धर्म का विशेष प्रचार हुआ। पाँचवें गुरु अर्जुनसिंह

(१५८१–१६०६) ने आदि ग्रन्थ का संकलन किया जिसमें पहले के चारों गुरुओं के भी और स्वयं उनके अनेक पदों और उपदेशों आदि का भी संग्रह है। इसके सिवा कबीर और मीरा आदि कुछ और भक्तों के पद आदि भी उसमें पाये जाते हैं। ये अपने अनुयायियों से एक प्रकार का कर भी लेने लगे थे और हर साल सिक्खों का एक बहुत बड़ा मेला करते थे जिसमें सब जगह के सिक्ख आकर सम्मिलित होते थे। इनके समय में सिक्ख धर्म में बहुत अधिक लोग सम्मिलित हुए थे और ये ऐसे पहले गुरु थे जो राजसी ठाठ-बाट से रहने लगे थे। पर इन्होंने शाहजादा खुसरो को विद्रोही होने के समय सहायता दी थी, इसलिए जहाँगीर ने इन्हें कैदखाने में बन्द करके और अनेक कष्ट पहुँचाकर मरवा डाला था। बस उसी समय से सिक्ख लोग मुगलों और उनके शासन के विरोधी होने लगे थे; और सिक्ख सम्प्रदाय ने धार्मिक स्वरूप के साथ साथ राजनीतिक स्वरूप भी प्राप्त करना आरम्भ किया था।

सिक्खों के स्वरूप में परिवर्त्तन—गुरु अर्जुनसिंह की हत्या से सभी सिक्ख बहुत अधिक उत्तेजित हो गये। उनके उत्तराधिकारी गुरु हरगोविन्द ने समय की आवश्यकता देखते हुए सिक्खों के स्वरूप में परिवर्त्तन करना आरम्भ किया। उन्हें वीर और योद्धा बनाने के लिए वे कहने लगे कि सिक्खों को मांस भी खाना चाहिए। उनके दो उत्तराधिकारियों ने भी उन्हीं का अनुसरण करते हुए सिक्खों को वीर और योद्धा बनाने का प्रयत्न किया, पर उनके समय में कोई विशेष और उल्लेख योग्य घटना नहीं हुई।

गुरु हरगोविन्द पहले जहाँगीर और शाहजहाँ की सेना में रह कर कई युद्धों में लड़ चुके थे। पर पीछे से वे विद्रोही होकर अपने शिष्यों को अपने पास शस्त्र रखने का उपदेश देने लगे थे। अब सिक्ख लोग धार्मिक भक्त नहीं रह गये थे, बल्कि पूरे सैनिक और योद्धा हो गये थे। अब बहुत से जाट भी सिक्ख हो गये थे जो स्वभावतः वीर और योद्धा होते थे। उन्होंने सिक्खों को जो नया स्वरूप प्रदान किया था, उसके कारण उनका यश बहुत विस्तृत हो गया था। इनके बाद जो दो गुरु हुए थे, उन्होंने भी उन्हीं का अनुकरण किया था।

नवें गुरु तेग बहादुर (१६६४–७५) बहुत बड़े प्रतिभाशाली और अद्भुत महापुरुष थे। उनका दरबार राजसी ढंग का होता था। उन्होंने सारे भारत में सिक्ख धर्म का प्रचार करने और सिक्खों का संघटन करने के लिए बहुत से उपदेशक भेजे थे। वे औरंगजेब के अत्याचारों के बहुत बड़े विरोधी थे, इसलिए वे राजद्रोह के अपराध में गिरिफ्तार किये गये और उनसे मुसलमान होने के

लिए कहा गया। पर उन्होंने प्राणों की अपेक्षा धर्म को ही अधिक प्रिय समझा, इसलिए औरंगजेब की आज्ञा से उनका सिर काट लिया गया। इससे सिक्खों में वर्णनातीत क्षोभ फैला और वे मुगल साम्राज्य तथा इस्लाम धर्म के कट्टर शत्रु हो गये।

गुरु गोविन्दसिंह (१६७५-१७०८)—यह सिक्खों के दसवें और अन्तिम गुरु थे और सिक्खों को पूर्ण रूप से सैनिक जाति का स्वरूप इन्हींने प्रदान किया था। सन् १७७५ से १७९५ तक बीस वर्ष इन्होंने पहाड़ों में रहकर सिक्खों का पूरा पूरा संघटन किया था, क्योंकि औरंगजेब ने इनके पिता गुरु तेग बहादुर की जो हत्या कराई थी और हिन्दुओं पर जो बड़े बड़े अत्याचार किये थे, उन सबका ये पूरा पूरा बदला चुकाना चाहते थे। इन्होंने मुगल साम्राज्य को उलट देने का दृढ निश्चय किया था और ये अपना सारा समय इसी उद्देश्य की सिद्धि के उपायों में लगाते थे। इन्होंने सिक्खों में से जाति-पाँति के सब बंधन हटा दिये थे, सब को समान अधिकार दिये थे, सबके लिए एक विशेष प्रकार की दीक्षा-प्रणाली निश्चित की थी और सब सिक्खों का बाहरी रूप भी प्रायः एक सा कर दिया था। इन्होंने अपने पन्थ का नाम खालसा रखा था और सिक्खों के लिए कंघी, कछ या काछा, करद या चाकू, केश (सिर और दाढी-मूँछ के बाल) और कृपाण (कटार) इन पाँच पंच-ककार की योजना की थी। इन्होंने अपने सब अनुयायियों से सदा अपने खालसा पन्थ की सेवा करने और अपने शत्रुओं से बदला चुकाने की दृढ़ प्रतिज्ञा करा ली थी। इन्होंने अपने शिष्यों के मन में यह विश्वास भी दृढ़तापूर्वक बैठा दिया था कि खालसा पन्थ को सृष्टि शत्रुओं पर विजय करने के लिए ही हुई है; और जहाँ पाँच सिक्ख भी एकत्र होंगे, वहाँ गुरु की आत्मा सदा उनके साथ रहेगी और उन्हें विजयी बनावेगी। इन्हीं के समय और इन्हीं के उपदेश से सिक्ख लोग अपने नाम के साथ "सिंह" शब्द का प्रयोन करने लगे थे; और यह प्रथा सिक्खों में आज तक चली आती है। इन्होंने सभी श्रेणियों और वर्गों के लोगों को अपना शिष्य बनाया था और उन्हें कष्ट-सहिष्णुता आदि की यथेष्ट शिक्षा देकर पूर्ण रूप से एक सैनिक जाति के रूप में संघटित कर दिया था।

सिक्खों का पूर्ण रूप से संघटन कर के गुरु गोविन्दसिंह स्वयं एक बहुत बड़े सैनिक सरदार या राजा की भाँति बहुत ठाठ-बाट से रहने लगे और पहाड़ी राजाओं पर पूर्ण रूप से अपना प्रभाव भी स्थापित करने लगे। इन्होंने एक अच्छी सेना संघटित कर के और कई पहाड़ी किले बनवाकर कई पहाड़ी राजाओं पर आक्रमण कर के उन्हें परास्त भी किया था। उनका यह बढ़ता हुआ प्रभुत्व औरंगजेब भला कब सहन कर सकता था! काँगड़े के सूबेदार दिलावरखाँ को

एक बार उन्होंने युद्ध में परास्त भी किया था। पर अन्त में उन्हें मुगलों की एक बड़ी सेना के सामने हारना पड़ा और अपने कुछ साथियों के साथ भागकर पटियाले में शरण लेनी पड़ी। उन के दो लड़कों को मुगलों ने गिरफ्तार कर के मुसलमान बनाना चाहा था, पर उन बालकों ने बहुत वीरतापूर्वक मुसलमान होने से इन्कार कर दिया। इस पर मुगलों ने उन दोनों बच्चों की बहुत ही निर्दयतापूर्वक हत्या करा डाली। कुछ दिन बाद औरंगजेब की सेना ने फिर गुरु गोविन्दसिंह का पीछा किया। पर उन्होंने मुक्तेश्वर में फिर मुगलों को परास्त किया और वहाँ एक बड़ा सर या तालाब बनाया जिसे सिक्ख आज तक परम पवित्र और तीर्थ के रूप में मानते हैं। इस के बाद वे फिर अपने पुराने निवास-स्थान आनन्दपुर में जा रहे और कुछ समय वहाँ उन्होंने शान्तिपूर्वक व्यतीत किया। एक बार औरंगजेब ने उन्हें अपने दरबार में बुलवा भेजा। औरंग-जेब उस समय दक्षिण में था। गोविन्दसिंह वहाँ जाने के लिए तो तैयार हो गये, पर शर्त्त यह रखी कि हमारे साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार किया जाय। जब औरंगजेब की ओर से इस बात का वचन मिला, तब वे उस से मिलने के लिए दक्षिण की तरफ चल पड़े। पर रास्ते में ही उन्हें औरंगजेब की मृत्यु का समाचार मिला। फिर वे औरंगजेब के उत्तराधिकारी के साथ एक बार दक्षिण गये थे, जहाँ सन् १७०८ में एक अफगान ने उनकी हत्या कर डाली। हत्या का कारण यही था कि वह मुसलमानों के एक बड़े शत्रु को मारकर शहीद बनाना चाहता था।

गुरु गोविन्दसिंह ने मरते समय अपने अनुयायियों को सदा दृढ़ और अपने धर्म पर आरूढ़ रहने का उपदेश दिया था। वे दूरदर्शी थे, इसलिए समझ गये थे कि मेरी मृत्यु के बाद कुछ सिक्खों में गद्दी के लिए झगड़ा होगा। इस वास्ते उन्होंने गद्दी ही तोड़ दी और सैनिक कार्यों के लिए बन्दा नामक अपने एक शिष्य को और धार्मिक कार्यों के लिए अपने दूसरे पाँच शिष्यों को अपना उत्तराधिकारी बनाया और कह दिया कि पवित्र धर्म-पुस्तक ग्रन्थ साहब को ही सब सिक्ख अपना गुरु मानें और उसी के उपदेशों के अनुसार सब काम करें। उन्होंने अपने जीवन में सब से बड़ा काम यह किया था कि सिक्खों में बहुत बड़ी उच्चाकांक्षाएँ और स्वातंन्त्र्य प्रेम पूरी तरह से भर दिया था। बहुत दिनों से लोग यह समझते चले आते थे कि 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा।' पर उन्होंने लोगों के मन से यह भ्रमपूर्ण धारणा दूर कर दी थी और जन-साधारण के मन से मुगलों का आतंक और भय निकाल दिया था। सारांश यह कि उन्होंने पंजाब और आस-पास के हिन्दुओं में एक नई प्रबल जीवनी शक्ति का संचार कर दिया था और सब लोगों में समानता तथा भाईचारे का भाव भर दिया था।

मुगलों के साथ बन्दा के युद्ध—गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु के बाद उनके सैनिक उत्तराधिकारी ने सिक्खों की एक बहुत बड़ी सेना एकत्र करके सरहिन्द के मुसलमान सूबेदार पर आक्रमण किया और उसे परास्त करके वह नगर अच्छी तरह लूटा। उसकी इस विजय के कारण दिल्ली में भी आतंक छा गया। बन्दा का यह विद्रोह दबाने में मुगलों ने कोई बात उठा न रखी, पर वे स्वयं बन्दा को किसी प्रकार गिरिफ्तार न कर सके। बन्दा भी समय समय पर मुगलों को बहुत तंग करता रहता था और बहुत से सिक्खों को साथ लेकर पहाड़ों में घूमता रहता था। सन् १७१४ में बन्दा ने फिर एक बार पहाड़ों से निकल कर बटाला और कलानौर पर आक्रमण किया। उसका दमन करने के लिए मुगलों की एक बहुत बड़ी सेना भेजी गई। वह हारकर गुरदास-पुर के किले में जा छिपा। मुगलों ने उस किले पर घेरा डाला और बहुत दिनों तक घिरे रहने के बाद अन्त में विवश होकर बन्दा को आत्म-समर्पण करना पड़ा। मुगलों ने उसे बहुत भीषण यातनाएँ पहुँचा कर अन्त में उसके भी प्राण ले लिये। बन्दा ने भी बहुत कुछ उसी प्रकार का काम किया था जिस प्रकार का काम गुरु गोविन्दसिंह कर गये थे; और उसने अनेक अवसरों पर सिद्ध कर दिखलाया था कि मुगल अजेय नहीं हैं और दूसरी जातियाँ भी उनपर अच्छी तरह विजय प्राप्त कर सकती हैं। यद्यपि उसे अपना मनोरथ सिद्ध करने में सफलता नहीं हुई, पर फिर भी उसने हिन्दुओं का हौसला बहुत बढ़ा दिया था।

सन् १७१६ में बन्दा की हत्या होने के उपरान्त प्रायः पचास वर्षों तक सिक्खों को अनेक कारणों से बहुत कुछ दबे रहना पड़ा। फर्रुखसियर ने सिक्खों को बहुत तंग किया और दबाया था। उसकी मृत्यु के उपरान्त सन् १७२५ से सिक्खों के छोटे छोटे दल फिर इधर-उधर प्रकट होकर लूट-पाट करने लगे थे और सन् १७३१ तक उनका प्रभुत्व तथा अधिकार लाहौर और अमृतसर तक हो गया था। यद्यपि इन स्थानों पर पूर्ण रूप से उनका अधिकार सन् १७६८ में हुआ था, पर फिर भी उनका प्रभाव बहुत पहले से बढ़ता चला आता था। एक अवसर पर बहुत से सिक्खों ने मिलकर नादिर शाह का भी बहुत सा सामान लूट लिया था और उसके आगमन के समय दिल्ली तथा लाहौर में जो गड़बड़ी मची थी, उससे भी उन्होंने बहुत कुछ लाभ उठाया था। तात्पर्य यह कि जिस समय मुगल साम्राज्य की शक्ति दिन पर दिन क्षीण होती जा रही थी, उस समय सिक्ख लोग उसे और भी अधिक क्षीण करने में अच्छी सहायता देते थे और जब अवसर मिलता था, तब उसपर आघात किये बिना न रहते थे।

ग्यारहवाँ अध्याय

युरोपियनों के साथ भारत का सम्बन्ध

युरोप के साथ भारत का प्राचीन सम्बन्ध—मुगल काल में मुगलों के आगमन, विजय, साम्राज्य-स्थापन और पतन आदि के सिवा और भी कई बड़ी और मुख्य घटनाएँ हुई थीं जिनमें से मराठा और सिक्ख शक्तियों के उत्थान आदि का वर्णन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। इनके सिवा मुगल काल में एक और मुख्य घटना यह हुई थी कि भारत में युरोपवालों का आगमन होने लग गया था और व्यापार आदि के लिए वे यहाँ अपनी बस्तियाँ बसाने लग गये थे। इसके सिवा उन्हें राजनीतिक तथा अन्य प्रकार के विशिष्ट अधिकार भी मुगल काल में ही मिले थे। इस प्रकार भारत में विदेशियों की दूसरी जड़ मुगल काल में जमी थी, अतः मुगल काल के इतिहास में इस नवीन सम्बन्ध के विषय में भी कुछ बातें बतला देना आवश्यक जान पड़ता है। यहाँ हम इतना और कह देना चाहते हैं कि जिस प्रकार मुगलों का पतन करने में मराठों और सिक्खों आदि ने बहुत कुछ सहायता की थी, उसी प्रकार मुगल साम्राज्य के पतन के समय अँगरेजों ने, जो उस समय तक यथेष्ट प्रबल हो चुके थे, बहुत कुछ लाभ उठाया था और अपने अधिकारों तथा राज्य का बहुत विस्तार कर लिया था। राजनीतिक और शासन आदि क्षेत्रों में जो अँगरेज मुगलों के प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी हैं, उनका तथा उनसे पहले आनेवाली दूसरी युरोपियन जातियों का ही इस अध्याय में संक्षेप में वर्णन किया जायगा।

युरोप के साथ भारतवर्ष का व्यापारिक सम्बन्ध हजारों वर्ष पुराना है। आज से प्रायः दो हजार वर्ष पहले भी प्रत्यक्ष नहीं तो अरबों, यहूदियों और रूसियों आदि के द्वारा भारत और युरोप में व्यापार होता था। उन दिनों भारतवर्ष बहुत अधिक उन्नत अवस्था में था और यहाँ सैंकड़ों हजारों तरह के मसाले, कपड़े, दवाएँ और जवाहिरात आदि होते थे। युरोप में उस समय तक सभ्यता और संस्कृति का पूरी तरह से आरम्भ भी नहीं होने पाया था और इसलिए मसाले, कपड़े और जवाहिरात आदि भारत से ही युरोप में जाते थे। हजरत सुलैमान के समय और उसके बाद रोमन काल में भारत के मसालों, मलमलों, मोतियों, हाथीदाँत की बनी चीजों, तरह तरह के रंगों, चमड़ों और इसी तरह की और बहुत सी चीजों की युरोप में बहुत ज्यादा माँग रहा करती

थी। भारत अपनी आवश्यकता की सब वस्तुएँ स्वयं तैयार करता था और दूसरे अनेक देशों को भी भेजता था। उसे स्वयं बाहरी तैयार माल की बहुत कम जरूरत होती थी और इसी लिए उन देशों से यहाँ अधिकतर सोना-चाँदी और जवाहिरात ही आया करते थे। तात्पर्य यह कि आज-कल जो अवस्था है, उस समय ठीक इसके विपरीत थी। आजकल की बदली हुई अवस्था इधर कुछ ही शताब्दियों से आरम्भ हुई है। नहीं तो इससे पहले भारत से ही बहुत सा माल युरोप जाया करता था।

पहले तो भारत की चीजें रोमन साम्राज्य में बिका करती थीं और उसके पतन के उपरान्त मुसलमान व्यापारियों के द्वारा भारत की वस्तुएँ युरोप के सभ्य देशों में जाती थीं। आठवीं शताब्दी से इटली और फ्रान्स में भी भारत की बनी बढ़िया और शौकीनी की चीजों की माँग बढ़ने लगी। युरोपवाले जाड़े भर जो मांस खाते थे, वह भारत के ही मिर्च-मसालों के योग से तैयार किया जाता था। उन दिनों युरोपवाले खाने-पीने की चीजों में मिर्च-मसालों का व्यवहार भी बहुत अधिक करते थे। उन दिनों भारत के सब सामान पहले भूमध्य सागर के आस-पास के प्रदेशों में जाते थे और तब वहाँ से युरोप के भिन्न-भिन्न देशों में पहुँचते थे। बैजन्तीनदी या पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी उन दिनों कुस्तुन्तुनिया में थी और कुस्तुन्तुनिया इस प्रकार के व्यापार का केन्द्र था। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में कुस्तुन्तुनिया का यह व्यापार पूर्ण रूप से वेनिस और जनेवा के व्यापारियों के हाथ में चला गया था। यद्यपि उस समय आज-कल की तरह बहुत बड़े-बड़े और कलों के जोर से चलनेवाले जहाज नहीं होते थे और समुद्र द्वारा माल भेजने में अनेक कठिनाइयाँ होती थीं, पर फिर भी कुस्तुन्तुनियाँ के बाजारों में भारत के मसाले आदि भरे रहते थे और युरोपियन खरीददारों के लिए वे महँगे भी नहीं पड़ते थे। पहले कुस्तुन्तुनिया से होनेवाला सारा भारतीय व्यापार वेनिसवालों के ही हाथ में था; पर तेरहवीं शताब्दी से पिसा और जनेवावाले भी उनके साथ प्रतियोगिता करने लग गये थे और जनेवावालों ने बहुत सा व्यापार अपने हाथ में कर लिया था। जब वेनिस और जनेवा की प्रतियोगिता बहुत बढ़ने लगी, तब उत्तर जरमनी के कुछ नगरों ने मिलकर अपना एक संघ स्थापित किया जिसका नाम हेनसियाटिक लीग (Henshiatic League) था। अब इस संघवाले सीधे कुस्तुन्तुनिया से सब माल मँगाने लगे और उन्होंने कृष्ण सागर से लेकर बाल्टिक सागर और जरमन महासागर तक व्यापार की बहुत सी बड़ी-बड़ी मंडियाँ स्थापित कर लीं। इस संघ के सदस्यों को इस व्यापार में बहुत अधिक लाभ होने लगा। पर जब

कुस्तुन्तुनिया पर तुर्कों का अधिकार हो गया, तब इस संघ का काम भी बहुत जल्दी-जल्दी मन्दा पड़ने लगा। प्रायः उसी समय से व्यापार का वह मार्ग सदा के लिये बन्द हो गया।

व्यापार के दो अन्य मार्ग—परन्तु इस मार्ग के अतिरिक्त दो और ऐसे मार्ग थे जिनसे होकर पूर्वी देशों की चीजें पश्चिमी देशों में पहुँचती थीं। इनमें से एक मार्ग मेसोपोटामिया, दमिश्क और मिस्र से होकर था। प्राचीन काल में खाल्डिया और बैबिलोन के व्यापारी इस मार्ग से माल ले जाकर भूमध्य सागर तक पहुँचाया करते थे और वहाँ से फिनीशियन जहाजी उन्हें पास और दूर के युरोपियन देशों में पहुँचाते थे। यह व्यापार भी ईसा से हजार डेढ हजार बरस पहले से होता चला आता था। यहूदी बादशाह दाऊद और सुलैमान (ई० पू० ग्यारहवीं शताब्दी) की राजधानी जेरूसलम में भारत की बनी बहुत सी चीजें पहुँचती थीं। कहते हैं कि उन लोगों का हाथीदाँत का सिंहासन, राज-महल में चन्दन की लकड़ी के खम्भे और शाही बाग में जो बन्दर और मोर आदि थे, वे सम्भवतः भारत से ही मँगाये हुए थे।

ईसवी पहली शताब्दी में यह मार्ग रोमनों के हाथ में चला गया था और उसके बाद सातवीं शताब्दी में अरबी मुसलमानों ने इन सब स्थानों पर अधिकार करके इस मार्ग से होनेवाला व्यापार अपने हाथ में कर लिया था। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, रोमनों के समय में भी यह व्यापार बहुत उन्नत दशा में था और उनके बाद अरबों ने भी इसमें कोई कमी नहीं होने दी थी। अरब मुसलमानों ने इस व्यापार का केन्द्र फारस की खाड़ी के बसरा नामक बन्दरगाह में बनाया था। पर जब युरोप के ईसाइयों ने अपने प्राचीन पवित्र स्थानों पर अधिकार करने के लिए मुसलमानों पर आक्रमण किये और सीरिया तथा पैलेस्टाइन में प्रायः युद्ध होने लगे, तब बीच में इस व्यापार का काम भी कुछ रुकने लगा। पर हाँ, युरोप के भिन्न भिन्न देशों से जो लोग इन युद्धों में सम्मिलित होते थे, वे भी धीरे-धीरे भारत तथा अन्य पूर्वी देशों की बनी हुई वस्तुओं से यथेष्ट परिचित हो गये और आगे चलकर उनमें भी इन वस्तुओं का अधिकाधिक प्रचार होने लगा। पर तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में कई जंगली मंगोल जातियों और तुर्कों ने सीरिया और एशिया माइनर आदि में उपद्रव मचाना आरम्भ किया, तब व्यापार का यह मार्ग भी बहुत कुछ बन्द हो गया।

एक तीसरा मार्ग और था जो दक्षिणी मार्ग कहलाता है और जो मिस्र से होकर था। प्रायः दो हजार बर्ष पहले इस मार्ग से भी भारत का बहुत सा व्यापार होता था। प्रायः ई० पू० ३० में जब मिस्र भी रोमन साम्राज्य के

अन्तर्गत हो गया, तब इस व्यापार मार्ग की और भी उन्नति हुई। पर उस समय तक जहाज बराबर किनारे ही किनारे होकर आते-जाते थे और समुद्र के बीच से होकर जाने का किसीको साहस नहीं होता था। सन् ४५ ई० में हिप्पेलस नामक एक जहाजी ने किसी तरह से इस बात का पता लगा लिया कि भारतीय महासागर में समय-समय पर कुछ खास रुख की हवाएँ चलती हैं। बस तभी से बड़े-बड़े जहाज पालों की सहायता से हवा के रुख पर उचित समय आने पर चल पड़ते थे और महीनों के बदले में कुछ ही हफ्तों में लाल समुद्र के मुहाने से चलकर अरब महासागर पार करते हुए सीधे भारत के मलाबार तट पर आ पहुँचते थे और फिर विपरीत दिशा में हवा चलने पर उसी प्रकार जल्दी अपने स्थान को लौट भी जाते थे।

पर जब सन् ६४० में मिस्र पर भी अरबों का अधिकार हो गया, तब यह मिस्रवाला मार्ग भी युरोपियन व्यापारियों के हाथ से निकलकर अरबों के हाथ में चला गया। उस समय भारत से अरब लोग ही सारा माल लेवान्ट तक ले जाते थे और तब वहाँ से युरोपवाले व्यापारी वह माल लेकर युरोप के भिन्न-भिन्न देशों में पहुँचाते थे। मिस्र पर अरबों का अधिकार प्रायः सोलहवीं शताब्दी तक था और इस बीच में उनके कारण यह भारतीय व्यापार भी बहुत अच्छी दशा में रहा। जिस समय धार्मिक युद्धों आदि के कारण सीरियावाला मार्ग बन्द हो जाता था, उस समय इस मार्ग का और भी अधिक उपयोग होने लगता था। पर जब मिस्र पर तुर्कों का अधिकार हुआ, तब इस मार्ग का व्यापार भी मन्दा होने लगा और बीच-बीच में बन्द भी हो जाता था। इससे वेनिस और जनेवा के व्यापारियों का हाथ बहुत कुछ रुक गया। तुर्कों ने मिस्र, सीरिया और कुस्तुन्तुनिया सभी युरोपवालों के लिए बन्द कर दिये थे, इसलिए कुछ समय के लिए युरोप के बाजारों में एशिया का माल बहुत कम पहुँचने लगा और इसी लिए उन चीजों के दाम भी बहुत बढ़ गये।

नया मार्ग—जब युरोपवालों के लिए एक एक करके भारत के सभी मार्ग बन्द हो गये, तब युरोपियन जहाजी लोग भारत के लिए नया मार्ग ढूँढ़ने लगे। भूमध्य सागर तो उनके लिए बिलकुल बन्द ही हो गया था। अन्त में जब पुर्तगालवालों ने अफ्रिका की प्रदक्षिणा करते हुए सदाशा अन्तरीप (Cape of Goodhope) वाला नया मार्ग ढूँढ़ निकाला, तब पूर्वी देशों के साथ युरोप का फिर व्यापार होने लगा। इससे अब उन युरोपियनों की भी आँखें खुलने लगीं जो पहले दूसरे व्यापारियों से भूमध्य सागर में पूर्वी देशों का माल खरीदा करते थे और पूर्वी देशों के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान नहीं रखते थे। उससे पहले जो

तुर्क और मूर व्यापारी भारतीय महासागर में व्यापार करते थे, उन्होंने मिलकर पुर्त्तगालियों के मार्ग में बहुत सी बाधाएँ खड़ी करने का प्रयत्न किया और हर तरह से उन्हें इस नये व्यापार से रोकना चाहा। पर उन लोगों को इस प्रयत्न में कुछ भी सफलता नहीं हुई। पुराने मार्गों से जो व्यापार होता था, अब वह बराबर धीरे धीरे कम होने लगा और कुछ दिनों बाद मिस्र के मार्ग से होनेवाला व्यापार बिलकुल ही बन्द हो गया। यह मिस्रवाला मार्ग अन्त में उस समय जाकर फिर से खुला, जब स्वेज की नहर बनी।

पुर्त्तगालियों के व्यापार का आरम्भ—जिस प्रकार पूर्वी युरोप में तुर्कों के सब आक्रमण पहले बैजन्तीनी साम्राज्य को ही सहने पड़ते थे, उसी प्रकार अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण उत्तरी अफ्रिका के मूरों के सब आक्रमण पहले पुर्त्तगाल को ही सहने पड़ते थे। पुर्त्तगाल के समुद्र-तट पर पहले से ही कई अच्छे और रक्षित बन्दरगाह थे जिनके कारण वहाँ बहुत से अच्छे अच्छे नाविक निकलने लग गये थे। सन् १३८० में ही स्पेन के अधिकार से निकलकर पुर्त्तगाल स्वतन्त्र हो गया था और स्पेनी प्रायद्वीप से मूरों को निकाल कर बाहर करने में पुर्त्तगालियों ने ही बहुत अधिक सहायता की थी। ईसाई धर्मयुद्धों के समय पुर्त्तगाल में भी बहुत अधिक उत्तेजना फैली थी और उस समय भी उन्हें मूरों से अनेक युद्ध करने पड़े थे। इन सब कारणों से पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में पुर्त्तगालियों के हौसले बहुत बढ़ गये थे। और आगे चलकर इसी का यह परिणाम हुआ कि उन्होंने अनेक नये देशों और मार्गों आदि का पता लगाया और कुछ देशों पर विजय प्राप्त करके अपना अधिकार भी जमाया था।

लगभग उसी समय पुर्त्तगालियों में नवीन राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना भी बहुत जोरों से फैलने लगी थी जिससे नवीन मार्गों के अनुसन्धान और राज्य-स्थापन को और भी प्रोत्साहन मिला था। पन्द्रहवीं शताब्दी में पुर्त्तगालियों ने उत्तर-पश्चिमी अफ्रिका का सारा समुद्र-तट छान डाला और मूरों के हाथ से वहाँ का सारा व्यापार छीन लिया। सन् १४८७ में डियस नामक एक पुर्त्तगाली नाविक अफ्रिका की प्रदक्षिणा करता हुआ सदाशा अन्तरीप (Cape of Good-hope) से भी आगे निकल गया था। पर उसके साथी नाविकों ने वहाँ से और आगे बढ़ने से इनकार कर दिया था, इसलिये उसे लाचार होकर वापस लौट आना पड़ा। इसी बीच में पुर्त्तगाल के राजा ने मिस्र और लाल सागर से होकर भारत का मार्ग ढूँढ़ निकालने का भी प्रयत्न किया था। उसका भेजा हुआ पेड़ो कोविलहम नामक एक नाविक लाल सागर से होता हुआ मलाबार तट तक आ पहुँचा था। यद्यपि डियस ने पूर्वी देशों का एक नया द्वार खोल दिया था,

पर उसमें पहले-पहल वास्को डि गामा ने ही प्रवेश करने का सौभाग्य प्राप्त किया था। सन् १४९७ की ग्रीष्म ऋतु में पुर्त्तगाल के राजा ने वास्को डि गामा को सदाशा अन्तरीप के मार्ग से भारत भेजा था। जब वह जंजीबार के उत्तर में मोम्बासा तक पहुँच गया, तब वहाँ उसे एक गुजराती नाविक मिला था जिसने उसे अरब सागर पार करा के मई सन् १४९८ में कालीकट पहुँचा दिया। वह कालीकट में अधिक समय तक नहीं ठहरा और लौटकर सन् १४९९ के अन्त में फिर पुर्त्तगाल चला गया। इस प्रकार पुर्त्तगालवालों ने भारत के मार्ग पर अधिकार कर लिया।

जिस समय और जिस स्थान पर पुर्त्तगालियों ने पहले-पहल भारत में पैर रखा था, वह समय और स्थान दोनों ही सौभाग्य से उनके लिए बहुत ही अनुकूल और उपयुक्त सिद्ध हुए। वे जिस समय मलाबार-तट पर पहुँचे थे, उस समय वहाँ कालीकट के जमोरिन और कोचीन के राजा तथा कुछ और छोटे राजाओं में खटपट चल रही थी और इसी लिए वहाँवाले पुर्त्तगालियों के सशस्त्र जहाजों का मुकाबला न कर सके थे। इसके सिवा भारतवासी बहुत प्राचीन काल से अतिथि-सत्कार के लिए बहुत प्रसिद्ध चले आते हैं और बहुतेरे विदेशियों का उन्होंने बहुत अच्छा स्वागत किया है। अपनी इसी प्रवृत्ति के अनुसार उन्होंने इन पुर्त्तगाली व्यापारियों का भी उसी प्रकार स्वागत किया, जिस प्रकार पहले अरब व्यापारियों का स्वागत किया था। इसमें उनका एक स्वार्थ भी था और वह यह कि उन्हें समुद्री व्यापार से कर आदि के रूप में अच्छी आय होती थी। उन दिनों भारत और युरोप के मध्य होनेवाले व्यापार के लिए भी मलाबार का समुद्र-तट इसलिए बहुत उपयुक्त था कि वहीं से लंका और मलक्का आदि के लिए मार्ग जाता था, जहाँ के मिर्च-मसाले आदि युरोप में बहुत बिकते थे। कृष्णा और तुंगभद्रा नदी के दक्षिण का सारा प्रदेश उस समय विजयनगर के साम्राज्य के अधीन था। पर विजयनगरवालों को मलाबार तट के कामों में हस्तक्षेप करने का अवकाश ही नहीं मिलता था। पुर्त्तगालियों ने समझ लिया कि यदि हम विजयनगर के साथ मित्रता कर लें तो हमारा व्यापार काफी चमक उठेगा। बहमनी साम्राज्य उन दिनों गृह-कलह के कारण बहुत दुर्बल हो रहा था। इसके सिवा आस-पास के कई राज्यों के साथ अनेक युद्ध करने के कारण उसकी शक्ति पहले से ही बहुत कुछ कम हो गई थी। अहमदनगर, बीदर, बरार और गोलकुंडा सब उसके हाथ से निकल कर स्वतन्त्र हो गये थे और पश्चिमी समुद्र-तट के साथ उन लोगों का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। गोआ के आस-पास बीजापुर का राज्य अवश्य था, पर उसके पास पुर्त्तगाली

बेड़े का मुकाबला करने के लिए लड़ाई के जहाज नहीं थे। फिर उसे विजय-नगर के साथ भी बराबर युद्ध करने पड़ते थे। पुर्त्तगालियों ने समुद्री डाकुओं के कई सरदारों को भी अपनी ओर मिला लिया था और कई बन्दरगाहों के हिन्दू राजाओं से भी, जो विजयनगर के करद थे, मेल-मिलाप बढ़ा लिया था। उत्तरी भारत के लोदी शासक भी उन दिनों विशेष प्रबल नहीं थे और गुजरात, मालवा तथा बंगाल में अलग अलग स्वतन्त्र मुसलमान शासक राज्य करते थे। जिस समय बाबर और अकबर ने मुगल साम्राज्य की स्थापना की थी, उस समय तक पुर्त्तगालियों की शक्ति और प्रभाव बहुत कुछ बढ़ चुका था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जिस समय पुर्त्तगालियों ने भारत में पैर रखा था, उस समय उत्तरी अथवा दक्षिणी भारत में कोई ऐसी प्रबल शक्ति नहीं थी जो उन्हें भारत में पैर जमाने से रोक सकती।

जिस समय पुर्त्तगाली कालीकट में पहुँचे, उस समय वहाँ का बन्दरगाह विदेशी व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। इसके अतिरिक्त वहाँ का शासक जमोरिन बहुत ही न्यायप्रिय था और सभी व्यापारियों के साथ समानता का व्यवहार करता था। वह इस बात का विशेष ध्यान रखता था कि किसी व्यापारी को कोई कष्ट न होने पावे। प्रायः सभी यात्रियों ने जमोरिन की न्यायप्रियता और सद्व्यवहार की यथेष्ट प्रशंसा की है। परन्तु कोचीन के राजा के साथ उसकी शत्रुता थी और कदाचित् इसका कारण यह था कि मलाबार तट पर जितनी मिर्च होती थीं, वे सब कोचीन से होकर ही विदेश जाती थीं।

जिस समय वास्को डि गामा भारत आ रहा था, उस समय उसे पूर्वी अफ्रिका के उन व्यापारियों ने भी देखा था जो भारत, फारस और अरब में व्यापार करते थे। उन्हें डर हुआ कि कहीं यह हमारा व्यापार छीन न ले और उन्होंने इस बात की सूचना मलाबार तट के अरब तथा मोपला व्यापारियों को दे दी। इसका फल यह हुआ कि कालीकट पहुँचने पर वहाँ के अरब व्यापारियों ने उसका घोर विरोध किया और वे उसके साथ मार-पीट करने को तैयार हो गये। पर जमोरिन के सशस्त्र सैनिकों ने उनसे वास्को डि गामा की रक्षा की थी।

सन् १५०० में अलवरेज कैबरल के नेतृत्व में पुर्त्तगालियों का जो दूसरा दल कालीकट पहुँचा था, उसके साथ मुसलमान व्यापारियों का कुछ झगड़ा हो गया था, इसलिए कैबरल वहाँ से कोचीन और कानानोर चला गया और, वहाँ के शासकों के साथ उसने मित्रता कर ली। पुर्त्तगालियों ने समझ लिया कि जब तक अरब व्यापारियों का वश चलेगा, तब तक वे यहाँ हमारा व्यापार

जमने न देंगे। इसलिए सन् १५०२ में वास्को डि गामा ने उन्हें दबाने के लिए अपनी सैनिक शक्ति से काम लिया। उसने कालीकट पर गोलेबारी करके अरबों को दबाया, कोचीन तथा कनानोर के अपने कारखानों को मजबूत किया और मलाबार तट पर रक्षा आदि के लिए अपना एक बेड़ा नियुक्त किया। सन् १५०४ में जब जमोरिन ने कोचीन पर चढ़ाई की, तब थोड़े से पुर्त्तगालियों ने बहुत वीरता पूर्वक कोचीन की रक्षा करके यह दिखला दिया कि अरबों और भारत-वासियों के मुकाबले में पुर्त्तगाली गोलन्दाज कहीं बढ़े-चढ़े हैं। इसके बाद पुर्त्त-गालियों ने कालीकट और उसके आस-पास के कई दूसरे बन्दरगाहों को नष्ट करके मुसलमानों का वह व्यापार पूरी तरह से रोक दिया जो फारस की खाड़ी और मलाबार तट में होता था। इस प्रकार पुर्त्तगालियों ने मलाबार में अरबों का सारा प्रभाव नष्ट कर दिया और कई नई कोठियाँ बनाकर उनकी पूरी किले-बन्दी कर ली।

सन् १५०५ में फ्रान्सिस्को डि अलमेडा पूर्वी प्रदेशों के लिए पुर्त्तगालियों का पहला वाइसराय बनाकर भारत भेजा गया। वह चाहता था कि पूर्वी अफ्रिका का व्यापारिक मार्ग बिलकुल बन्द हो जाय और भारत की सब चीजें सदाशा अन्तरीप के मार्ग से होकर युरोप जाया करें और भारत के व्यापार पर पुर्त्त-गालियों का एक मात्र अधिकार हो जाय। वह केवल व्यापारिक दृष्टि से अपनी समुद्री शक्ति बढ़ाना चाहता था। वह यह भी समझता था कि अपना यह उद्देश्य सिद्ध करने से पहले मुझे तुर्की और मिस्र के मजबूत जंगी बेड़ों से लोहा लेना पड़ेगा। पर फिर भी अलमेडा ने सहज में पूर्वी अफ्रिका के बन्दरगाहों को दबा लिया और विजयनगर के राजा को अपनी ओर मिलाकर कनानोर में एक किला भी बना लिया। अब अरब व्यापारी लंका और मालदीप से माल लाने लगे थे, इसलिए अलमेडा ने अपने लड़के को लंका भेजा। इसमें उसके दो उद्देश्य थे। एक तो यह कि अरबों का लंकावाला मार्ग बन्द हो जाय और दूसरे यह कि लंका के व्यापार पर भी जहाँ तक हो सके, पुर्त्तगालियों का अधिकार हो जाय। सन् १५०६ में उसने जमोरिन को भी पूरी तरह से दबा लिया और मलाबार के बन्दरगाहों तथा लंका में पुर्त्तगालियों का पूरा-पूरा प्रभाव स्थापित कर दिया। इसके बाद अलमेडा को मिस्र और तुर्कों के साथ युद्ध करना पड़ा। सन् १५०९ में उसने मिस्रियों, जमोरिन और गुजरात के सुलतान के सम्मिलित बेड़ों को परास्त किया और इस प्रकार भारतीय महासागर में युरोपीय समुद्री शक्ति का प्रभुत्व स्थापित कर दिया। बस तभी से पूर्व में पुर्त्तगालियों का अधिकार सबसे बढ़ गया।

अलमेडा के बाद अलबुकर्क पूर्वी प्रदेशों में पुर्त्तगाली गवर्नर नियुक्त हुआ था (सन् १५०९–१५१५)। यह पहले पूर्वी अफ्रिका के तट पर पुर्त्तगालियों का मार्ग सुरक्षित करने के सम्बन्ध में बहुत कुछ काम कर चुका था। इसने भी भारत में पुर्त्तगालियों की शक्ति, वैभव और कुछ स्थानों पर राज्य स्थापित करने में बहुत कुछ सहायता की थी। बल्कि भारत में पुर्त्तगाल को एक शक्ति का रूप पहले-पहल इसी ने प्रदान किया था। यह चाहता था कि पूर्व में पुर्त्तगालियों के उपनिवेश भी स्थापित हों और राज्य भी। अँगरेजों से बहुत पहले अलबुकर्क की समझ में ही यह बात आई थी कि यदि पुर्त्तगाल के पास एक मजबूत समुद्री बेड़ा हो तो वह भारत में भली भाँति अपना राज्य स्थापित कर सकता है। वह चाहता था कि फारस की खाड़ी और लाल सागर पर अधिकार करके वहीं से मुसलमानों का व्यापार रोका जाय, इसलिये उसने सन् १५१५ में उर्मुज पर अधिकार करके वहाँ एक मजबूत किला बनवाया और अदन का मार्ग भी रोक दिया। फिर उसने जद्दा तक पहुँचकर अबिसीनिया के ईसाई राजा को दक्षिण की ओर से मिस्र पर आक्रमण करने के लिए तैयार किया। इधर मलाबार के बन्दरगाहों से भी उसने मुसलमानों को हटाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया। सन् १५१० में ही उसने बीजापुरवालों से गोआ छीन लिया था। इससे खम्भात की खाड़ी से लेकर कन्या कुमारी तक के समस्त मार्ग पर उसका नियन्त्रण हो गया। इस प्रकार भारत के दक्षिण-पश्चिमी तट पर मानों पुर्त्तगालियों का पूरा पूरा अधिकार हो गया।

राज्य-विस्तार—सन् १५११ में अलबुकर्क ने मलक्का के बन्दरगाह पर अधिकार करके वहाँ भी एक किला बनाया और इस प्रकार मलाया प्रायद्वीप और उसके समीपवर्त्ती द्वीपपुंज पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया। मुसलमानों का व्यापार-मार्ग फारस की खाड़ी से आरम्भ होकर भारत के पश्चिमी समुद्र तट से होता हुआ मलक्का तक था। और अलबुकर्क ने इस मार्ग के आरम्भ, मध्य और अन्त तीनों ही भागों पर अधिकार करके उनका व्यापार पूरी तरह से बन्द कर दिया था। इस काम में उसने कई अवसरों पर युद्ध में भी बहुत अच्छी विजय प्राप्त की थी और अपनी कूट नीति का भी बहुत अच्छा परिचय दिया था। मलक्का पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त उसने स्याम के साथ भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किया था। इस प्रकार अलबुकर्क ने पूर्व में पुर्त्तगालियों का राज्य और अधिकार स्थापित करने में बहुत कुछ सहायता की थी।

अलबुकर्क के बाद भी पुर्त्तगाली लोग बराबर अनेक पूर्वी स्थानों पर विजय प्राप्त करके अपने राज्य का विस्तार करते रहे। मदरास और हुगली में भी

उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित किये और काठियावाड़ के ड्यू नामक स्थान में एक किला बनाया। सन् १५३८ में गुजरात के सुलतान के सैनिकों ने स्थल मार्ग से और तुर्की बेड़े ने जल मार्ग से ड्यू पर आक्रमण किया था, पर पुर्त्तगालियों ने उन दोनों ही शक्तियों को परास्त करके अच्छी कीर्ति सम्पादित की थी। पर इसके बाद पुर्त्तगालियों की और कोई महत्वपूर्ण विजय नहीं हुई और वे केवल अपने व्यापार की व्यवस्था करने में ही लगे रहे। उनका मुख्य उद्देश्य यही था कि भारत और युरोप में होनेवाला व्यापार हमारे हाथ में आ जाय। और वे जो कुछ करते थे, वह केवल इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए करते थे। अपना राज्य स्थापित करना उनका मुख्य उद्देश्य नहीं था। वे सब जगह इसी बात का प्रयत्न करते थे कि हमारे जहाज और व्यापारी आदि सब प्रकार के करों से मुक्त रहें, भारत में बसनेवाले ईसाई स्वतन्त्र रहें और व्यापार में हमारे साथ कोई प्रतिद्वन्द्विता न करने पावे। अँगरेजों और डचों के आने से पहले भारतीय महासागर में पुर्त्तगाली समुद्री शक्ति ही सबसे अधिक प्रबल थी। आरम्भ से ही वे अपनी सेना में भारतीय सैनिक रखते आये थे और उन्हें अपने ढंग की सैनिक शिक्षा देकर युद्धों में उन्हीं से काम लेते थे। वे राज्यों की आन्तरिक बातों और उत्तराधिकार सम्बन्धी झगड़ों में भी प्रायः हस्तक्षेप किया करते थे। पर इन सबमें भी उनका उद्देश्य केवल अपना व्यापार बढ़ाना ही होता था। व्यापार के सिवा उनका और कोई दृष्टिकोण ही नहीं था।

परन्तु पुर्त्तगाली लोग भारत तथा दूसरे पूर्वी प्रदेशों में व्यापार ही नहीं करते थे, बल्कि व्यापार के नाम पर पूरी लूट मचाते थे। यह व्यापार होता तो पुर्त्तगाल के राजा के नाम पर था, परन्तु पुर्त्तगाली अफसर बीच में अपना निजी व्यापार करके ही उससे होनेवाला बहुत सा लाभ अपने ही पास रख लेते थे। वे अपनी भारतीय प्रजा और विरोधियों के साथ बहुत ही निर्दयता का व्यवहार करते थे जिससे उनके शत्रुओं और अशुभचिन्तकों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। इसी लिए बाद में जब अँगरेज और डच लोग भारत में आये, तब पुर्त्तगालियों के बहुत से विरोधी अँगरेजों और डचों के साथ मिलकर उन्हें सहायता देने लगे। जिन भारतीय रियासतों के साथ पुर्त्तगालियों का सम्बन्ध हुआ था, उनके साथ भी उनकी प्रायः शत्रुता ही चलती रहती थी। इसके सिवा वे हिन्दुओं और मुसलमानों को बलपूर्वक ईसाई बनाने का भी बहुत कुछ प्रयत्न करते थे और उनकी बहुत सी शक्ति ईसाई धर्म के प्रचार में ही लग जाती थी। भारत के कई स्थानों में पुर्त्तगाली धर्माधिकारियों के बड़े बड़े अड्डे और धार्मिक न्यायालय भी स्थापित हो गये थे जो काफिरों और विधर्मियों को जरा जरा सी बात पर

बहुत कठोर दंड देते थे। आगे चलकर जब पुर्त्तगाल और स्पेन आपस में मिल गये, तब उनकी धर्मान्धता ने असह्य रूप धारण कर लिया। मलाबार में पहले से सीरिया के कुछ ईसाई रहते थे जिन्हें पुर्त्तगालियों ने बुरी तरह से दबाना चाहा। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि पुर्त्तगालियों के भय से बहुत से लोग गोआ तथा कई दूसरे नगर छोड़कर भाग गये और कई नगर तथा कस्बे उजाड़ हो गये। पर कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्होंने मार खाकर अथवा मार के भय से ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। इन दुष्ट पुर्त्तगालियों में सन्त फ्रांसिस ज़ेवियर नामक एक महात्मा भी थे जो बहुत ही दयालु और साथ ही चतुर भी थे। उन्होंने छोटी जाति के बहुत से हिन्दुओं को सद्व्यवहारपूर्वक ईसाई बनाया था।

इसके सिवा पुर्त्तगालियों के पास स्वयं अपने आदमियों की भी कमी थी। उन्होंने अपने राज्य और अधिकार का विस्तार तो बहुत कर लिया था, परन्तु सदाशा अन्तरीप से लेकर मलक्का तक के व्यापार मार्ग की रक्षा के लिए जितने आदमियों की आवश्यकता थी, उतने आदमी उनके पास नहीं थे। उनके बहुत से आदमी युद्धों, दुर्घटनाओं और रोगों आदि के कारण मर गये थे, इससे उनके यहाँ आदमियों का और भी टोटा हो गया था। फिर बहुत से पुर्त्तगालियों ने अफ्रिका और भारत में विवाह करके अपनी जातीयता का भी बहुत कुछ नाश कर डाला था, जिससे उनकी प्रतिष्ठा और शक्ति दोनों का बहुत कुछ ह्रास हो गया था।

शासन-प्रणाली में दोष—पुर्त्तगालियों की शासन-प्रणाली में भी कई दोष थे। पहली बात तो यह थी कि जो नया गवर्नर आता था, वह सब पुराने कर्मचारियों को निकाल कर उनके स्थान पर अपने नये आदमी भर देता था। प्रायः ऊँचे और बड़े पद उन्हीं लोगों को दिये जाते थे जो बड़ी बड़ी रकमें देते थे। प्रायः कोई व्यक्ति तीन वर्ष से अधिक किसी पद पर रहने नहीं पाता था। सैनिकों में प्रायः बड़े बड़े चोर और डाकू भी रहते थे और सब सैनिकों को नियमित रूप से वेतन भी नहीं मिलता था। व्यापार से भी बहुत ही थोड़े पुर्त्तगाली अमीर बनते थे और उनका धन भी या तो भोग-विलास में और या युद्धों में ही व्यय होता था। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ था कि पुर्त्तगाल से मनुष्य तो बहुत से निकल गये और खाली सोना वहाँ जाकर जमा हो गया था।

ह्रास का आरम्भ—सन् १५९५ तक तो पुर्त्तगालियों का काम बहुत जोरों से चलता रहा, पर इसके बाद उसमें कमी होने लगी। स्पेनवालों ने पुर्त्तगाल को जबरदस्ती अपने साथ मिला लिया था, जिससे पुर्त्तगालवाले पूर्व के

व्यापार आदि की ओर कम ध्यान देने लगे थे। उसी समय से हालैण्ड और इंग्लैंड ने भी पूर्वी व्यापार क्षेत्र में प्रवेश करके पुर्त्तगालवालों के साथ विकट प्रतियोगिता आरम्भ कर दी थी। सन् १५८८ में अँगरेजों ने स्पेन के सुप्रसिद्ध अजेय बेडे आरमेडा को पूर्ण रूप से परास्त और नष्ट किया था और अँगरेज नाविक भी बहुत बड़ी बड़ी यात्राएँ करने लगे थे। युरोप के कुछ और झगड़ों के कारण सन् १५८० से १६१२ तक पुर्त्तगालवाले अपने अधिक जहाज भी पूर्व की ओर नहीं भेज सके थे। सन् १५९६ में स्पेन दिवालिया हो गया था और इससे भी पुर्त्तगाल की बहुत क्षति हुई थी। इन्हीं सब कारणों से पुर्त्तगाल का व्यापार दिन पर दिन घटने लगा। और अन्त में जब सन् १६४० में पुर्त्तगाल फिर से स्वतन्त्र हुआ, तब तक एशिया के समस्त समुद्र और यहाँ का सारा व्यापार उसके हाथ से निकल चुका था।

डचों और अँगरेजों का उदय—उधर डच लोग बराबर पुर्त्तगालियों को जगह जगह से निकाल कर अपना अधिकार बढ़ाते जा रहे थे। धीरे-धीरे उन्होंने सुमात्रा और जावा पर अधिकार कर लिया था और बाद में लंका तथा मलक्का से भी उन्हें निकाल बाहर किया था। अँगरेज भी इस काम में बराबर डचों की सहायता कर रहे थे और उन्होंने सन् १६११ में खम्भात की खाड़ी में पुर्त्तगाली बेडे को परास्त किया। सन् १६१५ में उन्होंने सूरत के पास पुर्त्तगालियों को बुरी तरह से हराया था और सन् १६१६ में कालीकट के जमोरिन के साथ प्रत्यक्ष व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया था। सन् १६२२ में उन्होंने पुर्त्तगालियों से उर्मुज छीनकर फारस की खाड़ी के व्यापार पर भी अधिकार कर लिया था और सन् १६५४ में यहाँ तक नौबत आ पहुँची कि पुर्त्तगालियों को विवश होकर एक सन्धि के द्वारा यह स्वीकृत करना पड़ा कि पूर्व में उनके अधिकृत स्थानों में अँगरेज लोग जहाँ चाहें, वहाँ रह सकते और व्यापार कर सकते हैं। सन् १६२९ में शाहजहाँ की आज्ञा से उनका हुगलीवाला उपनिवेश भी नष्ट कर दिया गया था और सन् १६६५ में पुर्त्तगाली समुद्री डाकुओं का चटगाँववाला अड्डा भी तोड़ दिया गया था। सन् १६७० के लगभग अरबों ने उनका द्यू वाला किला लूट लिया था। और मराठों तथा मुगलों ने भी उन्हें हर तरह से दबाना आरम्भ कर दिया था। तात्पर्य यह कि चारों तरफ से पुर्त्तगालियों की खराबी ही हो रही थी और उनकी सारी शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई थी।

बारहवाँ अध्याय

मुगल साम्राज्य का पतन

औरंगजेब के उत्तराधिकारियों में युद्ध—कहते हैं कि औरंगजेब ने मरते समय यह लिखवा दिया था कि मेरे बाद मेरा साम्राज्य मेरे तीनों लड़कों में बाँट दिया जाय जिसमें उत्तराधिकार के सम्बन्ध में उनमें आपस में कोई लड़ाई-झगड़ा न हो। उस लेख में औरंगजेब ने कहा था कि मुअज्जम मेरे स्थान पर बादशाह हो और उत्तरी तथा पूर्वी प्रदेश उसके अधिकार में रहें। यही मुअज्जम आगे चलकर शाह आलम और फिर बाद में बहादुर शाह के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। इसके साथ औरंगजेब ने कई बार कठोर व्यवहार किया था और इसे कैद भी किया था। पर यह बराबर समझदारी से काम लेता रहा। औरंगजेब की मृत्यु के समय यह काबुल और पेशावर का सूबेदार था और इसपर औरंगजेब की विशेष कृपा भी हो गई थी और इसी लिए उसने इसे बादशाह बनाने के लिए कहा था। दूसरा लड़का आजम शाह था जिसपर कुछ दिनों तक औरंगजेब की विशेष कृपा थी और जो समझता था कि मैं ही सारे साम्राज्य का उत्तराधिकारी बनूँगा। पर औरंगजेब ने इसे केवल आगरे के दक्षिण और पश्चिम के प्रदेश प्रदान किये थे। तीसरा लड़का कामबख्श औरंगजेब के बुढ़ापे में हुआ था और इसी लिए औरंगजेब का उसके प्रति औरों की अपेक्षा अधिक अनुराग था। पर उसे उसने गोलकुंडा और बीजापुर दिया था। कुछ इतिहास-लेखकों का मत है कि औरंगजेब ने इस प्रकार का कोई वसीयतनामा नहीं लिखा था और सम्भव है कि उसने यह सब व्यवस्था मौखिक ही बतलाई हो। जो हो, मुअज्जम या शाह आलम तो यह व्यवस्था मानने के लिए तैयार था, पर उसके बाकी दोनों भाई नहीं मानते थे। और यह बात मुगल राजवंश की उत्तराधिकार सम्बन्धी परम्परा के अनुकूल ही थी। मुअज्जम या शाह आलम ने काबुल में अपना राज्याभिषेक करा के अपना नाम बहादुर शाह रखा और तब वह आगरे पर अधिकार करने के लिए वहाँ से तेजी के साथ रवाना हुआ। उधर आजम भी इसी उद्देश्य से मालवे से दौड़ा हुआ चला आ रहा था। जाजऊ नामक स्थान में इन दोनों की सेनाओं का मुकाबला हुआ और १० जून सन् १७०७ को दोनों सेनाओं में एक बड़ा युद्ध भी हुआ। इस युद्ध में मुअज्जम

के लड़के ने, जो कई वर्षों तक बंगाल का सूबेदार रह चुका था, बहुत वीरता-पूर्वक लड़कर आजम की सेना को परास्त किया और आजम को सख्त घायल किया। आजम के कई साथी उससे बहुत नाराज थे, इसलिए उन्होंने इस युद्ध में उसकी कोई विशेष सहायता नहीं की, और जब वह हार गया, तब वे बहादुर शाह के साथ मिल गये। इस प्रकार बहादुर शाह चौंसठ वर्ष की अवस्था में आगरे में तख्त पर बैठा। दक्षिण में कामबख्श ने बीजापुर और गोलकुंडा पर अधिकार करके अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी थी और बहादुर शाह के विरुद्ध विद्रोह किया था, इसलिए बहादुर शाह ने दक्षिण पहुँचकर हैदराबाद के पास उसके साथ युद्ध किया जिसमें कामबख्श बहुत घायल हुआ और अन्त में उन्हीं घावों के कारण सन् १७०८ के आरम्भ में उसकी मृत्यु भी हो गई। शाहजादा आजम पहले ही मर चुका था; इसलिए अब सारे साम्राज्य पर केवल बहादुर शाह का ही अधिकार हो गया।

शाहू का छुटकारा—औरंगजेब की मृत्यु होते ही शाहू कैद से छोड़ दिया गया था। इसका कारण यह था कि ज़ुलफ़िकारखाँ ने परामर्श दिया था कि यदि शाहू छोड़ दिया जायगा तो मराठों में फूट उत्पन्न हो जायगी। इधर कुछ दिनों से दक्षिण से मुगल सेना हट गई थी और मराठे फिर वहाँ के किलों आदि पर अधिकार करने लग गये थे। उस समय राजाराम की विधवा स्त्री ताराबाई ही सब मराठों का नेतृत्व करती थी और वह नहीं चाहती थी कि राज-नीतिक क्षेत्र में कोई मराठा मेरी प्रतियोगिता कर सके। शाहू जी ने छूटते ही सतारे की ओर प्रस्थान किया। धन्ना जी यादव आदि कई मराठे सरदार शाहू जी के पक्ष में हो गये थे और कहते थे कि मराठा राज्य का प्रकृत उत्तराधिकारी शाहू जी ही है। इसके सिवा दक्षिण में मुगलों ने शाहू जी के साथ एक सन्धि कर ली थी जिसके अनुसार शाहू जी को दक्षिण का सरदेशमुख मान लिया गया था और उसे दक्षिण के छः सूबों में चौथ वसूल करने का अधिकार दे दिया गया था। पर मुगलों ने समझा यही था कि चौथ हमीं लोग वसूल करेंगे और मराठों की ओर से इसमें कोई हस्तक्षेप न होगा। उधर ताराबाई यह चाहती थी कि मेरा छोटा लड़का (जो उस समय कोल्हापुर का राजा था) समस्त मराठे प्रदेशों का स्वामी माना जाय। उसके पक्ष में मुनइमखाँ वजीर तथा कुछ और सरदार भी थे। इस प्रकार ज़ुलफ़िकारखाँ की चाल चल गई और शाहू जी के छूटते ही मराठों में फूट फैल गई। अब कुछ दिनों के लिए मुगल प्रान्तों पर मराठों के आक्रमण बन्द हो गये।

राजपूतों के साथ मेल—शाहू जी के साथ सन्धि करके और मराठों में

फूट डालकर बहादुर शाह ने राजपूताने की ओर प्रस्थान किया। वह चाहता था कि राजपूतों के साथ और विशेषतः जयपुर के राजा जयसिंह द्वितीय तथा जोधपुर के राजा अजीतसिंह के साथ भी इसी प्रकार सन्धि कर ली जाय जिसमें राजपूतों का उपद्रव भी कम हो। उदयपुर के महाराणा को उनका प्रदेश देकर उनकी स्वतन्त्रता मान्य कर ली गई और इसी प्रकार की रिआयतें जोधपुरवालों के साथ भी की गईं। ये राज्य जजिया देने से भी बरी कर दिये गये। पर जयपुरवालों के साथ जो सन्धि की गई थी, उसमें इसलिए कुछ कड़ी शर्तें रखी गई थीं कि उन्होंने पहले शाहजादा आजम का पक्ष ग्रहण किया था। राजपूतों के साथ जो यह मेल किया गया था, उसका कारण यही था कि पञ्जाब में सिक्ख बहुत प्रबल हो चले थे और सारे सरहिंद पर उनका अधिकार हो गया था। उनके नेता बन्दा बहादुर ने चारों ओर बहुत आतंक फैला रखा था; और बहादुरशाह स्वयं पंजाब जाकर सिक्खों को दबाना चाहता था। यद्यपि बहादुर शाह ने अपनी ओर से राजपूतों को शान्त करने के कई उपाय किये थे, पर फिर भी जयसिंह और अजीतसिंह ने मिलकर मुगलों के विरुद्ध अपना प्रयत्न जारी रखा।

सिक्खों का विद्रोह—हम पहले बतला चुके हैं कि गुरु गोविन्दसिंह सिक्खों के दस गुरुओं में से अन्तिम गुरु थे और मरने से पहले उन्होंने बन्दा बहादुर नामक एक साधु को सिक्खों का नेता नियुक्त किया था। यह बन्दा बहादुर पुन्छ रियासत के रजावड़ी नामक स्थान का रहनेवाला डोगरा राजपूत था और इसका पुराना नाम लक्ष्मणदेव था। यह युवावस्था में ही साधु होकर गोदावरी के तट पर जा रहा था। जब गुरु गोविन्दसिंह दक्षिण गये थे, तब उन्होंने इसे सिक्खों का नेतृत्व सौंप कर और अपनी एक तलवार तथा पाँच तीर देकर पंजाब भेजा था। बन्दा ने पंजाब पहुँच कर चारों तरफ से हजारों सिक्खों को लड़ने के लिए एकत्र किया। बहादुर शाह पहले तो दक्षिण में मराठों से और तब राजपूताने में राजपूतों के साथ सन्धि करने और शान्ति स्थापित करने में लगा रहा। इस बीच में बन्दा को बहुत अच्छा असवर मिल गया और उसने बहुत बड़ी सेना एकत्र करके सरहिन्द पर आक्रमण किया। वहाँ के सूबेदार वजीर खाँ ने उसका मुकाबला किया और मई सन् १७१० में दोनों दलों में घोर युद्ध हुआ जिसमें बन्दा अपनी सेना के आगे रहकर बहुत वीरतापूर्वक लड़ा था। वजीरखाँ मारा गया और सिक्खों ने सरहिन्द खूब अच्छी तरह लूटा और वहाँ के मुसलमानों का कत्ले-आम सा किया। बस तभी से समस्त सरहिन्द प्रान्त पर सिक्खों का पूरा अधिकार हो गया। इसके बाद बन्दा ने सहारनपुर,

करनाल और पानीपत आदि पर अधिकार किया और सिक्ख सेनाएँ दिल्ली के बहुत पास पहुँच गईं। बहादुर शाह तुरन्त राजपूतों से समझौता करके पंजाब पहुँचा और वहाँ उसने लोहगढ़ का किला घेर लिया। पर बन्दा वहाँ से किसी प्रकार भागकर नाहन-सिरमौर की पहाड़ियों में चला गया (नवम्बर १७१०)। अब वहीं से वह लूट-पाट और युद्ध आदि का काम जारी रखने लगा; यहाँ तक कि अन्त में बहादुर शाह को बीमार होकर लाहौर लौटना पड़ा जहाँ फरवरी सन् १७१२ में उसका देहान्त हो गया।

बहादुर शाह का चरित्र—यद्यपि बहादुर शाह अधिक दिनों तक राज्य का सुख नहीं भोग सका था और उसने कोई बहुत बड़ा काम भी नहीं किया था, तो भी वह अपने अन्यान्य उत्तराधिकारियों की अपेक्षा राजकीय कार्यों का संचालन करने में अधिक सफल रहा। उसने साम्राज्य के गौरव की यथा-साध्य अच्छी रक्षा की थी। वह बहुत अधिक दयालु, उदार तथा शिक्षित था और उसमें औरंगजेब का सा धार्मिक कट्टरपन नहीं था। विशेषतः उपाधियाँ आदि दान करने में तो वह सब से बढ़ा-चढ़ा था। तो भी वह हिन्दुओं को अधिक ऊँचे पद नहीं देता था, पर अपने सम्बन्धियों और सरदारों आदि के प्रति दयालुता का व्यवहार करता था।

जहाँदार शाह (सन् १७१२-१३)—बहादुर शाह का सब से बड़ा लड़का जहाँदार शाह था तो अयोग्य, पर फिर भी वह किसी प्रकार जुलफिकार खाँ की सहायता से अपने भाई अजीमउश्शान को दबाकर सिंहासन पर बैठ गया। वह कायर और अनाचारी था और अपना सारा समय ऐयाशी में बिताता था। उसने निम्न वर्ग के अपने कई सम्बन्धियों को ऊँचे ऊँचे पद दे दिये थे जिससे पुराने अमीर और सरदार बहुत अधिक असन्तुष्ट हो गये थे। इस पर अजीम उश्शान के लड़के फर्रुखसियर ने विद्रोह खड़ा कर दिया। इस विद्रोह में उसे पटने के सूबेदार हुसैनअली और इलाहाबाद के सूबेदार अब्दुल्ला से, जो दोनों भाई भाई थे और इतिहास में सैयद भाइयों के नाम से प्रसिद्ध हैं, बहुत सहायता मिली थी। और भी कई बड़े बड़े सरदार जहाँदार शाह का पक्ष छोड़कर विद्रोहियों में मिल गये थे। एक सामान्य युद्ध में ही जहाँदार शाह युद्ध-क्षेत्र से भागकर दिल्ली के किले में जा छिपा। विद्रोहियों ने वहाँ पहुँच कर उसे और उसके साथी जुलफिकार खाँ को फाँसी दिलवा दी।

फर्रुखसियर (सन् १७१३-१९)—सन् १७१३ में फर्रुखसियर बादशाह तो बन गया, पर सैयद भाइयों के प्रभुत्व और प्रभाव के आगे उसकी जल्दी कुछ चलती नहीं थी। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, इन सैयद

भाइयों में से हुसैनअली तो पटने का और अब्दुल्ला इलाहाबाद का सूबेदार था। ये लोग स्वयं भी बहुत वीर थे और इनके हाथ में शक्ति भी यथेष्ट थी। पर ये लोग शीया सम्प्रदाय के थे और इसी लिए शाही दरबार के सुन्नी सरदार इनसे और भी बुरा मानते थे। आगे चलकर ये लोग और भी ऊँचे पदों पर पहुँच गये थे। अब्दुल्ला तो वजीर हो गया था और हुसैनअली अमीर-उल-उमरा और मीरबख्शी बना दिया गया था। शासन का अधिकांश अधिकार इन्हीं लोगों के हाथ में था। ये लोग औरंगजेब की नीति के बहुत बड़े विरोधी थे और हिन्दुओं के साथ सहानुभूति रखते थे। फर्रुखसियर ने इन दोनों भाइयों के चंगुल से निकल कर स्वतन्त्र होने के लिए बहुत जोर मारा, पर उसे सफलता नहीं हुई; और इसका कारण कदाचित् यही था कि फर्रुखसियर में बुद्धिमत्ता और दृढ़ निश्चय का अभाव था और साथ ही उसे शासन सम्बन्धी कार्यों का भी कोई अनुभव नहीं था।

सन् १७१३ में ही निजाम उलमुल्क दक्खिन का सूबेदार बना दिया गया था। वह था तो बहुत वीर और प्रभावशाली, पर दरबार के षड्यन्त्रों से वह प्रायः अलग रहता था। यदि वह दरबार में मौजूद रहता तो बहुत सम्भव था कि सैयद भाइयों का प्रभुत्व और अधिकार उतना न बढ़ने पाता। फर्रुखसियर प्रायः मीर जुमला के परामर्श से सब काम करता था और मीर जुमला सैयद भाइयों का घोर विरोधी था। फर्रुखसियर और सैयद भाइयों का विरोध इतना अधिक बढ़ गया कि सैयद भाइयों ने दरबार में आना जाना बन्द कर दिया और अपने लिए कुछ नई सेनाएँ भी खड़ी कर लीं। इससे फर्रुखसियर और भी भयभीत हो गया। बहुत कुछ झगड़ों के उपरान्त अन्त में निश्चय हुआ कि मीर जुमला तो बिहार का सूबेदार बनाकर भेज दिया जाय, हुसैन अली दक्खिन भेज दिया जाय और अब्दुल्ला पूर्ववत् वजीर के पद पर रहकर काम करे। उसी अवसर पर अजीतसिंह की कन्या का विवाह बहुत धूमधाम के साथ सम्राट् के साथ हुआ था, बहुत से हिन्दुओं को बड़े बड़े पद दिये गये थे और हिन्दुओं पर लगनेवाला जजिया कर उठा लिया गया था। उधर दक्खिन में पहुँच कर हुसैन अली ने मराठों को दबाना चाहा। पर जब उसने देखा कि मराठों को दबाना सहज नहीं है, तब उसने उनके साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार यह निश्चित हुआ कि मराठों को दक्षिण में चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार है। शिवाजी के समय में और उनके बाद भी मराठों ने जिन प्रदेशों पर अधिकार किया था, उन सबका अधिकारी और स्वामी राजा शाहू मान लिया गया। यह भी निश्चय हुआ कि

दक्षिण में शान्ति बनाये रखने के लिए राजा शाहू १५००० घुड़सवार रखेंगे। इसमें हुसैन अली ने यह लाभ सोचा था कि मुझे दक्षिण में अपनी अलग सेना न रखनी पड़ेगी और इसी सेना से मैं समय पड़ने पर उत्तर भारत में काम ले सकूँगा। पर सम्राट् ने इस सन्धि को स्वीकृत करने से इन्कार कर दिया और सैयद भाइयों का बढ़ता हुआ प्रभुत्व रोकने के लिए निजामउल्मुल्क तथा दूसरे सरदारों को भी अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न आरम्भ किया। इससे सैयद भाई और भी चौकन्ने हो गये और फिर अपनी शक्ति बढ़ाने लगे। अब्दुल्ला ने हुसैनअली को दक्खिन से बुला लिया। राजा जयसिंह फर्रुखसियर को बहुत कुछ सहायता और परामर्श देते थे। उन्होंने फर्रुखसियर से कई बार कहा कि सैयद भाइयों को दबाना चाहिए और उन्हें दबाने के उपाय भी बतलाये; पर फर्रुखसियर में इतनी शक्ति ही नहीं थी कि वह सैयद भाइयों के विरुद्ध कोई कार्रवाई करता। जब हुसैन अली दक्खिन से लौटकर दिल्ली पहुँचा, तब उसने कहा कि राजा जयसिंह अपने राज्य में वापस भेज दिये जायँ। जब राजा जयसिंह चले गये, तब उसने अपनी सेना सहित दिल्ली में प्रवेश करके नगर पर अधिकार कर लिया। फर्रुखसियर मारे डर के जनाने महल में जा छिपा था। पर वह वहाँ से खींच लाया गया और उसकी हत्या की गई। (फरवरी १७१९)

फर्रुखसियर की हत्या के उपरान्त सैयद भाइयों का प्रभुत्व और भी बढ़ गया और अब सारे साम्राज्य में कोई उनका मुकाबला करनेवाला न रह गया। अजीतसिंह और राजा शाहू भी उन्हीं की तरफ थे। निजाम उलमुल्क और उनके साथी भी फर्रुखसियर के आचरण और व्यवहार से पहले से ही बहुत दुःखी रहते थे, इसलिए वे अब किसी विषय में हस्तक्षेप नहीं करते थे। नाम मात्र के दो और बादशाह सिंहासन पर बैठाये गये थे, पर कुछ ही महीनों के अन्दर उन दोनों की हत्या कर डाली गई थी। इसके बाद नवम्बर सन् १७१९ में सैयद भाइयों ने मुहम्मद शाह को गद्दी पर बैठाया। यह बहादुर शाह का पोता था और उस समय इसकी अवस्था केवल अठारह वर्ष की थी। अपने पूर्ववर्त्ती बादशाहों की तरह मुहम्मद शाह भी सैयद भाइयों के जाल से अपना छुटकारा कराना चाहता था। पर वह दिन-रात चारों तरफ से सैयदों से घिरा रहता था और कुछ भी न कर सकता था। अब्दुल्ला ने फर्रुखसियर के समय में ही अपनी ओर से रतनचन्द नामक एक बनिये को दीवान बना दिया था और अब साम्राज्य का सारा शासन उसी रतनचन्द के हाथ में था। जयसिंह और अजीतसिंह के पद बढ़ा दिये गये थे और फिर से जजिया उठाने की घोषणा

कर दी गई थी। जब सैयद भाइयों का अधिकार बहुत बढ़ गया, तब कुछ मुगलों ने मिल कर विद्रोह करना निश्चित किया। निजाम उल्मुल्क बहुत समझदार और दूरदर्शी था। उसने समझ लिया कि सैयद लोग भारत से मुगलों के शासन और साम्राज्य का अन्त कर देना चाहते हैं और उनके स्थान पर भारतीय मुसलमानों का राज्य स्थापित करना चाहते हैं। उन दिनों वह मालवे का सूबेदार था। उसने सोचा कि यदि मैं दक्षिण में अपना पूरा अधिकार जमा सकूँ तो शाहू से सैयदों को कोई सहायता न मिल सकेगी और उनका बल बहुत घट जायगा। इसी लिए वह अपने कुछ साथियों को एकत्र करके बुरहानपुर पहुँचा और वहाँ उसने मराठों को परास्त किया। इसके बाद वह औरंगाबाद चला गया। इससे सैयद भाई भी मन में डरे। हुसैनअली ने स्वयं दक्षिण जाने का विचार किया। परन्तु सम्राट् और उसकी माता ने इसी बीच में अपने पक्ष में एक बड़ा दल खड़ा कर लिया था। जब हुसैनअली चलने लगा, तब सम्राट् ने इसी दल के कुछ लोगों की सहायता से हुसैनअली को रास्ते में ही मरवा डाला और उसकी सेना को तितर-बितर कर दिया। अब्दुल्ला ने एक नई सेना खड़ी करने का प्रयत्न किया, पर वह भी आगरे के पास परास्त हुआ और कैद कर लिया गया। कुछ ही दिनों बाद अब्दुल्ला भी कैदखाने में मर गया और इस प्रकार सैयद भाइयों के हाथ से मुहम्मद शाह का छुटकारा हो गया।

यहाँ सैयद भाइयों के सम्बन्ध में यह बतला देना आवश्यक जान पड़ता है कि वे भारतीय मुसलमानों और हिन्दू राजाओं आदि की सहायता से भारत में एक नया साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे और इस देश को मुगलों की अधीनता से छुड़ाना चाहते थे। यदि इस प्रयत्न में उन लोगों को सफलता होती तो बहुत सम्भव था कि परवर्त्ती इतिहास का स्वरूप बहुत कुछ बदल जाता और भारत में एक स्वतन्त्र स्वदेशी साम्राज्य की स्थापना हो जाती; और कदाचित् भारत पर नादिर शाह और मुहम्मद शाह के आक्रमण न हो सकते तथा देश में युरोपियन शक्तियों के पैर न जमने पाते। परन्तु भारत के भाग्य में कुछ और ही लिखा था, इसलिए सैयद भाइयों का इस प्रकार अन्त हो गया। परन्तु इससे मुगल साम्राज्य का भी कोई लाभ नहीं हुआ। मुहम्मद शाह को अब बहुत कुछ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अवश्य प्राप्त हो गई और उसने निजाम-उल्-मुल्क को बुलाकर अपना वजीर बनाया। निजाम-उल्मुल्क ने योग्यतापूर्वक साम्राज्य का संचालन आरम्भ किया। पर कुछ तो दरबार के षड्यन्त्रों के कारण दुःखी होकर और कुछ अपने साथियों के बहकाने में आकर वह वजीर का पद छोड़ कर दक्षिण चला गया और वहाँ उसने सन् १७२३ में स्वयं निजाम

की उपाधि धारण करके एक नया राज्य स्थापित किया और अपना नवीन राजवंश चलाया। इन्हीं के वंशधर आजकल दक्षिण की हैदराबाद रियासत के स्वामी हैं और निजाम कहलाते हैं। निजाम-उल्-मुल्क के सम्बन्ध में भी यह कह देना आवश्यक है कि यदि वह चाहता तो सम्भवतः दिल्ली के मुगल राजवंश का अन्त करके स्वयं अपना साम्राज्य स्थापित कर सकता था। पर जिन मुगल बादशाहों का उसने इतने दिनों तक नमक खाया था, उनके वंशधरों के साथ वह किसी प्रकार का घात नहीं करना चाहता था। वह शान्त प्रकृति का आदमी था और व्यर्थ के झगड़े-बखेड़ों से दूर रहना चाहता था, इसलिए उसने दक्षिण में जाकर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। वह यह भी जानता था कि अब मुगल साम्राज्य अधिक दिनों तक न चल सकेगा, इसलिए उसने उसकी रक्षा का भी कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया।

उसी वर्ष अर्थात् सन् १७२३ में सआदत खाँ भी अवध का सूबेदार बना दिया गया था, इसलिए वह भी दिल्ली से जाकर अपने प्रान्त में रहने लगा था। कुछ ही दिनों बाद उसने राजकर देना बन्द कर दिया और स्वतन्त्र रूप से अपने प्रान्त का शासन करना आरम्भ कर दिया। कुछ ही दिनों बाद बंगाल भी स्वतन्त्र हो गया। सन् १७३९ में शुजाउद्दौला की मृत्यु हो गई थी और नादिर शाह के आक्रमण के कारण उत्तर भारत में बहुत कुछ अव्यवस्था फैली हुई थी। उस अवसर से अलीवर्दी खाँ नामक एक स्थानीय तुर्क अधिकारी ने लाभ उठा कर बंगाल में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। सन् १७४० से १७५६ तक उसने बंगाल का स्वतन्त्रापूर्वक शासन किया और उसके उपरान्त उसका पोता सिराजउद्दौला उसका उत्तराधिकारी हुआ।

जब कि इस प्रकार धीरे धीरे चारों ओर से साम्राज्य का अंगच्छेद हो रहा था, और उसके भिन्न भिन्न सूबे स्वतन्त्र हो रहे थे, उस समय गंगा के उत्तरी जिलों में रुहेले अफगान बहुत प्रबल होते जा रहे थे और अपना अधिकार बढ़ा रहे थे। आगे चलकर उनका वह देश उन्हीं के नाम से रूहेलखंड प्रसिद्ध हो गया। उधर पंजाब में सिक्ख लोग फिर से प्रबल होने लग गये थे और उत्तरी पंजाब में खूब लूट-मार करने लग गये थे। दक्षिण में बहादुर शाह के समय से ही मराठे बहुत कुछ स्वतन्त्र हो चुके थे और उन्हें चौथ तथा सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार मिल चुका था। तात्पर्य यह कि अठारहवीं शताब्दी के प्रथम पाद के अन्त से ही साम्राज्य का जो अंगच्छेद आरम्भ हुआ था, उसका क्रम तब तक बन्द नहीं हुआ, जब तक मुगल साम्राज्य का पूर्ण रूप से नाश नहीं हो गया।

तेरहवाँ अध्याय

मराठे और अन्तिम मुगल सम्राट्

मराठा शक्ति की स्थापना—हम पिछले अध्यायों में बतला चुके हैं कि औरंगजेब की मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद मराठा राज सिंहासन पर शाहू आसीन हुआ था। उस समय राजाराम की विधवा ताराबाई अपने बालक पुत्र शिवाजी द्वितीय को मराठा राज्य का उत्तराधिकारी सिद्ध करने का प्रयत्न कर रही थी। शाहू जी ने सतारा को अपनी राजधानी बनाया था, क्योंकि राजाराम के समय से सतारा में ही मराठों की राजधानी थी। श्री समर्थ रामदास स्वामी के अनेक अनुयायी भी शाहू के सहायक बन गये थे और इसका परिणाम यह हुआ कि दक्षिण के बहुत से हिन्दू भी शाहू जी के पक्ष में हो गये। पर शाहू सत्रह वर्षों तक मुगलों की कैद में बिताकर आया था, इसलिए वह दक्षिण के रस्म-रवाज से नितान्त अपरिचित था। इसके अतिरिक्त उसमें कुछ विशेष गुण भी नहीं थे। इसी लिए उसे अधिकांश राजकार्यों के लिए अपने प्रधान मन्त्री या पेशवा बाला जी विश्वनाथ के आश्रित रहना पड़ता था।

बाला जी विश्वनाथ—बाला जी विश्वनाथ ने ही ताराबाई और उसके पुत्र शिवाजी द्वितीय को सन् १७१२ में कैद कर लिया था और राज्य में अपना अधिकार यहाँ तक बढ़ा लिया था कि अन्त में पेशवा का पद स्थायी रूप से अपने वंशधरों के लिए निश्चित करा लिया था। तभी से शिवाजी के वंशधरों की शक्ति दिन पर दिन घटती गई और अठारहवीं शताब्दी में मराठा साम्राज्य के शासन के समस्त अधिकार एक मात्र पेशवाओं के ही हाथ में रहे। बाला जी विश्वनाथ ने सन् १७१४ से १७२० तक अष्ट-प्रधान की सहायता से मराठा साम्राज्य का शासन किया। सन् १७१९ में सैयद भाइयों ने बाला जी विश्वनाथ को अपनी सहायता के लिए दिल्ली बुलाया था। उसी वर्ष फर्रुखसियर की हत्या हुई थी और उसके बाद बाला जी ने मुहम्मद शाह से अपने नाम तीन फरमान या आज्ञा-पत्र लिखवा लिये थे। इनमें से पहले फरमान के अनुसार मराठों को दक्षिण में हैदराबाद, करनाटक और मैसूर आदि में चौथ वसूल करने का अधिकार मिला था और इसी अधिकार के आधार पर आगे चलकर मराठे बहुत दिनों तक निजाम उल्मुल्क से लड़ते रहे। दूसरे फरमान के अनुसार मराठों को उन प्रान्तों में सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार मिला था। तीसरा फरमान

सब से अधिक महत्व का था और उसमें यह स्वीकृत किया गया था कि दक्षिण में मराठों का ही स्वराज्य या पूरा पूरा राज्य है। ये तीनों फरमान भारत में मराठा शक्ति की स्थापना के मूलाधार समझे जा सकते हैं।

इस प्रकार पहले पेशवा बाला जी विश्वनाथ के शासन काल में मराठों की शक्ति और अधिकारों का बहुत अधिक विस्तार हुआ था। यद्यपि औरंगजेब ने लगातार बीस वर्षों तक मराठों को पूरी तरह से कुचलने का प्रयत्न किया था, पर उसकी मृत्यु के दस ग्यारह वर्ष के अन्दर ही मराठों ने मुगलों से अपनी स्वतन्त्रता मान्य करा ली थी और नर्मदा के दक्षिण के समस्त राज्यों से खिराज वसूल करने का हक हासिल कर लिया था।

बाजीराव—मराठों के लिए ये सब अधिकार प्राप्त करके बाला जी विश्वनाथ सन् १७१९ में दिल्ली से लौट कर सतारा आ गया। उसी अवसर पर निजाम उल्-मुल्क ने नये साम्राट् मुहम्मद शाह का पक्ष लेकर सैयदों का खुले आम विद्रोह करना आरम्भ कर दिया था। पर निजाम उल्-मुल्क दक्षिण चला आया था और वहाँ अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था। इसी बीच में सन् १७२० में बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु हो गई। उसके बाद पेशवा का पद उसके पुत्र बाजीराव को प्राप्त हुआ जो उस पद पर बीस वर्ष अर्थात् सन् १७४० तक रहा। वह बहुत बड़ा बुद्धिमान्, योद्धा और उच्चाकांक्षी था और उसके समय में मराठों की शक्ति का और भी अधिक विस्तार तथा उन्नति हुई। बाजीराव की बाल्य और युवास्था प्रायः युद्ध-क्षेत्रों में ही बीती थी और वह युवावस्था में बहुत बड़े बड़े मन्सूबे बाँधा करता था। उसका मुख्य उद्देश्य यही था कि किसी प्रकार सब मराठों को एकत्र करके एक बहुत बड़ी सेना तैयार की जाय और उस सेना की सहायता से मुगल साम्राज्य पर आक्रमण करके उसका पूर्ण रूप से विनाश किया जाय। जिस समय बाजीराव ने पेशवा का पद प्राप्त किया था, उस समय प्रतिनिधि के पद पर श्रीपतिराव थे। श्रीपतिराव का कहना था कि पहले हम लोगों को मराठा राज्य की आन्तरिक शक्तियों का पूर्ण रूप से संघटन करके अपनी आर्थिक अवस्था सुधार लेनी चाहिए और तब धीरे धीरे मुगल साम्राज्य की जड़ काटनी चाहिए। पर बाजीराव का कहना था कि हमें मुगल प्रान्तों पर आक्रमण करके और उनका धन लूट कर अपनी आर्थिक अवस्था सुधारनी चाहिए। जब हम मुगल साम्राज्य रूपी वृक्ष का धड़ काट डालेंगे, तब उसकी सब शाखाएँ आपसे आप गिर पड़ेंगी। इस प्रकार अपने उत्साह और वाक्पटुता से बाजीराव ने शाहू को अपने अनुकूल कर लिया और उत्तरी भारत पर आक्रमण करने की तैयारियाँ शुरू कर दीं।

बहुत बड़ी और अच्छी सेना संघटित करने के उपरान्त सन् १७२४ में बाजीराव ने मालवा पर चढ़ाई की और वहाँ के मुगल सूबेदार को हरा कर वहाँ की व्यवस्था के लिए अपनी ओर से ऊदाजी पँवार, मल्हारराव होलकर और राणोजी सिन्धिया को नियुक्त किया। इन्हीं लोगों ने आगे चल कर क्रमशः धार, इन्दौर और ग्वालियर राज्य की स्थापना की थी। वहाँ से छुट्टी पाकर उसने दक्खिन की ओर रुख किया, क्योंकि वहाँ निजाम उल्‌मुल्क ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था। वह यह भी कहता था कि शाहू जी और शम्भा जी में राज्याधिकार के लिए जो झगड़ा चल रहा है, उसका निर्णय मैं करूँगा। पर बाजीराव ने उसे अधिक समय ही नहीं दिया और अचानक उस पर आक्रमण करके उसे शाहू का आधिपत्य स्वीकृत करने और चौथ तथा सरदेशमुखी की पिछली सारी रकमें भी चुकाने के लिए बाध्य किया। निजाम उल्‌-मुल्क के साथ बाजीराव की यह सन्धि सन् १७२८ में हुई थी और मुंगी शिवगाँव की सन्धि कहलाती है। इसके दूसरे ही वर्ष बाजीराव ने गुजरात के सूबेदार को भी जा दबाया और उससे भी अपना चौथ वसूल करने का अधिकार स्वीकृत करा लिया। पर निजाम उल्‌-मुल्क अभी तक शान्त नहीं हुआ था और वह शाहू तथा पेशवा को किसी तरह दबाना चाहता था। उसने शाहू के सेनापति त्र्यम्बकराव को अपनी ओर मिला लिया और शम्भाजी को सतारा का राजसिंहासन दिलाने के विचार से सेनापति को साथ लेकर शाहूजी पर चढ़ाई कर दी। पर इस बार भी उसे परास्त होना पड़ा। इस युद्ध का एक परिणाम यह भी हुआ कि सेनापति त्र्यम्बकराव का अधिकार उसके हाथ से निकल कर उसके अधीनस्थ पिलाजी गायकवाड़ के हाथ में चला गया जिसने आगे चलकर बड़ौदा राज्य की स्थापना की। निजाम को लाचार होकर फिर बाजीराव से सन्धि करनी पड़ी। और यह मंजूर करना पड़ा कि मराठा सेनाएँ जब चाहें, तब मेरे राज्य में से होकर, मालवा और उत्तर भारत की ओर जा सकती हैं। निजाम के साथ बाजीराव का यह समझौता सन् १७३१ में हुआ था। इसके बाद ही मल्हारराव होलकर की अधीनता में मराठों की बहुत बड़ी सेना ने मालवे में प्रवेश करके वहाँ के सूबेदार को परास्त किया। इसके बाद बाजीराव ने बुन्देलखंड पर आक्रमण करके वहाँ के मुसलमान सूबेदार को भी मार भगाया और उस प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया। मराठों का यह जोर-शोर देख कर मुहम्मद शाह बहुत अधिक भयभीत हुआ। वह मराठों से सन्धि करना चाहता था, पर बाजीराव की शर्तें इतनी कड़ी थीं कि मुहम्मद शाह उन्हें किसी तरह मान ही नहीं सकता था। बाजीराव एक बड़ी सेना लेकर दिल्ली के पास तक जा पहुँचा और

मल्हारराव होलकर ने जमुना पार करके दुआब में लूट-मार करना शुरू कर दिया। पर अवध के नवाब वजीर सआदतअली ने होलकर को दुआब से बाहर निकाल दिया और वह स्वयं आकर शाही सेना के साथ दिल्ली में मिल गया। दिल्ली से कुछ दूरी पर शाही सेनाएँ मराठों का मुकाबला करने के लिए तैयार खड़ी थीं। पर बाजीराव ने फुरती से बीच में ही आगे बढ़ कर दिल्ली के आस-पास के स्थानों को लूटना शुरू कर दिया। वहाँ बाजीराव ने सम्राट् से मालवे का शासनाधिकार अपने लिए प्राप्त कर लिया और तब वह सन् १७३६ में लौट कर दक्षिण चला गया। अब मुहम्मद शाह ने निजाम उल्-मुल्क को अपनी सहायता के लिए बुलाया। निजाम उल्-मुल्क भी बढ़ कर बुन्देलखंड तक गया। पर एक तो उसकी अवस्था अधिक हो गई थी और दूसरे मराठों के मुकाबले में उसका सैनिक बल कुछ भी नहीं था। बाजीराव ने भोपाल के पास निजाम उल्-मुल्क को रोक कर उससे एक सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करा लिये। इसके अनुसार निजाम उल्-मुल्क ने बाजीराव को मालवा और गुजरात का स्वामी मान लिया था और हरजाने के तौर पर पचास लाख रुपये बाजीराव को देना मंजूर किया था। यह सन् १७३८ की सिरोज की सन्धि कहलाती है। इस प्रकार मराठों का राज्य उत्तर भारत में आगरे और दिल्ली के पास तक पहुँच गया। इसके कुछ ही दिनों बाद मुगल साम्राज्य पर नादिर शाह का प्रसिद्ध विकट आक्रमण हुआ था (जिसका वर्णन आगे किया जायगा) जिससे साम्राज्य की शक्ति और वैभव का बहुत कुछ नाश हो गया था। फिर अवध के नवाब वजीर सआदत खाँ की मृत्यु हो गई। और इन सब बातों के कारण भारत में बाजीराव का मुकाबला करनेवाला कोई न रह गया। बाजीराव ने रघूजी भोंसले की अधीनता में एक बड़ी सेना कर्नाटक की ओर भेजी और मैसूर के राजा को भी अपना करद बना लिया। फिर उसने कुछ सैनिकों को भेज कर पुर्त्तगालियों से बसीन भी ले लिया। पर जिस समय बाजीराव निरन्तर उन्नति के शिखर पर चढ़ता चला जा रहा था, उसी समय केवल ४२ वर्ष की अवस्था में सन् १७४० में उसका परलोकवास हो गया।

बालाजी बाजीराव—अपने पिता बाजीराव की मृत्यु के उपरान्त बालाजी बाजीराव सन् १७४० में पेशवा के पद पर आसीन हुआ। रघूजी भोंसले तथा कुछ दूसरे सरदार उसके विरोधी थे, पर शाहू जी ने उसका समर्थन किया। शाहू की इच्छा थी कि दिग्विजय के जो काम बाजीराव से बच रहे हैं, वे काम बालाजी बाजीराव पूरे कर दिखलावे और उसी की सहायता से सारे भारत पर मराठों का राज्य स्थापित हो जाय। पर बालाजी में अपने पिता के

से सैनिक गुण नहीं थे। पर फिर भी मराठों का अधिकार धीरे धीरे बढ़ता ही जाता था। बंगाल के नवाब अलीवर्दी खाँ पर रघूजी भोंसले ने कई बार चढ़ाइयाँ कीं और सन् १७४५ तक उड़ीसा पर अधिकार करके बंगाल की राजधानी मुरशिदाबाद पर भी चढ़ाई की। इधर बालाजी बाजीराव और रघूजी भोंसले में भी गुप्त रूप से वैमनस्य चल रहा था। अन्त में दोनों में आपस में यह गुप्त समझौता हो गया कि दोनों में से कोई दूसरे के काम में हस्तक्षेप न करेगा। सन् १७५१ में अलीवर्दी खाँ को मान लेना पड़ा कि उड़ीसा के स्वामी मराठे हैं और उन्हें बंगाल तथा बिहार में भी चौथ वसूल करने का अधिकार है।

बालाजी में स्वयं तो कोई विशेष गुण नहीं था, पर उसे सदाशिव भाऊ से, जो रिश्ते में उसका भाई होता था, राजकीय कार्यों में बहुत अधिक सहायता मिलती थी और वह बिना सदाशिव की सलाह के कोई काम न करता था। उसी की सहायता से वह अपने अधीनस्थ सरदारों को उच्छृंखल नहीं होने देता था और सबको दबाये रहता था। उसके समय में मराठों का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा को जा पहुँचा था। बालाजी के छोटे भाई रघुनाथराव ने राजपूताने के कई राजाओं और यहाँ तक कि जाटों से भी बहुत से रुपये वसूल किये थे। सिन्धिया ने अवध पर फिर आक्रमण किया था। इस बीच में शाहू की मृत्यु हो गई और उसकी कोई सन्तान नहीं थी। उसका प्रतिद्वन्द्वी भाई, जो कोल्हापुर का राजा था, निस्सन्तान ही था। इसलिए बालाजी बाजीराव यह चाहता था कि समस्त मराठा साम्राज्य का मैं ही एक मात्र स्वामी बन जाऊँ। पर ताराबाई अभी तक जीती थी और वह बालाजी के मार्ग में कण्टक स्वरूप थी। उसने यह कहकर एक लड़के को खड़ा किया कि यह मेरा पोता है, और वह उसी के नाम पर स्वयं सारे साम्राज्य का शासन करना चाहती थी। ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो पेशवा के विरोधी और ताराबाई के समर्थक थे। पर बालाजी ने कहा कि स्वयं शाहू जी एक वसीयतनामा लिख गये हैं जिसमें उन्होंने कहा है कि सारे साम्राज्य का शासन पेशवा ही करें। जब ताराबाई को इस प्रकार राज्य प्राप्त करने में सफलता नहीं हुई, तब उसने गायकवाड़ को पेशवा के विरुद्ध खड़ा किया। पर जब इस प्रयत्न में भी वह विफल रही, तब जाकर सतारा में एकान्तवास करने लगी, जहाँ सन् १७६१ में उसकी मृत्यु हो गई।

अब समस्त मराठा साम्राज्य पर पूर्ण रूप से पेशवाओं का राज्य स्थापित हो गया। पेशवा पूने में रहते थे, इसलिए अब सतारा के बदले में पूना ही मराठा साम्राज्य की राजधानी हो गया। यह मराठा साम्राज्य अनेक छोटे छोटे राज्यों के संघ के समान था और पेशवा उन सब राज्यों के राजाओं का सरदार

माना जाता था। पर मराठा साम्राज्य में पेशवाओं का प्रभुत्व केवल इसी लिए स्थापित हो सका था कि ताराबाई और शाहू जी में बराबर लड़ाई-झगड़ा चलता रहता था। यदि ताराबाई और शाहू जी में विरोध न होता तो मराठा साम्राज्य पर शिवाजी के वंशजों का ही अधिकार रहता।

जो हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि भारत के अधिकांश भागों पर मराठों का अधिकार हो गया था। सन् १७३१ से १७३७ तक मराठों ने मालवा, गुजरात और बुन्देलखण्ड अपने अधीन कर लिया था और सन् १७५१ में उड़ीसा पर भी मराठों का अधिकार हो गया था। बंगाल और बिहार से उन्हें चौथ वसूल करने का अधिकार मिल ही गया था और सन् १७५२ से १७५६ तक उन्होंने उत्तरी भारत के अनेक स्थानों में भी, जो मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत थे, चौथ वसूल करने का अधिकार प्राप्त कर लिया था। सन् १७५८ में मराठों ने पंजाब पर भी अधिकार कर लिया और अब कटक तक के किले पर महाराष्ट्र झंडा फहराने लगा। तात्पर्य यह कि एक प्रकार से सारे भारत पर ही मराठों का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

मुगल साम्राज्य का पतन—जब निजाम-उल्मुल्क ने देखा कि मुहम्मद शाह दृढ़ता-पूर्वक शासन करने में सर्वथा असमर्थ है, तब वह दक्खिन चला गया और इसके बाद ही धीरे धीरे मालवे, गुजरात और बुन्देलखण्ड पर मराठों का अधिकार हो गया। हम ऊपर यह भी बतला चुके हैं कि इसके बाद बाजीराव पेशवा दिल्ली तक चढ़ गया था और बाद में निजाम-उल्मुल्क ने भी मराठों के सामने हार मान ली थी। इस प्रकार साम्राज्य के अनेक प्रदेश मुगलों के हाथ से निकलते जा रहे थे और बराबर उसका अंगच्छेद होता जा रहा था। सआदत खाँ की अधीनता में अवध और अलीवर्दी खाँ की अधीनता में बंगाल भी स्वतन्त्र हो गया था। तात्पर्य यह कि औरंगजेब के मरने के पन्द्रह बीस वर्षों के अन्दर ही मुगल साम्राज्य का बहुत कुछ दम निकल गया था।

नादिर शाह का आक्रमण—यह एक नियम सा है कि जब कोई साम्राज्य शिथिल होने लगता है और उसके भिन्न भिन्न अंग अलग होने लगते हैं, तब बाहरी शत्रुओं को भी उस साम्राज्य पर आक्रमण करने का अच्छा अवसर मिलता है। सन् १३९८ में जिस समय तैमूर ने भारत पर आक्रमण किया था और उसके बाद सन् १५२६ में जब बाबर ने आक्रमण किया था, उस समय भी भारत की अवस्था बहुत कुछ इसी प्रकार की थी और यहाँ कोई एक दृढ़ केन्द्रीय शासन नहीं रह गया था। इस समय भी प्रत्येक अमीर

और वजीर यही चाहता था कि जो कुछ मेरे अधीन है, उसे मैं दबाकर स्वयं ही उसका स्वतन्त्र स्वामी बन जाऊँ। यही परिस्थिति थी जिसे देखकर सन् १७३९ में फारस के नादिर शाह को भारत पर आक्रमण करने का साहस हुआ था।

नादिर शाह का उदय—नादिर शाह का जन्म एक बहुत ही सामान्य कुल में हुआ था। पर वह बहुत बड़ा साहसी और उच्चाकांक्षी था और इसी लिए उसने फारस में एक बड़ी क्रान्ति करके वहाँ के राज-सिंहासन पर अधिकार कर लिया था। उस समय बहुत से तुर्कों और रूसियों ने फारस पर आक्रमण किया था, पर नादिर शाह ने उन सबको देश से निकाल कर वहाँ अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। पश्चिमी अफगानिस्तान के कुछ मुगलों ने उसका विरोध किया था, पर उन्हें भी उसने बहुत शीघ्र दबा लिया और काबुल के सूबे पर, जो उस समय मुगलों के अधीन था, अधिकार कर लिया और आगे बढ़कर अटक के किले पर अपना झंडा गाड़ दिया। पहले बहुत से अफगान फिरकों को मुगलों से बहुत सा धन मिला करता था जिसके कारण वे मुगलों से मिले रहते थे। पर अब उन्हें वह धन मिलना बन्द हो गया था। सीमा प्रान्त पर पहले मुगलों की सेनाएँ आदि भी रहती थीं, पर उनकी संख्या भी अब कम हो गई थी और व्यवस्था भी शिथिल हो गई थी। दिल्ली के मुगल सरदार यही समझते थे कि नादिर शाह हमारे सामने कोई चीज ही नहीं है; यहाँ तक कि उसने अपना जो दूत भेजा था, वह भी मुगलों के राज्य में मारा गया था। इस पर नादिर शाह बहुत अधिक क्रुद्ध हुआ और उसने आगे बढ़कर पेशावर पर अधिकार करने के बाद पंजाब में प्रवेश किया। सन् १७३९ के आरम्भ में वह लाहौर पहुँचा था। लाहौर के सूबेदार ने भी बहुत सहज में आत्म-समर्पण कर दिया। इसके बाद उसने दिल्ली का रुख किया। वह करनाल तक चला आया, पर रास्ते में कहीं कोई उसका मुकाबला करनेवाला न मिला। पहले-पहल करनाल के पास मुगलों की सेना उसका रास्ता रोकने के लिए मिली। मुहम्मद शाह अपने साथ खान दौराँ, निजाम-उल्मुल्क और सआदत खाँ को लेकर नादिर शाह का मुकाबला करने आया था। उस समय मुहम्मद शाह के साथ बहुत बड़ी सेना भी थी। पहले सआदत खाँ ही कुछ सेना को लेकर आगे बढ़ा था, पर वह नादिर शाह की सेना के मुकाबले में दो घण्टे भी न ठहर सका। उसकी सेना परास्त हुई और वह स्वयं एक कैदी के रूप में नादिर शाह के सामने पेश किया गया। मुगलों की सेना के पराजय का मुख्य कारण यही था कि न तो उसमें अच्छे योद्धा और अस्त्र-शस्त्र चलानेवाले

ही थे और न अच्छे संचालक तथा सेनापति ही। नादिर शाह की सेना के सभी सैनिक बहुत कुशल और अनुभवी योद्धा थे। जब मुहम्मद शाह ने देखा कि सआदत खाँ गिरफ्तार हो गया और खानदौराँ बुरी तरह घायल हो गया, तब उसने भी नादिर शाह के खेमे में पहुँच कर आत्म-समर्पण कर दिया। यह घटना फरवरी सन् १७३९ के मध्य की है। नादिर शाह अपने साथ मुहम्मद शाह को लेकर दिल्ली आया जहाँ वह प्रायः दो महीने तक रहा। इस बीच में उसने मुगलों के बहुत बड़े शाही खजाने को खूब अच्छी तरह लूटा; और जो कुछ मिल सका, उस सब पर उसने अधिकार कर लिया। इसी लूट में सुप्रसिद्ध तख्त ताऊस या मयूर सिंहासन भी उसके हाथ लगा था।

दिल्ली का कत्ले आम—इस बीच में नादिर शाह ने एक बार दिल्ली में बहुत जबरदस्त कत्ले-आम भी कराया था जिसकी तुलना कदाचित् भारत के इतिहास में और कहीं न मिलेगी। दिल्ली में किसी प्रकार यह अफवाह फैल गई कि नादिर शाह मर गया। इस पर दिल्ली के कुछ नागरिकों ने नादिर शाह के कुछ सिपाहियों पर आक्रमण करके उन्हें मार डाला। दूसरे ही दिन नादिर शाह दिल्ली की जामा मसजिद में हाथ में नंगी तलवार लेकर जा बैठा। उसका इस प्रकार नंगी तलवार लेकर बैठना ही मानों इस बात का संकेत था कि खूब जोरों का कत्ले-आम किया जाय। कहते हैं कि नादिर शाह इस प्रकार लगातार नौ घन्टों तक वहाँ बैठा रहा; और इस बीच में उसके सैनिकों ने सारे दिल्ली नगर में बहुत जबरदस्त कत्ले-आम किया। फारस के सैनिकों के सामने जो पड़ा, वह तो मारा ही गया; उन सैनिकों ने घरों में घुस घुस कर स्त्रियों, बच्चों और बुड्ढों तक को भी जिन्दा न छोड़ा। सारा शहर लाशों से भर गया। अन्त में मुहम्मद शाह ने जब मसजिद में पहुँच कर नादिर शाह से बहुत कुछ आरजू-मिन्नत की, तब कहीं जाकर उसने वह कत्ले-आम बन्द कराया। इसके बाद नादिर शाह के साथ मुहम्मद शाह की एक सन्धि २६ मई सन् १७३९ को हुई जिसके अनुसार सिन्धु नद से पश्चिम का सारा प्रदेश नादिर शाह को मिल गया और तब वह लौट कर फारस चला गया।

अहमद शाह अब्दाली—नादिर शाह की मृत्यु के उपरान्त उसका राज्य कई भागों में बँट गया। हरात के अहमद शाह अब्दाली नामक एक अफगान ने अफगानिस्तान पर अधिकार करके वहाँ अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। सन् १७४८ में अहमद शाह ने पंजाब पर आक्रमण किया, पर पंजाब के सूबेदार और वजीर के सब से बड़े लड़के मीर मुईनउद्दीन ने उस समय पंजाब पर अहमद शाह का अधिकार न होने दिया और उसे युद्ध में परास्त करके पीछे

हटा दिया। पर अहमद शाह एक बार परास्त होकर साहस छोड़ बैठनेवाला आदमी नहीं था। उसने दूसरे वर्ष फिर पंजाब पर चढ़ाई की और वहाँ के सूबेदार से एक अच्छी रकम वसूल की। इसके बाद उसने दिल्ली पर चढ़ाई की और पंजाब का सूबा अपने नाम लिखा लिया। सन् १७५६ में उसने फिर दिल्ली पर चढ़ाई की और उस नगर पर अधिकार करके वहाँ के निवासियों को अनेक प्रकार से पीड़ित और तंग किया। इसके बाद वह और भी कई बार उत्तरी भारत में आया था और हर बार वह और उसके साथी अफगान पंजाब और दिल्ली के आस-पास के प्रान्तों को खूब अच्छी तरह लूटते थे और मनमाने अनर्थ तथा अत्याचार करते थे। अन्तिम बार वह सन् १७६०-६१ में भारत में आया था, जब कि उसने मराठों को पानीपत के सुप्रसिद्ध युद्ध में परास्त किया था। इस युद्ध का वर्णन आगे किया जायगा। उस समय यदि वह चाहता तो सहज में सारे भारत पर अधिकार कर सकता था, क्योंकि मुगल साम्राज्य का विनाश हो चुका था और देश में सब से प्रबल मराठे भी उससे हार चुके थे। पर उसी अवसर पर उसके सैनिकों ने विद्रोह खड़ा कर दिया और वे कहने लगे कि अब हम लोगों को अफगानिस्तान लौट चलना चाहिए। कारण यही था कि वे सब अफगान लुटेरे थे और लूट-पाट करने के सिवा और कुछ जानते ही न थे। इसलिए अहमद शाह को उस समय लाचार होकर लौट जाना पड़ा। अहमद शाह अब्दाली ने कुल चौदह वर्षों तक राज्य किया था और इस बीच में उसने दस बार भारत पर आक्रमण किये थे।

सिक्खों का प्राबल्य—इसी बीच में धीरे धीरे सिक्ख लोग फिर से प्रबल होने लगे थे। उन्होंने अपनी छोटी छोटी टोलियाँ बना ली थीं जो मिस्लें कहलाती थीं। और हर टोली या मिसिल अपने स्वतन्त्र सरदार की अधीनता में चारों तरफ लूट-मार करती फिरती थी। इन सिक्खों ने नादिर शाह सरीखे क्रूर और विकट आक्रमणकारी को भी अछूता नहीं छोड़ा था और सन् १७३९ में जब वह दिल्ली को खूब अच्छी तरह लूट कर स्वदेश की ओर लौट रहा था, तब उसकी सेना के पिछले भाग पर सिक्खों ने आक्रमण करके उसे लूट लिया था। उधर बदनसिंह और सूरजमल आदि के नेतृत्व में जाट लोग बराबर प्रबल होते जा रहे थे और उन लोगों ने आगरे और मथुरा में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था। वर्तमान देशी रियासत भरतपुर की सृष्टि उसी समय हुई थी। सन् १७४३ में अहमद शाह को मान लेना पड़ा था कि मालवे के स्वामी मराठे हैं और इसके कुछ ही दिनों बाद उसे मराठों को शेष साम्राज्य में भी चौथ वसूल करने का अधिकार दे देना पड़ा था। उधर बंगाल में रघूजी भोंसले

के नेतृत्व में मराठे बराबर उपद्रव मचाते थे। अन्त में सन् १७५१ में अलीवर्दी खाँ को हार कर कटक का प्रदेश मराठों के सपुर्द कर देना पड़ा था और साथ ही चौथ के रूप में उसने मराठों को कुछ वार्षिक कर देना भी निश्चित किया था। निजाम जिस प्रकार पेशवाओं का करद शासक हो गया था, उसी प्रकार अब अलीवर्दी भी बरार के मराठे शासकों का करद राजा हो गया था।

सम्राट् अहमद शाह—जब अहमद शाह पहली बार पंजाब पर आक्रमण करने आया था, तब मार्च सन् १७४८ में मुहम्मद शाह के लड़के शाहजादा अहमद ने ही अपने नामराशी अहमद शाह अब्दाली को परास्त किया था। पर जब शाहजादा अहमद लौटकर दिल्ली आया, तब उसके पिता मुहम्मद शाह की मृत्यु हो चुकी थी, इसलिए अब दिल्ली के तख्त पर अहमद शाह बादशाह बनकर बैठा। उसने अवध के नवाब सफदर जंग को अपना वजीर बनाया। उसके शासन के आरम्भ में रुहेलों का एक बहुत बड़ा विद्रोह खड़ा हुआ था जिसका दमन सफदर जंग ने बहुत कठिनता से जाटों और मराठों की सहायता से किया था। इसका फल यह हुआ कि सिन्धिया और होलकर को रूहेलखंड में उपद्रव और लूट-पाट करने का अच्छा अवसर मिल गया। उधर मारवाड़ में भी बादशाही सेना पराजित हुई और पंजाब पर अहमद शाह अब्दाली ने, जो अब अपने आपको अफगानिस्तान का दुर्रानी बादशाह कहने लगा था, अधिकार कर लिया। स्वयं दिल्ली नगर में भी एक बहुत बड़ा उपद्रव खड़ा हो गया था जिसके कारण वहाँ की गलियों और सड़कों पर पाँच छः महीने तक बहुत जबरदस्त मार-काट होती रही। यह झगड़ा सफदर जंग और उसके प्रतिद्वन्द्वी गाजी उद्दीन में, जो निजाम-उल्मुल्क का पोता था, हुआ था। इसमें राजा सूरजमल ने अपने बहुत से जाटों के साथ सफदर जंग का पक्ष लिया था और होलकर ने अपने मराठे सैनिकों के साथ मुगलों के सरदार गाजी उद्दीन का पक्ष लिया था। वस्तुतः यह झगड़ा फारसवालों और मुगलों का अथवा यह कहना चाहिए कि शीया और सुन्नियों का था जिसमें दोनों ओर से कुछ हिन्दू भी सम्मिलित थे। इस युद्ध में अन्त में सफदर जंग को हार कर अवध चले जाना पड़ा था और तब विजयी गाजी उद्दीन ने सम्राट् की आँखें निकाल कर उसको अन्धा कर दिया और शाही खान्दान के एक दूसरे व्यक्ति को सन् १७५४ में आलमगीर द्वितीय के नाम से सिंहासन पर बैठा दिया।

कुछ ही दिनों बाद सफदर जंग की मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर शुजाउद्दौला ने अवध के नवाब का स्थान ग्रहण किया। इसी बीच में गाजी उद्दीन ने अफगान सूबेदार से फिर पंजाब छीन लिया। इसका बदला चुकाने के

लिए अहमदशाह अब्दाली दिल्ली पर चढ़ आया और उसने वह नगर खूब अच्छी तरह लूटा और नष्ट किया। गाजी उद्दीन ने आत्म-समर्पण करके क्षमा माँग ली। अब्दाली ने अवध के नवाब और जाटों से भी बहुत से रुपये वसूल किये और गाजी उद्दीन को दबाये रखने के लिए नजीबउद्दौला नामक एक सुयोग्य रुहेले सरदार को अपनी ओर से सेनापति बनाकर दिल्ली में नियुक्त कर दिया (सन् १७५६)।

इस बीच में पेशवा का भाई रघुनाथराव भी अपनी शक्ति बहुत कुछ बढ़ा चुका था। गाजीउद्दीन ने उसकी सहायता के नजीबउद्दौला को दिल्ली से निकाल दिया और दिल्ली के साथ साथ सम्राट् को भी अपने कब्जे में कर लिया। और तब रघुनाथराव की सहायता से उसने पंजाब से भी अफगानों को निकाल बाहर किया। उधर दक्षिण में सदाशिव राव भाऊ ने अहमदनगर और निजाम के आधे राज्य पर अधिकार कर लिया। सन् १७५५ में रघुनाथराव ने गुजरात पर से भी मुसलमानों का शासन हटा दिया और राजपूताने की हिन्दू रियासतों से भी चौथ वसूल की। तात्पर्य यह कि मैसूर से लाहौर तक सब जगह बालाजी राव और उसके मराठे सरदारों की ही तूती बोलने लगी। सन् १७५९ में अहमद शाह अब्दाली ने फिर भारत पर आक्रमण किया। उस समय गाजीउद्दीन भागकर राजा सूरजमल जाट की शरण में चला गया। गाजीउद्दीन ने आलमगीर की हत्या करा डाली थी, इसलिए दिल्ली में अब कोई सम्राट् न रह गया था। अतः अफगान सैनिकों ने दिल्ली पर भी अधिकार कर लिया। इससे पहले ही कई मराठे सरदारों को अफगान परास्त कर चुके थे। इसलिए सदाशिव राव भाऊ ने राजपूतों, जाटों और मराठों की एक बहुत बड़ी सेना एकत्र करके फिर से दिल्ली पर अधिकार कर लिया। वह चाहता था कि अफगान सारे भारत से निकाल दिये जायँ और पेशवा का पुत्र विश्वासराव सारे भारत का चक्रवर्त्ती राजा हो जाय। इस प्रकार अफगानों और मराठों में एक विकट बल-परीक्षा का समय आ उपस्थित हुआ।

पानीपत का युद्ध (१७६०-६१)—मराठों के साथ अन्तिम निर्णय करने के विचार से अफगानों ने शुजाउद्दौला और रुहेलों को अपनी ओर मिला लिया और तब वे जमना पार करके आगे बढ़ने लगे। मराठों की बहुत बड़ी सेना भी पानीपत के मैदान में आ जमी और वहाँ उसने काफी मोरचेबन्दी की। यद्यपि इससे पहले सोलहवीं शताब्दी में भी दो बार पानीपत के मैदान में भारत के भाग्य का निर्णय हो चुका था, पर जैसा कि सुप्रसिद्ध इतिहासकार मि० विन्सेन्ट स्मिथ ने कहा है, पानीपत के इस तीसरे युद्ध में मराठे और

अफगान बहुत ही दृढ़तापूर्वक आकर अड़े थे और दोनों ही प्रबल रूप से एक दूसरे के रक्त के प्यासे हो रहे थे। दो मास तक दोनों ही दल चुपचाप आमने-सामने बैठे रहे और किसी को अपनी खाइयों से बाहर निकल कर शत्रु पर आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ। अब्दाली के साथ चालिस हजार सवार और पैंतिस हजार पैदल सिपाही थे। इधर सदाशिवराव की अधीनता में मराठों की ओर ५५ हजार सवार पिंडारी और १५ हजार पैदल सैनिक थे। इसके सिवा दोनों ही दलों के पास बहुत बड़े बड़े तोपखाने भी थे। परन्तु सदाशिवराव में एक बात की कमी थी। वह शान्ति के समय राज्य की व्यवस्था और शासन तो बहुत अच्छी तरह कर सकता था, पर उसे युद्ध-क्षेत्रों का कोई विशेष अनुभव नहीं था। इसके अतिरिक्त एक और दोष उसमें यह भी था कि वह जल्दी किसी की सलाह नहीं मानता था और प्रायः मनमानी करता था। उसे अपने तोपखाने का भी बहुत गर्व था और इसी लिए उसने पुराने और अनुभवी मराठे सैनिकों का कहना नहीं माना और अफगानों के मुकाबले में जम कर बैठ गया। यदि वह मराठों की पुरानी युद्ध-प्रणाली के अनुसार इधर-उधर से अफगानों पर छापे मारता और चारों तरफ से उन्हें घेर कर खूब तंग करता, तो बहुत सम्भव था कि इस प्रकार के युद्ध में अफगान उसके सामने न ठहर सकते और मैदान छोड़ कर भाग जाते। अहमद शाह ने नवम्बर सन् १७६० में ही मराठों के रसद आदि आने का मार्ग बन्द कर दिया था जिससे सदाशिवराव के सैनिक भूखों मरने लगे और इसी लिए लाचार होकर जनवरी सन् १७६१ के आरम्भ में ही इन्हें खाइयों से बाहर निकल कर अफगानों पर आक्रमण करना पड़ा। पहले तो मराठा पक्ष ने अच्छी वीरता दिखलाई, पर शीघ्र ही बहुत से अफगानों ने मिल कर उनके दाहिने पार्श्व और मध्य भाग पर आक्रमण किया जिससे उनकी बहुत जबरदस्त जीत हुई। सदाशिवराव और पेशवा का लड़का विश्वासराव दोनों ही इस युद्ध में मारे गये और मल्हारराव होलकर तथा महादजी सिन्धिया ने किसी प्रकार भाग कर अपनी जान बचाई। अनेक मराठे सरदारों के अतिरिक्त उनके पक्ष के असंख्य सैनिक भी मारे गये। इस युद्ध में मराठों की जो क्षति हुई थी, उसकी सूचना पेशवा को इस प्रकार अलंकृत भाषा में दी गई थी—"दो मोती नष्ट हो गये, सोने की सत्ताइस मोहरें नष्ट हो गईं और चाँदी तथा ताँबे के जो सिक्के गये, उनकी तो कोई गिनती ही नहीं है।" यह सूचनापत्र बालाजी को उस समय मिला था, जब वह अपने साथ बहुत सी सेना लेकर सदाशिवराव की सहायता के विचार से चला आ रहा था। पर उस समय तक युद्ध समाप्त हो चुका था,

इसलिए बालाजी बहुत निराश और दुःखी होकर पूने लौट गया जहाँ कुछ ही महीनों बाद उसकी मृत्यु हो गई।

यहाँ यह बतला देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि कुछ इतिहास-लेखकों का मत है कि युद्ध में मराठों की हार इसलिए हुई थी कि दक्षिण से सहायता लेकर आने में पेशवा ने बहुत देर कर दी थी; नहीं तो सदाशिवराव का कोई दोष नहीं था। जो हो, विश्वासराव के मरते ही होलकर और गायकवाड़ ने समझ लिया कि अब हम किसी प्रकार जीत नहीं सकते; और इसी लिए वे लोग चुपचाप अपनी बची खुची सेना लेकर लौट गये। सदाशिवराव के हजारों सैनिक बहुत बुरी तरह से इधर-उधर भागे थे और अफगानों ने उनका पीछा करके उनमें से कई हजार सैनिकों को तलवार के घाट उतारा था। अफगानों ने बहुत से सरदारों को गिरिफ्तार भी किया था जिनमें जनकोजी सिन्धिया और तोपखाने का अफसर इब्राहीम गरदी भी था, और अन्त में ये लोग भी नृशंसता-पूर्वक मार डाले गये थे। कहते हैं कि मराठों के कुल सैनिकों में से केवल एक चौथाई जीते बचे थे।

युद्ध का परिणाम—मराठों के लिए इस युद्ध का परिणाम बहुत ही बुरा हुआ। इतने दिनों में उत्तर भारत के जिन प्रदेशों पर उन्होंने अधिकार किया था, वे सब उनके हाथ से निकल गये। युद्ध के कुछ ही महीनों बाद बालाजी की मृत्यु हो गई थी और उसके मरते ही दक्षिण में मराठे सरदार आपस में लड़ने झगड़ने लगे। मराठे अपना पूर्व वैभव किसी प्रकार प्राप्त न कर सके। कुछ दिनों बाद कुछ मराठे सरदारों ने युरोपियन अफसरों और शिक्षित सैनिकों की सहायता से स्वतन्त्र रूप से कुछ स्थान अपने अधीन कर लिये थे। मुसलमानों को भी इस विजय से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ था। इस विजय के उपरान्त अहमद शाह अब्दाली लौटकर अपने देश को चला गया और फिर कभी भारत में नहीं आया। मुगलों और मराठों की शक्तियाँ नष्ट हो गईं और अँगरेजों को अपना राज्य स्थापित करने के लिए साफ मैदान मिल गया।

यहाँ संक्षेप में यह बतला देना भी अनुपयुक्त न होगा कि भारत में मुगल साम्राज्य का विनाश किन कारणों से हुआ था। सब से पहली बात तो यह थी कि मुगलों के शासन ने कभी भारत में अच्छी तरह जड़ ही नहीं पकड़ी थी। अकबर से औरंगजेब तक प्रायः सभी मुगल बादशाह स्वयं भी बहुत योग्य थे और उनके पास यथेष्ट सैनिक शक्ति भी थी; इसी लिए उनके समय में मुगल साम्राज्य का विस्तार बराबर बढ़ता ही गया। पर औरंगजेब में अनेक गुणों के साथ कुछ दुर्गुण भी थे। वह धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में जरूरत से बहुत

ज्यादा कट्टर था। साथ ही वह कभी किसी का विश्वास नहीं करता था और न किसी को स्वतन्त्रतापूर्वक कोई काम करने देता था। उसकी सन्तान न तो योग्य ही हुई और न अनुभवी ही। उसने शासन भी प्रायः पचास वर्षों तक किया था। इस बीच में पुराने योग्य और अनुभवी सरदार आदि तो निकल गये और उनका स्थान लेनेवाले वैसे नये सरदार पैदा न हो सके। फिर औरंग-जेब के धार्मिक कट्टरपन के कारण भारत की अधिकांश प्रजा मुगलों के शासन की शत्रु हो गई थी। मराठे और सिक्ख केवल औरंगजेब के अत्याचारों का प्रतिकार करने के लिए ही प्रबल हुए थे। फिर औरंगजेब ने अपने राज्य का विस्तार तो बहुत बढ़ा लिया था, पर कुछ तो अपनी अदूरदर्शिता के कारण और कुछ बुढ़ापे के कारण वह उसकी ठीक ठीक व्यवस्था न कर सकता था। उन दिनों आवागमन तथा समाचार आदि भेजने के वैसे अच्छे साधन भी नहीं थे, जैसे आजकल हैं। जब तक किसी बात का प्रबन्ध करने के लिए आदमी भेजे जाते थे, तब तक वहाँ सारा काम इतना बिगड़ जाता था कि किसी तरह बनाये बन ही न सकता था। और एक अन्तिम बड़ा कारण यह भी था कि औरंगजेब के अयोग्य उत्तरा-धिकारियों के समय में उनके मुसलमान सेनापति, अमीर और सरदार आदि बहुत स्वार्थी हो गये थे और जिसे जहाँ अवसर मिलता था, वह वहीं अपना अधिकार जमाकर बैठ जाता था। इसी प्रकार और भी अनेक कारण बतलाये जा सकते हैं और अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार ढूँढकर निकाले भी जा सकते हैं। पर यहाँ उन सब कारणों का विशेष रूप से विवेचन करने का कोई फल नहीं है, इसलिए यह प्रकरण यहीं समाप्त किया जाता है।

परिशिष्ट (क)

मध्यकालीन भारत के महान् पुरुष

ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती

चिश्ती खानदान हिन्दुस्तान में बहुत ही पुराना है। इस खानदान वाले अपने आपको इसहाक के वंशज मानते हैं। मुइनुद्दीन सीस्तान (फारस) के रहने-वाले थे। इनको जब इस्लाम धर्म के फैलाने के लिये एक स्वप्न हुआ तो ये हिन्दुस्तान में उस मत के प्रचार के लिये चले आये। इनका जन्म सन् ११४२ ई० में हुआ था। इन्होंने हिन्दुस्तान में अजमेर को अपना निवासस्थान बनाया। वहाँ से उन्होंने अपना धर्म फैलाना शुरू किया। थोड़े ही दिनों के बाद ये चिश्ती सम्प्रदाय के सबसे बड़े सन्त माने जाने लगे। इन्होंने अपना काम मुहम्मद गोरी के समय ही से शुरू कर दिया था। इन्होंने सन् ११९५ में अजमेर में खूब जोरों से काम किया और थोड़े ही दिनों में अपने धर्म का काफी प्रचार कर लिया था। इनकी मृत्यु सन् १२३६ में हुई। इनके बाद लोगों ने इनका एक मकबरा अजमेर में बनवा दिया था। तभी से उनके मकबरे पर उर्स का मेला लगना शुरू हो गया था। अकबर भी कई बार उनके मकबरे पर दर्शनार्थ गया था। अब भी हजारों आदमी दूर दूर से जियारत करने के लिये इनके मकबरे पर जाते हैं।

बाबा फरीउद्दिन

ये चिश्ती संप्रदाय के प्रसिद्ध सन्तों में से एक सन्त थे। ये मुइनुद्दिन के परम भक्त थे और अपने आपको उन्हीं के शिष्य मानते थे। इन्होंने इस्लाम धर्म का खूब जोरों से प्रचार किया। इनका बचपन का नाम शेख फरीउद्दीन शकरगंज था, लेकिन ये बाबा फरीउद्दीन के नाम से प्रसिद्ध थे। इनका जन्म सन् ११७३ में और देहान्त सन् १२६५ ई० में हुआ था। इनकी मृत्यु के बाद इनका मकबरा पाक पट्टन (पंजाब) में बनवाया गया जहाँ पर सालाना उर्स होता है। बड़ी दूर दूर से लोग यहाँ पर यात्रा करने आते हैं। इनके खास गुरू कुतुबुद्दिन बख्तियार काफी थे। ये अफगानिस्तान और मध्य एशिया में बहुत ही प्रसिद्ध थे, इसलिये लोग इन देशों से भी इनके मकबरे पर जियारत करने के लिये आते हैं।

निजामुद्दिन औलिया

ये बाबा फरीउद्दिन के शिष्य थे। इनका असली नाम मुहम्मद बिन अहमद बिन दानियाल था; लेकिन ये निजामुद्दीन औलिया के नाम से प्रसिद्ध थे। ये बदायूँ (यू० पी०) के रहनेवाले थे और वहीं पर इनका जन्म सन् १२३६ में हुआ था। थोड़े ही दिनों में ये बाबा फरीउद्दिन के खास शिष्य हो गये थे, यहाँ तक कि २० साल की उम्र में ही बाबा फरीउद्दीन के उत्तराधिकारी बन गये थे। ये बहुत ही प्रसिद्ध सन्तों में से थे। कवि अमीर खुसरो और इतिहास-कार जियाउद्दीन बरनी इन्हीं के शिष्य थे। इनका देहान्त सन् १३२५ में हुआ था। लोगों ने बहुत जल्दी उनका मकबरा बनवा दिया था। यहाँ पर भी लोग दूर दूर से यात्रा करने आने लगे थे।

शेख सलीम चिश्ती

ये सन्त चिश्ती संप्रदाय में सब से नामी हुए थे। ये चिश्ती संप्रदाय में बचपन ही से सम्मिलित हो गये थे। थोड़े ही दिनों में इनका मुगल राजाओं में बहुत ही प्रभुत्व जम गया था। अकबर तो इनका परम भक्त था। जहाँगीर ने इन्हीं के मकान में जन्म लिया था। इन्हींके वक्त में चिश्ती संप्रदाय ने खूब जोर पकड़ा। इन्होंने इस्लाम मत के प्रचार के लिये बहुत ही कोशिश की और सबसे ज्यादा कामयाब हुए थे। इनका देहान्त सन् १५७२ ई० में हुआ था। अकबर ने, जो कि इनका बहुत ही ज्यादा भक्त था, फतहपुर सीकरी में इनका बहुत बढ़िया मकबरा बनवाया था। फतहपुर सीकरी में अब भी बहुत से लोग यात्रा करने जाते हैं और उनकी मन्नत मानते हैं।

सैयद जलालुद्दीन

यह बुखारा के निवासी थे। ये हिन्दुस्तान में १२ वीं शताब्दी में आये थे। इनका जन्म सं० ११९० में हुआ था। इन्होंने बहुत से लोगों को इस्लाम मत में मिलाया। ये मुसलमान बनाने में सबसे ज्यादा कामयाब हुए। इसलिये इनके खानदान का श्रेय इस्लाम मत के फैलाने में सबसे ज्यादा माना जाता है। इन्होंने हिन्दुस्तान में चच (सिंध) को अपना निवासस्थान बनाया। सैयद सदरउद्दीन और हसन कुतबुद्दीन इन्हीं के शिष्य थे। इन्होंने जलाली अथवा ख़ाकी संप्रदाय की स्थापना की। ये बहाउल हक़ के शिष्य थे। यह संप्रदाय बहुत ही सुव्यवस्थित था।

गेसू दराज़

इनका नाम जमालुद्दीन हुसेनी था, लेकिन ये गेसू दराज़ के नाम से प्रसिद्ध थे। ये सन् १३२१ में पैदा हुए थे। ये बहुत ही सुयोग्य सन्त थे। फीरोज़ का भाई अहमद अधिकतर इन्हीं के साथ रहता था। उसको ज्यादातर इन्हीं की सोहबत पसंद थी। इसी से फीरोज़ इनसे तंग आ गया था। इन्होंने अहमद की गद्दी-नशीनी के लिये बहुत कोशिश की और उसे भरसक मदद की। फीरोज़ इसलिये दोनों से नाराज़ हो गया था। इस कारण उनको गुलबर्गा में चले जाना पड़ा। तबसे इन्होंने पूना और बेलगाँव में खूब धर्म्म-प्रचार किया। इनकी मृत्यु भी गुलबर्गा में ही हुई थी।

कबीर

कबीर के जन्म के बारे में बहुत सी कथाएँ प्रचलित हैं। अभी तक उनकी जन्म-तिथि अनिश्चित है। कहते हैं कि सन् १३९८ में इनका जन्म बनारस में हुआ था। लेकिन यह भी लोक-कथा है कि यह मगह में पैदा हुए थे। बहुत से लोग कहते हैं कि यह एक ब्राह्मण विधवा से पैदा हुए थे जिसने इनको लहरतारा तालाब में फेंक दिया था। लेकिन एक जुलाहे नीरू और उसकी स्त्री नीमा ने उनको निकाला और पालन-पोषण किया। ये बचपन ही से हिन्दू धर्म के परम भक्त थे। और खास कर भक्ति मार्ग पर इनका सबसे ज्यादा भरोसा था जिसका कि बाद में इन्होंने खूब प्रचार किया। ये मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं रखते थे और इसलिये मूर्ति-पूजा का इन्होंने खण्डन किया। ये अपने आपको रामानन्द के शिष्य मानते थे। ये बाहरी विधि विधान को नहीं मानते थे। इन्होंने विवाह भी किया था। इनकी स्त्री का नाम लोही और लड़के का नाम कमाल था। इन्होंने हिन्दू मुस्लिम सभी को अपने मत में शामिल किया। ये खास कर प्रार्थना और स्तुति पर बहुत ज़ोर देते थे। थोड़े ही समय में इनके बहुत से अनुगामी हो गये और आखिर बहुत कुछ प्रचार के बाद इनका मोगेर (जिला गोरखपुर) में सन् १५१८ में स्वर्गवास हो गया।

तुलसीदास

ये सं० १५५४ में पैदा हुए थे। ये संयुक्त प्रांत में बाँदा जिले में राजापुर के निवासी थे। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके माता पिता ने इनको बाल्यावस्था में छोड़ दिया था, इसलिये इधर उधर घूमने फिरने और उसी समय गुरु द्वारा

रामचरित्र सुनने लगे। इनको बाल्यावस्था में वैष्णव धर्म की शिक्षा मिली, इस कारण वैष्णव मत के अनुयायी बन गये। स्त्री-प्रेम के लिये तुलसीदासजी बहुत प्रसिद्ध हैं। लेकिन बाद में स्त्री से विरक्त होकर ये साधु बन गए और घर छोड़कर देश के अनेक भूभागों और तीर्थों में घूमते रहे। बीच बीच में ये बड़े बड़े महात्माओं से मिले। अंत में ये काशी आकर रहे और अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ "राम चरित मानस" लिखा। तुलसीदास जी कोई धर्म-प्रवर्तक नहीं थे। वह राम के परम भक्त थे, लेकिन दूसरे मतों को भी उसी भक्ति की निगाह से देखते थे। तुलसीदास जी इसी कारण हिन्दू संसार में सबसे बड़े भारी कवि और महापुरुष माने जाते हैं। इनका देहान्त सं० १६८० में हुआ।

वल्लभाचार्य

ये वल्लभ मत के संस्थापक थे। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मण था। उनका जन्मकाल सन् १४७९ बतलाया जाता है। विद्याध्ययन और शास्त्रान्वेषण के उपरांत वे मथुरा, वृंदावन आदि कृष्णतीर्थों में घूमे और अंत में काशी में आकर उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं। उनकी उपासना कृष्ण की उपासना है और वह भी माधुर्य भाव की। सिद्धांत में शुद्धाद्वैतवादी हैं। इनके मत से ब्रह्म और जीव एक है और जड़ जगत भी उससे भिन्न नहीं है। वल्लभाचार्य ने व्रत, उपवास आदि कष्ट-साध्य कर्म्मों का निषेध किया और पवित्र प्रेम भाव से उपासना करने की विधि बतलाई। वल्लभाचार्य के अनुयायी गुजरात और राजपूताने में बहुत ज्यादा हैं। वल्लभाचार्य की उपासना पद्धति के परिणाम स्वरूप विलास की ओर अधिक प्रवृत्ति हुई जिसको मुगल सम्राटों की तत्कालीन सुख-समृद्धि ने सहायता देकर दूना चौगुना कर दिया। वल्लभ सम्प्रदाय के लोग श्रीकृष्ण की उपासना करते हैं। वल्लभाचार्य अपने धर्म का खूब विस्तार करके स्वर्गलोक को पधार गये। वल्लभाचार्य के संप्रदाय का तत्कालीन उत्तर भारत पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा, और कृष्ण-भक्ति के अन्य छोटे बड़े संप्रदाय इसके वेग में विलीन हो गए। तात्पर्य यह है कि वल्लभ संप्रदाय का खूब विस्तार हुआ।

नानकदेव

प्रसिद्ध सिक्ख संप्रदाय के संस्थापक तथा प्रथम गुरु नानक जी जाति के खत्री थे। इनके पिता कालूसिंह लाहौर के निवासी थे। इनका जन्म सन् १४६९ में हुआ था। इन्होंने प्रारंभ में वैवाहिक जीवन व्यतीत किया

था और इन्हें श्रीचंद और लक्ष्मीसिंह नाम के दो पुत्र भी हुए थे। गुरु नानक ने घर-बार छोड़कर जब संन्यास ग्रहण किया, तब कहा जाता है कि उनकी भेंट महात्मा कबीर से हुई थी। कबीर के उपदेशों का उनपर विशेष प्रभाव पड़ा था। उनके ग्रंथ साहब में कबीर की वाणी भी संगृहीत है। नानक जी पंजाब के निवासी थे और पंजाब मुसलमानों का प्रधान केंद्र था। इस्लाम धर्म और हिन्दू धर्म के संघर्ष के कारण पंजाब में जो अशांति फैलने की आशंका थी, नानक जी ने उसे दूर करने का सफल प्रयास किया। उनकी वाणी में हिंदू और मुसलमान विचारों का मेल प्रशंसनीय रीति से हुआ है। इनकी मृत्यु सन् १५६६ ई० में हुआ।

सूरदास

वल्लभाचार्य के शिष्यों में सर्व-प्रधान, सूरसागर के रचयिता, हिंदी के अमर कवि सूरदास का जन्म सन् १४८३ में हुआ था। आगरा से मथुरा जानेवाली सड़क के किनारे रूकनता नामक गाँव में इनकी जन्म-भूमि थी। ये जन्म के अंधे थे। जब महात्मा वल्लभाचार्य से इनकी भेंट हुई थी, तब तक ये वैरागी के वेष में रहा करते थे। तब से ये उनके शिष्य हो गए और भक्ति मार्ग के सच्चे अनुयायी हो गये। सूरदास कृष्ण के बहुत बड़े भक्त थे। सारा सूरसागर कृष्ण के वर्णन ही से भरा हुआ है। इन्होंने भी वैष्णव मत के फैलाने में बहुत कोशिश की और बहुत से अंशों में उन्हें कामयाबी हुई।

रामानंद

रामानंद सन् १२९९ अथवा १३०० में प्रयाग में पैदा हुए थे। रामानंद ने काशी में शिक्षा ग्रहण की और राघवानंद के शिष्य हो गये। राघवानंद की मृत्यु के बाद रामानंद ने राम भक्ति मार्ग संस्थापन कर उत्तर भारत में एक नवीन भक्ति मार्ग का अभ्युदय किया। महात्मा रामानन्द ने राधाकृष्ण के स्थान पर राम और सीता को इष्टदेव मानकर उनकी पूजा करना शुरू किया और अन्त में उन्होंने रामानंदी संप्रदाय की स्थापना की। रामानंद के संबंध में सब से महत्वपूर्ण बात यही कही जाती है कि उनके आंदोलन में बड़ी उदारता थी और वे ईश्वरोपासना में जाति-भेद नहीं स्वीकृत करते थे। उनके शिष्यों में शूद्र वर्ण के तो कई व्यक्ति थे ही, पर मुसलमान कबीरदास भी थे। इनके सिवा नाई, धोबी, चमार, जाट आदि भी इनके शिष्य होते थे। इन्होंने रामानंदी संप्रदाय का बहुत ही प्रभुत्व जमाया।

रामानुजाचार्य

ये वैष्णव मत के एक प्रसिद्ध आचार्य और श्री वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे। कहते हैं कि इनका जन्म संवत् १०७३ में हुआ था। बाल्यावस्था में ये कांचीपुर (काजीवरम्) में रहते थे। पहले ये वैष्णव मुनि के अनुयायी हुए और फिर उनकी गद्दी भी इन्हीं को मिली और ये श्रीरंगम् में रहने लगे। पर वहाँ के राजा शंकराचार्य के अद्वैत मत के अनुयायी थे, अतः उनके साथ इनकी कुछ अनबन हो गई और ये मैसूर चले गये। वहाँ के जैन राजा विष्णु-वर्धन को इन्होंने वैष्णव बना लिया था। उसी राज्य में संवत् ११९४ में १२१ वर्ष की अवस्था में इनका देहान्त हुआ था। इन्होंने वेदान्तसार, वेदान्तदीप और वेदार्थसंग्रह नामक तीन ग्रन्थ बनाये थे और ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता पर भाष्य किये थे। इनके दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार उपनिषद् हैं। वेदान्त में इनका सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है।

परिशिष्ट (ख)

वंशावलियाँ

२—प्रतिहार वंश

रोहिल्लाधि
नागभट्ट प्रथम
अज्ञात
काकुत्स्थ
देवराज
वत्सराज
नागभट्ट द्वितीय
रामभद्र
भोज प्रथम
युवराज नागभट्ट
महेन्द्रपाल प्रथम
महिपाल प्रथम
भोज द्वितीय
विनायकपाल
महेन्द्रपाल द्वितीय
देवपाल
महिपाल द्वितीय
विजयपाल
राज्यपाल
त्रिलोचनपाल
यशपाल
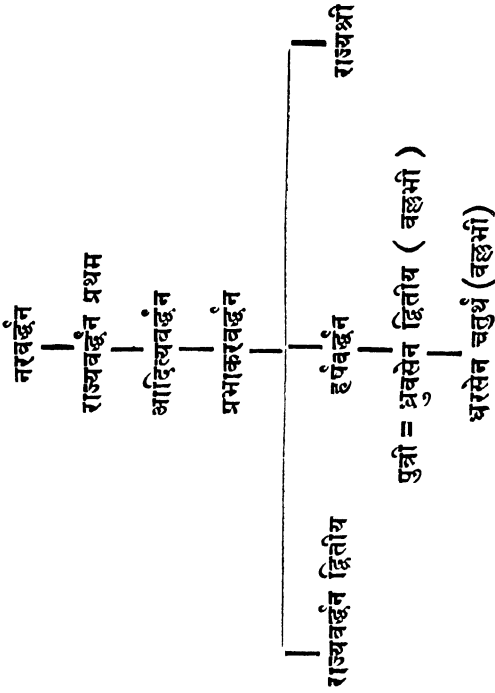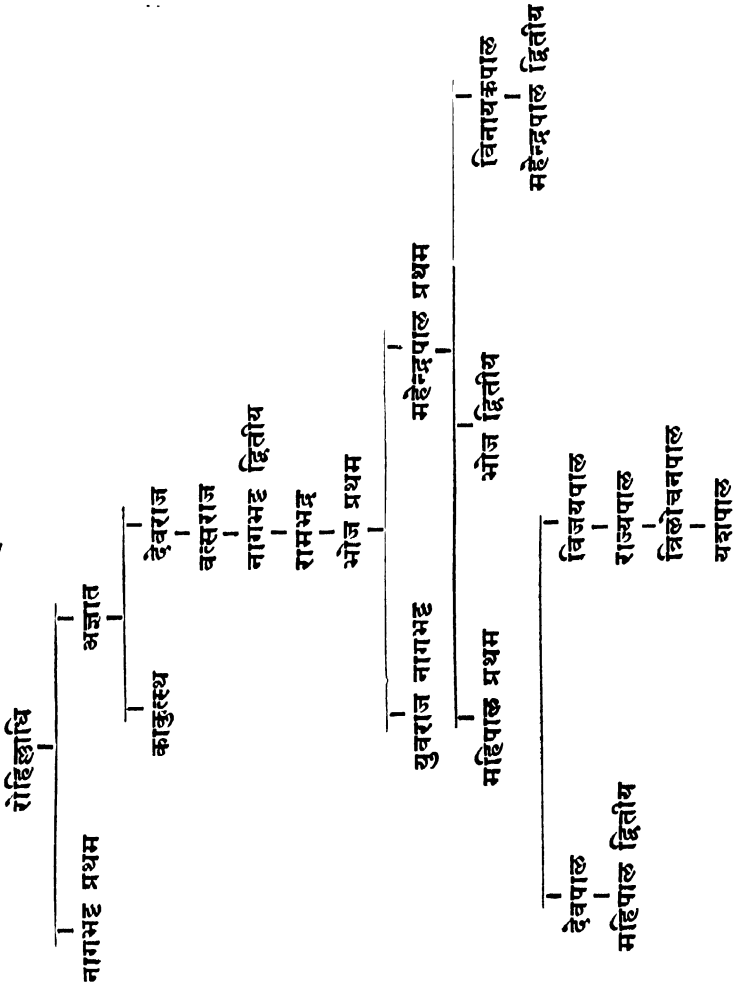
४—बंगाल का पाल वंश

गोपाल प्रथम
धर्मपाल
वाक्पाल
त्रिभुवनपाल
देवपाल
राज्यपाल
जयपाल
विग्रहपाल प्रथम
नारायणपाल
राज्यपाल
गोपाल द्वितीय
विग्रहपाल द्वितीय
महिपाल प्रथम
न्यायपाल
विग्रहपाल तृतीय
महिपाल द्वितीय
सुरपाल द्वितीय
रामपाल
राज्यपाल
कुमारपाल
मदनपाल
गोपाल तृतीय

४—बंगाल का सेन वंश

वीरसेन
|
सामन्तसेन
|
हेमन्तसेन
|
विजयसेन
|
वल्लालसेन
|
लक्ष्मणसेन
|
विश्वरूपसेन — केशवसेन

५—कन्नौज का गहरवार वंश

यशविग्रह
|
महीचन्द्र
|
चन्द्रदेव (कन्नौज और बनारस)
|
मदनपाल
|
गोविन्दचन्द्र
|
विजयचन्द्र
|
जयचन्द्र
|
हरिश्चन्द्र — संयुक्ता
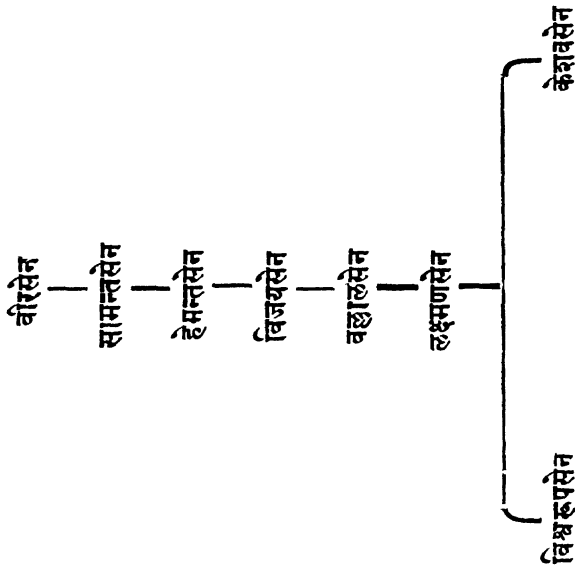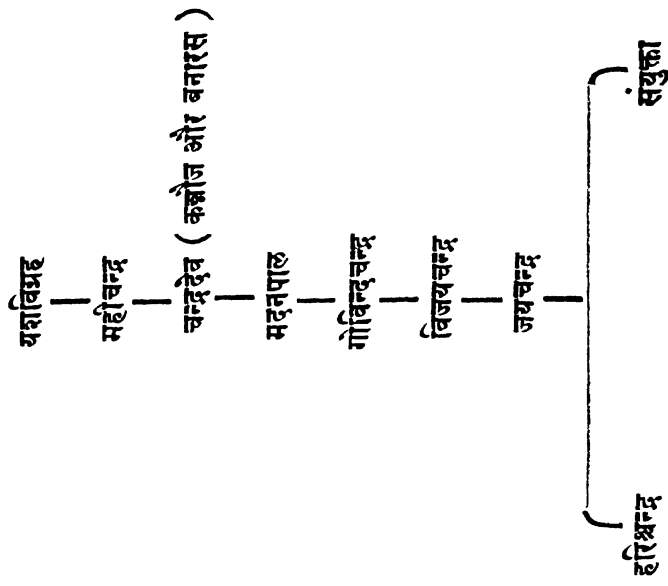
दक्षिण के राज-वंश

६—वातापी का चालुक्य वंश, सन् ५५०–७५३ ई०

(१) पुलकेशिन् प्रथम ५५०
(२) कीर्तिवर्मन प्रथम ५६६–७
(३) मंगलेश ५७७–८
(४) पुलकेशिन् द्वितीय ६०८
अराजकता ६२४–५५
(५) विक्रमादित्य प्रथम ६५५
(६) विनयादित्य ६८०
(७) विजयादित्य ६९६
(८) विक्रमादित्य द्वितीय ७३३
(९) कीर्तिवर्मन द्वितीय ७४६

७—कल्याणी का चालुक्य वंश, सन् ९७३–११९० ई०

(१) तैलप द्वितीय ९७३
(२) सत्याश्रय ९९७
(३) विक्रमादित्य पंचम १००९
(४) जयसिंह प्रथम १०१६
(५) सोमेश्वर प्रथम १०४२
(६) सोमेश्वर द्वितीय १०७५
(७) विक्रमादित्य षष्ठ १०७५–७६
(८) सोमेश्वर तृतीय ११२५
(९) परम-जगदेकमेल्ला ११३८
(१०) तैलप तृतीय ११४९
(११) सोमेश्वर चतुर्थ ११६२

८—मान्यखेट का राष्ट्रकूट वंश

सन् ७५३—९७३ ई०

(१) दान्ती दुर्ग ७५३
(२) कृष्ण प्रथम ७६०
(३) गोविन्द प्रथम ७७५
(४) ध्रुव ७८०
(५) गोविन्द द्वितीय ७९३
(६) अमोघ वर्ष प्रथम ८१५
(७) कृष्ण द्वितीय ८८०
(८) इन्द्र तृतीय ९१२
(९) अमोघवर्ष द्वितीय... ... ... ९१६
(१०) गोविन्द चतुर्थ ९१७
(११) अमोघवर्ष तृतीय... ... ... ९३५
(१२) कृष्ण तृतीय ९४०
(१३) खोठिग ९६५
(१४) कक्का द्वितीय ९७२

६—ग़ज़नी और लाहौर का ग़ज़नवी (यमीनी) वंश

- (१) सुबुक्तगीन
  - (३) महमूद
    - (४) मुहम्मद
    - (५) मसऊद प्रथम
      - (६) मौदूद
        - (७) मसऊद द्वितीय
      - (८) अली
      - (१०) फ़र्रुख़ज़ाद
      - (११) इब्राहीम
        - (१२) मसऊद तृतीय
          - (१३) शीर्ज़ाद
          - (१४) अरसलान
          - (१५) बहराम शाह
            - (१६) खसरू शाह
              - (१७) ख़ुसरू मलिक
    - (९) अब्दुर्रशीद
  - (२) इस्माईल

१०—दिल्ली का दास (गुलाम) वंश

११—ख़िलजी वंश

तुलक ख़ाँ क़न्दुज़ी
नासिरुद्दीन
(मालवा)
शहाबुद्दीन
(१) जलालुद्दीन फ़ीरोज़
यग़रुश ख़ाँ
असदुद्दीन
(३) अलाउद्दीन मुहम्मद
अलमास बेग
उलुग़ ख़ाँ
महमूद
रुकनुद्दीन इब्राहीम
क़द्र ख़ाँ
ख़िज्र ख़ाँ
शादी ख़ाँ
(५) कुतुबुद्दीन मुबारक
(४) शहाबुद्दीन उमर

१२—तुग़लक़ वंश
....
(१) ग़यासुद्दीन तुग़लक़ प्रथम
सिपहसालार रजब
(२) मुहम्मद तुग़लक़
पुत्री = खुसरू मलिक
(३) फ़ीरोज़
कुतुबुद्दीन
इब्राहीम
महमूद
दावर मलिक
फ़तेह ख़ाँ
ज़फ़र ख़ाँ
(६) मुहम्मद
(४) तुग़लक द्वितीय
नुसरत शाह
(५) आब्र बक्र
(७) अलाउद्दीन सिकन्दर
नसीरुद्दीन महमूद
१३—सैयद वंश
मलिक सुलेमान
(१) ख़िज्र ख़ाँ
(२) मुइज्जुद्दीन मुबारक
फ़रीद
(३) मुहम्मद
(४) अलाउद्दीन आलम शाह

१४—लोदी वंश

मलिक बहराम लोदी
सुलतान शाह
काला
फ़ीरोज
मुहम्मद
मलिक ख्वाजा
कुतुब ख़ाँ
पुत्री = (१) बहलोल
शाहीन ख़ाँ
ख़्वाजा बायज़ीद
बारबक शाह (जौनपूर)
(२) निज़ाम ख़ाँ सिकन्दर शाह
मुबारक
आलम
याकूब
फ़तेह ख़ाँ
मूसा
जलाल ख़ाँ
[३] इब्राहीम
इस्माइल
हुसेन
महमूद
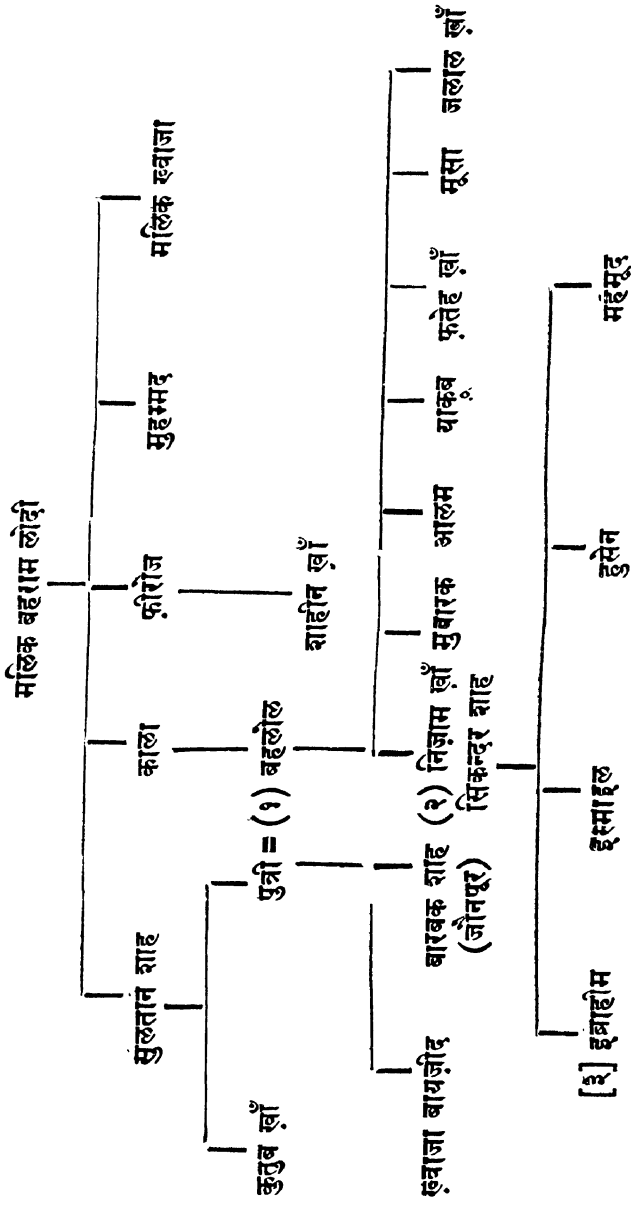
प्रान्तीय राज-वंश

१५—जौनपुर के शरक़ी राजे

मलिक सरवर, ख़्वाजा जहाँ	१३२४ ई०
मुबारक शाह	१३९९
शमसुद्दीन इब्राहीम शाह	१४०२
महमूद शाह	१४३६
मुहम्मद शाह	१५५८
हुसेन शाह	१४५८

(१) ख़्वाजा जहाँ
- (२) मुबारक शाह
- (३) शमसुद्दीन इब्राहीम शाह
  - (४) महमूद शाह
    - (५) मुहम्मद शाह
    - हुसेन शाह
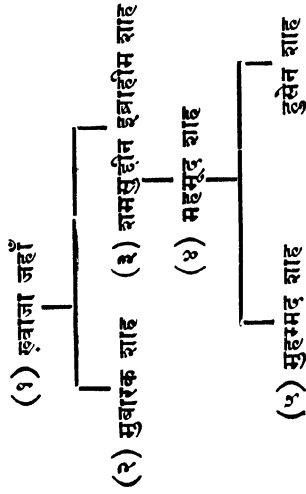
१६—गुजरात के राजे

मुज़फ्फ़र, प्रथम	१३९६ ई०
अहमद, प्रथम	१४११
मुहम्मद, प्रथम	१४४२
कुतुबुद्दीन	१४५१
दाऊद	१४५८
महमूद, प्रथम	१४५८
मुज़फ्फ़र, द्वितीय	१५११
सिकन्दर	१५२६
महमूद, द्वितीय	१५२६
बहादुर	१५२६
मुहम्मद, द्वितीय	१५३७
महमूद, तृतीय	२५३७
अहमद, द्वितीय	१५४५
मुज़फ्फ़र, द्वितीय	१५६२-७२

१७—मालवा के राजे

(१) ग़ोरी वंश

दिलावर ख़ाँ ग़ोरी	१३९२ ई०
होशङ्ग शाह	१४०५
मुहम्मद शाह	१४३५
मसऊद	१४३६

(२) ख़िलजी वंश

महमूद, प्रथम	१४३६
ग़यासुद्दीन	१४६९
नासिरुद्दीन	१५००
महमूद, द्वितीय	१५१०—३१

(गुजरात के राजे)

१८—फ़ारूक़ी ख़ान और ख़ानदेश के राजे

रजा अहमद, मलिक राजा ...	१३८२ ई०
नासिर ख़ाँ	१३९९
आदिल ख़ाँ, प्रथम	१४३७
मुबारक ख़ाँ चन्कन्दा... ...	१४४१
आदिल ख़ाँ, द्वितीय "आएना" ...	१४५७
दाऊद ख़ाँ	१५०१
ग़ज़नी ख़ाँ	१५०८
हसन ख़ाँ	१५०८
आलम ख़ाँ (अनधिकार) ...	१५०८
आदिल ख़ाँ, तृतीय	१५०९
मीराँ मुहम्मद शाह, प्रथम ...	१५२०
अहमद शाह	१५३७
मुबारक शाह, द्वितीय ...	१५३७
मुहम्मद शाह, द्वितीय ...	१५६६
हसन शाह	१५७६-७७
आदिल शाह, चतुर्थ ...	१५७७-७८
बहादुर शाह	१५९७-१६०१

१९—दक्खिन का बहमनी राजवंश

अलाउद्दीन बहमन शाह	१३४७ ई०	अलाउद्दीन अहमद	१४३६ ई०
मुहम्मद, प्रथम	१३५८	हुमायूँ, तालीम	१४५८
मुजाहिद	१३७५	निज़ाम	१४६१
दाऊद	१३७८	मुहम्मद तृतीय, लश्करी ...	१४६३
मुहम्मद, द्वितीय	१३७८	महमूद	१४८२
ग़यासुद्दीन	१३९७	अहमद	१५१८
शमसुद्दीन	१३९७	अलाउद्दीन	१५२१
ताजुद्दीन फ़ीरोज़	१३९७	वलीउल्लाह	१४२२
अहमद वली	१४२२	कलीमुल्लाह	१५२५–२७

(पाँच राज्यों में विभक्त हो गया)

२०—दक्खिन की पाँच रियासतें

१—बीजापूर का आदिल शाही वंश

यूसुफ़ आदिलशाह	...	...	१४९० ई०
इस्माइल आदिलशाह	...	...	१५१०
मल्लू आदिलशाह	...	...	१५३४
इब्राहीम आदिलशाह, प्रथम		...	१५३४
अली आदिलशाह, प्रथम	...	...	१५५८
इब्राहीम आदिलशाह, द्वितीय		...	१५८०
मुहम्मद आदिल शाह	...	...	१६२७
अली आदिलशाह, द्वितीय		...	१६५७
सिकन्दर आदिलशाह	...	...	१६७२–८६

२—अहमदनगर का निज़ामशाही वंश

अहमद निज़ाम शाह	...	...	१४९० ई०
बुरहान निज़ामशाह	...	...	१५०९
हुसेन निज़ामशाह, प्रथम	...	...	१५५३
मुर्तज़ा निज़ामशाह, प्रथम		...	१५६५
हुसेन निज़ामशाह, द्वितीय		...	१५८६
इस्माइल निज़ामशाह	...	...	१५८९
बुरहान निज़ामशाह, द्वितीय		...	१५९१
इब्राहीम निज़ामशाह	...	...	१५९५
बहादुर निज़ामशाह	...	...	१५९६
अहमद (अनधिकार)	...	...	१५९६
मुर्तज़ा निज़ामशाह, द्वितीय		...	१६०३
हुसेन निज़ामशाह, तृतीय		...	१६३०–३३

३—गोलकुण्डे का कुतुबशाही वंश

सुलतान कुली कुतुबशाह	...	...	१५१२ ई०
जमशेद कुतुबशाह	...	...	१५४३
सुभान कुली कुतुबशाह	...	...	१५५०
इब्राहीम कुतुबशाह	...	...	१५५०
मुहम्मद कुली कुतुबशाह	...	...	१५८०
मुहम्मद कुतुबशाह	...	...	१६१२
अब्दुल्ला कुतुबशाह	...	...	१६२६
अबुलहसन कुतुबशाह	...	...	१६७२—८७

४—बरार का इमादशाही वंश

फ़तेहउल्ला इमादशाह	...	...	१४९० ई०
अलाउद्दीन इमादशाह	...	...	१५०४
दरिया इमादशाह	...	...	१५२९
बुरहान इमादशाह	...	...	१५६२-७४

(अहमदनगर में सम्मिलित हुआ)

५—बीदर का बरीदशाही वंश

अमीर क़ासिम बरीद १४८७
अमीर अली बरीद १५०४
अली बरीदशाह, प्रथम १५४२
इब्राहीम बरीदशाह १५७९
क़ासिम बरीदशाह, द्वितीय १५८६
अमीर बरीदशाह १५८९
मिर्ज़ा अली बरीदशाह १६०१
अली बरीदशाह, द्वितीय १६०९–१९

(बीजापूर के संरक्षण में)

२१—सिन्ध के राजे

(क) जाम वंश	...	जाम उमर	...	१३३६ ई०
		जाम जूना	...	१३४०
		जाम बन्हैतिया	...	१३४४
		जाम तीमाजी	...	१३५९
		जाम सलाहउद्दीन	...	१३७१
		जाम अली शेर	...	१३८२
		जाम करन		१३८८
		जाम फ़तेह खाँ	...	१३८९
		जाम तुग़लक़	...	१३९९
		मुबारक (अनधिकार)	...	१४२७
		जाम सिकन्दर	...	१४७२
		जाम सञ्जर	...	१४२८
		जाम निज़ामुद्दीन	...	१४३७
		जाम फ़ीरोज़	...	१४९४
(ख) अर्गून वंश	...	मिर्ज़ा शाहबेग अर्गून	...	१५२१
		मिर्ज़ा हुसेन अर्गून	...	१५२४
(ग) तर्ख़ान वंश	...	मिर्ज़ा मुहम्मद ईसा तर्ख़ान	...	१५५६
		मिर्ज़ा मुहम्मद बगी तर्ख़ान	...	१५६७
		मिर्ज़ा जानी बेग तर्ख़ान	...	१५८५—९१

२२—बंगाल के राजे

पूर्वी बंगाल

फख़रुद्दीन मुबारक शाह १३३८ ई०
इख़्तियारुद्दीन ग़ाज़ी शाह १३४९

पश्चिमी बंगाल

अलाउद्दीन अलीशाह १३४१ ई०
हाजी शमसुद्दीन
इलियास भंगर १३४३
सिकन्दर शाह १३५७
ग़यासुद्दीन आज़म शाह १३९३
सैफुद्दीन हमज़ा १४१०
शहाबुद्दीन बायज़ीद १४१२
भादुरा का गणेश
(कंस नारायण) १४१४
जदू उर्फ़ जलालुद्दीन
मुहम्मद शाह १४१४
शमसुद्दीन अहमद शाह १४३१
नासिरुद्दीन महमूद शाह १४४२
रुक्नुद्दीन बारबक शाह १४६०
शमसुद्दीन यूसुफ़ शाह १४७४
सिकन्दर शाह १४८१
जलालुद्दीन फ़तेह शाह १४८१
बारबक खोजा सुलतान
शाहज़ादा १४८६
मलिक इन्दील, फ़ीरोजशाह १४८६

नासिरुद्दीन महमूद शाह १४८९
सीदीबदर, शमसुद्दीन
मुज़फ़्फ़र शाह १४९०
सजीद अलाउद्दीन हुसेन
शरीफ़ी—मक्की १४९३
नासिरुद्दीन नुसरत शाह १५१८
अलाउद्दीन फ़ीरोज़ शाह १५३३
सुलतान महमूद १५३३
(हुमायूँ—दिल्ली का सम्राट् १५३८)
(शेर शाह सूर १५३९)
ख़िज्र ख़ाँ १५४०
मुहम्मद ख़ाँ सूर १५४५
ख़िज्र ख़ाँ, बहादुर शाह १५५५
ग़यासुद्दीन जलालशाह १५६१
(जलाल शाह का लड़का १५६४)
ताज ख़ाँ करारानी १५६४
सुलेमान करारानी ६५७२
बायज़ीद ख़ाँ करारानी १५७२
दाऊद ख़ाँ करारानी १५७२—७६

२३—दिल्ली का सूर वंश

(१५४०—५५ ई०)

२४—तैमूर का वंश (दिल्ली और आगरे के मुग़ल)

औरङ्ग़ज़ेब आलमगीर
(१६५८–१७०७)
मुहम्मद सुलतान
(७) मुअज़्ज़म शाह आलम, प्रथम
बहादुर शाह, प्रथम
(१७०७–१२)
आज़म
बेदारबख़्त
अकबर
(१०) नेकुस्सियर
(१७१९)
कामबख़्श
मुहिउस्सुन्नत
(१४क) शाहजहाँ, तृतीय
(८) मुइज़ुद्दीन
जहाँदार शाह
(१७१२-१३)
(१४) अजज़ुद्दीन
आलमगीर, द्वितीय
(१७५४-५९)
(१५) अली गौहर
शाह आलम, द्वितीय
(१७५९-१८०६)
(१६) अकबर शाह, द्वितीय
(१८०६–३७)
(१७) बहादुर शाह–द्वितीय
(१८३७-५८)
(मृ० १८६२)
अज़ीमुश्शान
(९) मुहम्मद
फर्रुख़सियर
(१७१२-१९)
रफ़ीउश्शान
(१२क) मुहम्मद
इब्राहीम
(१७२०)
(११) रफ़ीउद्दौला
शाहजहाँ, द्वितीय
(१७१९)
(१०क) रफ़ीउद्दरजात
(१७१९)
खुजिस्ता अख़्तर
जहान शाह
(१२) मुहम्मद शाह
(१७१९-४८)
(१३) अहमद शाह
(१७४८-५४)
(१५क) बेदार बख़्त

मराठों का वंश

२५—छत्रपति भोंसले (सतारा के राजे)
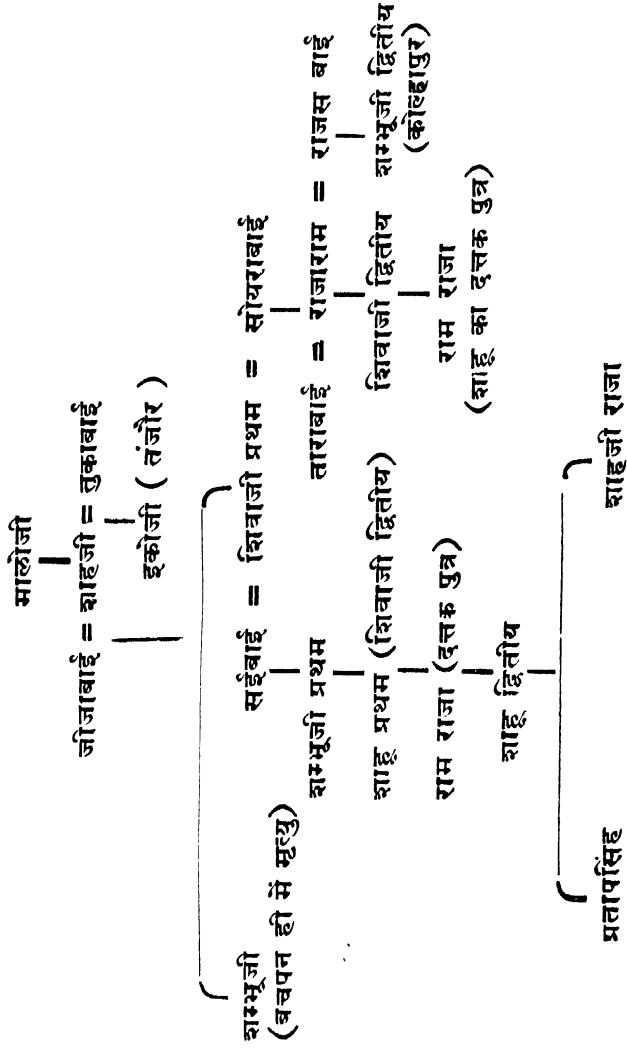
२६—पूना का पेशावा वंश

विश्वनाथ
(१) बालाजी विश्वनाथ
(१७१४—२०)
(२) बाजीराव प्रथम
(१७२०—४०)
चिमनाजी अप्पा
सदाशिवराव भाऊ
(३) बालाजी बाजीराव
(१७४०—६१)
(६) रघुनाथ राव
राघोबा
(१७७३)
विश्वास राव
(४) माधव राव
(१७६१—७२)
(६) नारायण राव
(१७७२)
(७) माधवराव नारायण
(१७७४—९६)
अमृत राव
(दत्तक पुत्र)
विनायक राव
(८) बाजीराव, द्वितीय
(१७९६—१८१८)
नाना साहब (दत्तक पुत्र)
चिमनाजी अप्पा